1960 से 1980 तक के उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श का मूल्यांकन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल०

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

डा० कृपा शंकर पाण्डेय
हिंदी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधार्थिनी

श्रीमती कीर्ति मिश्रा
हिंदी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

: प्राक्कथन :

साहित्य में उपन्यास मानवीय चेतना के रचनात्मक आयाम हुआ करते हैं। लोक चित्त की सहज रागात्मक अभिव्यक्ति अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को इस विधा में इस प्रकार जोड़ती है कि मान और मूल्य युग के सापेक्ष स्त्री और पुरुष की स्वत: व्याख्या करने लगते हैं । यह विधा जीवन की जिस समस्या की व्याख्या करता है, उसके अनुरूप स्वयं को ढाल कर उसके अनुसार ही उसके तत्वों तथा आकार का भी विकास होता है। इस प्रकार उपन्यास में साधारण जीवन के समानान्तर चलने का पूरा प्रयास किया जाता है।

उपन्यास अपनी रंजकता एवं प्रभावात्मकता के कारण पाठकों को अत्यन्त ही सहज ढंग से यथार्थ का बोध कराता है। जीवन की संश्लिष्टताओं एवं जटिलताओं का जितना सफल चित्रण उपन्यास के माध्यम से संभव है, संभवत: अन्य किसी विधा के द्वारा नहीं। उपन्यासकार का मानस पटल सामान्य व्यक्ति की तुलना में अधिक संवेदनशील होता है। वह जीवन की विडम्बनाओं एवं विकृतियों को अधिक तीव्रता के साथ अनुभव करता है और उसे वैसा ही विश्लेषित करने का प्रयास करता है, जिससे प्रस्तुत किया गया जीवन अधिक विश्वसनीय वन सके । उपन्यास में मात्र जीवन के यथार्थ बोध का ही प्रस्तुतीकरण नहीं होता अपितु उसमें जीवन तथा समाज के समक्ष विभिन्न समस्याओं का समाधान और समाधान के अभाव में उनका समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का भी उद्घाटन होता है। साथ ही इसमें कुछ ऐसे नवीन मूल्यों को भी प्रस्तुत किया जाता है जिसका समाज के लिए स्थाई महत्व एवं उपयोगिता हो तथा जो समाज को एक नवीन दृष्टि एवं चेतना प्रदान कर सके।

स्वतन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में मध्यम वर्गीय मानव के संघर्ष, कुण्ठा, निराशा एवं मानसिक द्वन्द्व का सफलतापूर्वक चित्रण हुआ है। जीवन को समग्रता के साथ चित्रित एवं विश्लेषित करने में इन उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इन उपन्यासों में बदलते हुए जीवन के प्रत्येक पक्ष का सुन्दर उद्घाटन हुआ है।

बीसवीं शताब्दी के सातवें एवं आठवें दशक में समाज के स्थान पर व्यक्ति का महत्व बढ़ा है । व्यक्ति ने समाज के परम्परागत मूल्यों, मान्यताओं और सामाजिक बंधनों के प्रति अस्वीकार प्रदर्शित कर सामाजिक रूढ़ियों को नकारा है व्यक्ति की रुचि एवं आकांक्षाओं में जब सामाजिक रूढ़ियाँ, मूल्य एवं मान्यताएं बाधक बनती हैं तो उसके मन में इनके प्रति स्वीकार एवं अस्वीकार का संघर्ष उत्पन्न होता है और परिणामस्वरूप द्वन्द्व, तनाव ऊब, अजनबीपन एवं घुटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस समय की उपन्यासों में इन्हीं परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है।

व्यक्ति के दो रूपों में एक रूप नारी का है नारी का यह रूप कवि, कथाकारों, उपन्यासकारों एवं चिंतकों के लिए विमर्श का विषय रहा है। यद्यपि यह सही है कि पारंपरिक दर्शन पुरुष सोच तक ही केन्द्रित रहा जिसके कारण समाज और साहित्य में स्त्रियों को अपना स्थान निर्धारित करने का अवसर नहीं मिला। मध्य कालीन साहित्य में स्त्रियों की जो स्थिति अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व की पहचान बनाने के निमित्त बनी थी उसकी तुलना वैदिक कालीन नारी जागरण से की जा सकती है। मध्यकाल में साहित्य के राजाश्रित होने का जो परिणाम सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक आया इससे स्त्री की पहचान पर प्रश्न चिन्ह लग गया। इसका कारण जनता का साहित्य के साथ न जुड़ा होना भी माना जा सकता है। इस काल में नारी की पहचान पितृसत्ता के वंशानुगत स्वरूप में ही प्रतिफलित दिखाई पड़ती है। साहित्य में जब भी ऐसी स्थिति आती है मूल्य विघटित स्थिति में एक दूसरे के पर्याय बनते चले जाते हैं।

यह सत्य है कि स्वातन्त्रता के पश्चात साहित्य में ज्ञान विज्ञान के सहारे प्रत्येक मनुष्य को अधिकार एवं अधिकारी के दायित्व से परिचित कराया गया परिणामत: नवजागरण का संदेश मानवीय चेतना के रचनात्मक आयाम के रूप में प्रतिफलित होकर मूल्य की व्याख्या करने लगा। ब्रिटिश सत्ता के द्वारा शिक्षित भारतीयों को आर्थिक सहयोग देकर

तथा विभिन्न संस्थाओं की स्थापना के माध्यम से जिस माप और मूल्य को स्थापित करने का प्रयास किया गया उनमें स्त्री के अधिकार और कर्तव्य बोध को विशेष रूप मे रेखांकित करने का प्रयत्न है। वेदकालीन एवं सनातनीय कर्मकाण्डों में स्त्री के अधिकार एवं कर्तव्य की जो भी व्याख्या प्रस्तुत की गई हो पर उससे नारी जागरण के संदेश का आभास नहीं मिलता। 'कामायनी' में प्रसाद ने स्त्री चिंतन के विमर्श के उपरान्त अधिकार और कर्तव्य बोध के निमित्त 'मनु' और 'श्रद्धा' के माध्यम मे हृदयवाद एवं बुद्धिवाद का जो सांगोपांग चित्र प्रस्तुत किया है वस्तुतः वह लोक जागरण का मांगलिक पक्ष है जिसे आधार मान कर ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में नारी पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिला कर चल रही है। यद्यपि कुछ आलोचक इसके मूल में पश्चिम के नारीवादी विचारधारा का प्रभाव मानते हैं, लेकिन भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष का जो अन्तर्सबन्ध सदियों से चला आ रहा है उससे शिक्षा, आत्मनिर्भरता, और अपने अधिकार एवं कर्तव्य बोध के फलस्वरूप स्त्रियों की मानसिकता को नया रूप मिला है।

यह स्थिति 1960 के बाद भारतीय उपन्यास साहित्य में जिस रूप में उभरती है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वतंत्रता के अभाव में स्त्रियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाया । नारी को एक तरफ तो देवी, शक्ति रूपा, करुणा, दया एव ममता की मूर्ति के रूप में देखा गया और ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता'' जैसा सूत्र दिया गया तो दूसरी तरफ स्त्री को वस्तु एवं भोग्या मान कर उसके अस्तित्व एवं अस्मिता की अवहेलना की गई । समाज में नारी की शोषित एवं दयनीय स्थिति ने मुख्य रूप से नारी वादी विमर्श को जन्म दिया।

आधुनिक साहित्य में स्त्री विमर्श एवं दलित विमर्श लंबी अवधि से चर्चा परिचर्चा का विषय रहा है । मेरे मन में हिन्दी कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में किसी ऐसे विषय पर कार्य करने की प्रबल उत्कंठा थी, जिसमें स्त्री विमर्श की पड़ताल की जा सके। इसी लक्ष्य को सामने रख कर मैने स्त्री विमर्श का विशद एवं विस्तृत विवेचन करने का संकल्प किया

और इस संबंध में गुरुवर डा0 कृपा शंकर पाण्डेय का सानिध्य प्राप्त किया, जिन्होंने इसी संदर्भ को लेकर विषय निर्धारण किया जिसका अभिधान प्रस्तुत शोध प्रबन्ध ''1960 से 1980 तक के उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श का मूल्यांकन - महिला उपन्यास लेखन के विशेष संदर्भ में'' है। इसमें बीसवीं शताब्दी के दो दशकों के उपन्यासों में विश्लेपित स्त्री विमर्श को मुख्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन के गंभीर विवेचन एवं विश्लेषण की आकांक्षावश इस कालावधि के सभी उपन्यासकारों को शोध प्रबन्ध में सम्मिलित नहीं किया जा सका है एवं विशेष रूप से प्रमुख महिला उपन्यासकारों की उपन्यासों को ही स्त्री विमर्श के विश्लेषण एवं मूल्यांकन का केन्द्र विन्दु बनाया गया है। मेरे द्वारा विवेच्यकालावधि के जिन उपन्यासकारों एवं उनकी जिन उपन्यासों को अध्ययन का विषय बनाया गया है, उन में स्त्री विमर्श के स्वरूप, उसकी समृद्धि, सीमा, और उसकी विकास दिशा की अभिव्यक्ति हुई है, तथा उनमें नयी भाषा, नयी अभिव्यंजना, नयी अनुभूति एवं नयी स्त्री दृष्टि को प्रस्तुत किया गया है।

बदलते हुए जीवन संदर्भ में स्त्री की बदलती हुई मानसिकता को लेकर पूर्ववर्ती दशकों की भाँति 60 एवं 70 के दशक में भी पर्याप्त लेखन हुआ है। जहाँ पूर्ववर्ती दशकों के लेखन में स्त्री की भावसत्ता की अवहेलना करके उसके चरित्र को नैतिक परीक्षा के लिए खुला छोड़ दिया गया था, वहीं इन दशकों के उपन्यासों में स्त्री की भावसत्ता एवं सामाजिक वास्तविकता को एक साथ प्रस्तुत किया गया है नारी मन मात्र देहजीवी नहीं है अपितु वह भी सामाजिक क्रिया एवं अनुचिन्तन से प्रभावित एवं निर्मित होता है। उपन्यासों में नारी वादी विमर्श के अन्तर्गत स्त्रीवादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। विवेच्य कालावधि के उपन्यासों में नारीमन और उसके अस्तित्व को परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों से संयुक्त कर के देखा गया है।

1960 के बाद के उपन्यासों में मुख्य रूप से यथार्थ के कटु एवं चुभते विषैले तेवर दृष्टिगोचर होते हैं। इन उपन्यासों में वर्णित नारी पुरानी भावुकता से ऊपर उठ चुकी है और

उसके मन में प्राचीन मान्यताओं, मूल्यों एवं रूढ़ियों के प्रति अस्वीकार उत्पन्न हो चुका है साथ ही उसकी नैतिक मान्यताओं में भी परिवर्तन आया है। सामाजिक वर्जनाओं को उसने तोड़ा है तथा परम्परागत रूढ़ियों का विरोध किया है।

यह स्थिति 1960 के बाद की उपन्यासों में विशेष रूप से उभरी है । बीसवीं शताब्दी के सातवें एवं आठवें दशक में महिला साहित्यकारो ने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि स्त्री दमन के विविध रूपों से उसको कैसे उबारा जाए। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में 1960 से 1980 के मध्य की कुछ प्रमुख महिला उपन्यास लेखिकाओं की दृष्टि को आधार रूप में ग्रहण किया गया है।

मेरा विषय स्त्री से जुड़ा हुआ है अतः नारी जीवन से सम्बद्ध कतिपय आयामों के विश्लेषण के लिए और भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के कतिपय पक्षों को जानने के लिए तथा भारतीय समाज में नारी की स्थिति एवं उसमें आए परिवर्तन की विवेचना हेतु विभिन्न रचनाओं को देखा जाना भी आवश्यक प्रतीत होने लगा । अतः ''मध्यकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति'' (डा0 मदन गोपाल गुप्त), ''द पोजीशन ऑफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन'' (डा0 ए0 एस0 अल्तेकर), ''रिलीजन एण्ड सोसायटी'' (डा0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन), ''द ग्लिम्सेज ऑफ इण्डोलॉजिकल हेरिटेज'' (ड0 आशारानी व्होरा), ''इण्डियन सोशल प्रोब्लेम्स'' (डा0 एम0 एल0 गुप्त), ''विमेन एण्ड सोसाएटी इन इण्डिया'' (डा0 नीरा देसाई), ''इण्डियन वुमेन'' (डा0 हंसाबेन मेहता) ''आन द सब्जेक्शन ऑफ वुमेन'' (जॉन एस मिल), ''औरत होने की सजा'' (श्री अरविन्द जैन), ''दुर्ग द्वारा पर दस्तक'' (काल्यायनी), ''औरत के हक में'' (तस्लीमा नसरीन), ''स्त्रीत्व का मानचित्र'' (अनामिका), ''नारीवादी विमर्श'' (राकेश कुमार), ''औरत अस्तित्व और अस्मिता'' (अरविंद जैन), ''नारी प्रश्न'' (सरला माहेश्वरी), ''स्त्री का समय '' (क्षमा शर्मा), ''परिधि पर स्त्री'' (मृणाल पाण्डेय), ''चुकते नहीं सवाल'' (मृदुला गर्ग), ''जो कहा नहीं

गया'' (कुसुम अंसल), ''नारी अभिव्यक्ति और विवेक'' (श्रीमती पुष्पा वती), ''स्त्री उपेक्षिता'' (प्रभा खेतान), प्रभृति रचनाओं के द्वारा नारी की विभिन्न स्थितियों पर विचार एवं विश्लेषण में सहायता मिली।

प्रस्तुत शोध प्रवन्ध का उद्देश्य समकालीन उपन्यासों में स्त्री विमर्श का विश्लेषण करना है। अतः इस शोध प्रबन्ध में विवेच्य कालावधि के महिला कथाकारों की उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्रीत्व वादी दृष्टिकोण को नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास है। उपन्यासों में स्त्री विमर्श सम्बन्धी विचारों का उद्घाटन निरन्तर हो रहा है एवं स्त्री विमर्श के नवीन आयाम दिन प्रतिदिन खुलते जा रहे हैं। उपन्यासों में स्त्री विमर्श ठहरा नहीं है और न ही पूरा हुआ है अभी इसे बहुत लम्बा सफर तय करना है। इसी परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मुख्य रूप से बीसवीं शताब्दी के सातवें एवं आठवें दशक के उपन्यासों में वर्णित एवं विश्लेषित स्त्री विमर्श को प्रस्तुत करने का प्रयास है। मेरे द्वारा विवेच्य कालावधि के जिन महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों को अध्ययन का विषय बनाया गया है, उनमें स्त्री विमर्श के स्वरूप उसकी समृद्धि एवं उसकी विकास दिशा का सफल प्रस्तुतीकरण हुआ है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से एवं शोध प्रबन्ध के समुचित नियोजन हेतु इस शोध कार्य को निम्नलिखित आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है :-

प्रथम अध्याय ''स्त्री विमर्श की अवधारणा'' का है। इसमें स्त्री विमर्श के प्रादुर्भाव उसके विकास एवं उसके स्वरूप के संदर्भ में विस्तृत विवेचना है। इसमें स्त्री विमर्श के मूल में तर्क एवं चिंतन के कारणों पर भी दृष्टि डालने का प्रयास है। तदुपरांत भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति को लेकर विचार किया गया है। वैदिक काल से लेकर स्वातन्त्र्योत्तर काल तक स्त्रियों की स्थिति और कालान्तर में उसमें आए परिवर्तनों का युक्तियुक्त विश्लेषण भी प्रस्तुत अध्याय में करने का प्रयास हुआ है। इसी अध्याय में स्त्री की शोषित एवं निम्न स्थिति के कारण एवं समाधान तथा मुक्ति की चेतना की भी विवेचना की गई है।

द्वितीय अध्याय ''हिन्दी उपन्यास साहित्य का विकास क्रम'' का है। चूँकि आधुनिक नारी के विभिन्न रूपों के आकलन में उपन्यास कदाचित सफलतम विधा रही है, अत: उपन्यास के रूपबन्ध, प्रचलन तथा विकास को लेकर संक्षिप्त चर्चा इस अध्याय में की गई है। आधुनिक काल की नारी में आए विविध परिवर्तनों में आलोच्य सीमावधि (1960-1980) के पूर्व के उपन्यासों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अत: इस अध्याय में विवेच्य कालावधि से पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में नारी जीवन की स्थिति को रेखांकित करने का भी विनम्र प्रयास हुआ है।

तृतीय अध्याय ''साठोत्तरी उपन्यास लेखन में बदलते संदर्भ और स्त्री विमर्श'' का है। स्वतंन्त्रता के पश्चात बढ़ते आधुनिकतावाद, औद्योगीकरण एवं पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं उनके प्रत्येक पक्ष का स्वतंन्त्रता के बाद के उपन्यासों में विशद चित्रण हुआ है, प्रस्तुत अध्याय में बदलती, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक स्थितियों में परिवर्तित होती हुई स्त्री की स्थिति पर विचार विमर्श करने का प्रयास है। सामाजिक मूल्यों, परंपराओं एवं रूढ़ियों के प्रति स्त्री की बदलती हुई मानसिकता को जॉचने एवं परखने का भी उपक्रम इस अध्याय में हुआ है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श की स्थिति के निरूपण का प्रयास है। आधुनिक काल की उपन्यासों में नारी के प्रति पुरुष सोच में पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। स्वतंत्रता के पश्चात का उपन्यास लेखन चाहे वह पुरुष उपन्यास लेखन हो अथवा महिला उपन्यास लेखन दोनों में ही नारी अपने अस्तित्व, अस्मिता एवं अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्षरत है। इस संघर्ष की प्रभावशाली एवं सजग अभिव्यक्ति का प्रयास प्रस्तुत अध्याय में हुआ है।

पंचम अध्याय में प्रमुख महिला उपन्यास कारों एवं उनके उपन्यासों में व्यक्त स्त्री विमर्श का समीक्षात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयास है। इसमें नारी जीवन की विभिन्न

समस्याओं जैसे — परम्परागत मान्यताओं के प्रति नारी का अस्वीकार, बढ़ती हुई व्यक्तिवादी प्रवृत्ति, बढ़ता हुआ अजनबीपन, उदासी, घुटन, संत्रास, शोषण एवं नारीवादी चिंतन से उत्पन्न समस्याओं को उपस्थित करने का प्रयास हुआ है क्योंकि नारी जीवन पर इन समस्याओं का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव पड़ा है।

षष्ठम् अध्याय ''महिला उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श की प्रमाणिकता'' का है। अधिकांशत: महिला लेखन को मात्र स्त्री की चर्चा एवं परिचर्चा से संबंधित लेखन मान कर ''दोयम दर्जे'' या ''सतही लेखन'' अथवा ''समाज के मात्र एक पक्ष से संबंधित लेखन'' की संज्ञा देकर आलोचना की जाती रही है। प्रस्तुत अध्याय में इसे निराधार सिद्ध करते हुए उपन्यास साहित्य में महिला लेखन की प्रमाणिकता की स्थापना का प्रयास है।

सप्तम अध्याय में महिला उपन्यास लेखन का उपन्यास साहित्य में योगदान एवं उसकी उपलब्धियों की चर्चा है। इस अध्याय के अंतर्गत उपन्यासों में स्त्री विमर्श के विकास एवं भविष्य में उसके विकास की संभावनाओं पर भी विचार करने का उपक्रम है।

आठवें अथवा अन्तिम अध्याय में ''उपसंहार'' के अंतर्गत समग्र प्रबंध का समग्रावलोकन देते हुए इसके निष्कर्षों एवं समस्याओं को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। शोध प्रबन्ध के अन्त में संदर्भिका के अंतर्गत विभिन्न परिशिष्टों में आलोच्य उपन्यासों, सहायक ग्रन्थों तथा पत्र पत्रिकाओं की सूची क्रम से प्रस्तुत की गई है।

अध्ययन का एक संदर्भ शोधार्थी की निजी स्थापनाओं का होता है। हिन्दी उपन्यासों में स्त्री विमर्श को रेखांकित करते हुए कुछ विचारणीय तथ्य उभर कर सामने आए हैं, यथा स्त्री अपने परिवेश और घर बाहर दोनों जगह अपने स्वतंत्र अस्तित्व एवं अस्मिता की तलाश में संघर्षरत रहते हुए शैक्षिक एवं आर्थिक रूप से स्वतंत्र हुई है। स्वतंत्रता के पश्चात उसकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है तथा उसमें सामाजिक जागरूकता की भावना का निरन्तर विकास हो रहा है। स्त्रियों ने जिन रूढ़ियों को अपनी अज्ञानतावश जीवन का आदर्श बना रखा था आज उन रूढियों के प्रति

अधिकांश स्त्रियों में उदासीनता आई है। शैक्षिक प्रगति एवं आर्थिक स्वतंत्रता के फलस्वरूप नारी की जहाँ पुरुष के प्रति निर्भरता में कमी आई है तथा बौद्धिक क्षमता में वृद्धि हुई है वहीं वह कुंठा, निराशा, संवेदनहीनता, भौतिकवादी युग की यांत्रिकता, बदलती नैतिकता, पारिवारिक एवं सामाजिक मूल्यों के विघटन से उत्पन्न दुःख पीड़ा, घुटन, विखण्डन, अजनबीपन तथा कभी न समाप्त होने वाली प्रवंचनाओं की श्रृंखला में जकड़ी जिंदगी जीने के लिए विवश है। स्पष्ट है कि अनेक उपलब्धियों के उपरांत भी नारी मानसिक स्तर पर अधिक टूट रही है। सिद्धान्ततः तो नारी को काफी स्वतंत्रता मिली है, लेकिन सामाजिक संस्थाओं का रूप पारंपरिक होने के कारण आज भी वह शोषण एवं उत्पीड़न का शिकार है इसके रूप अवश्य बदल गये हैं। समाज में उसके जीवन में समानता कहाँ आई है? उसकी स्थिति आज भी ''दोयम दर्जे'' की है। इस स्थिति में परिवर्तन के लिए नारी स्वतंत्रता एवं मुक्ति की आकांक्षा करती है फलस्वरूप विभिन्न नारी मुक्ति आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ है। परन्तु इस समस्या का समाधान घर परिवार, पुरुषों के संरक्षण सहयोग एवं नैतिक मूल्यों से मुक्ति नहीं अपितु व्यक्तित्व हीनता एवं जड़ता से मुक्ति पाने में है, इसके बाद ही वह अपनी अलग मानवीय पहचान बनाने में समर्थ हो सकेगी अन्यथा नारी जागृत होकर, प्रबुद्ध होकर स्वयं को पुनः उसी दलदल में ढकेल लेगी जहाँ से वह निरन्तर संघर्ष, परिश्रम, एवं प्रयासों के फलस्वरूप बाहर निकल सकी है।

प्रत्येक अध्ययन की अपनी कुछ सीमाएं होती हैं, इस प्रबन्ध की भी हैं। पहली सीमा यह है कि प्रस्तुत अध्ययन में विषय क्षेत्र के विस्तार में जाने की अपेक्षा उसके गंभीर विवेचन एवं मूल्यांकन की महती आकांक्षावश विशेष रूप से विवेच्यकालावधि की प्रमुख महिला उपन्यासकारों की रचनाओं को ही स्त्री विमर्श के मूल्यांकन एवं विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु बनाया गया है। महिला उपन्यासकारों के उपन्यास साहित्य को ही अध्ययन का आधार बनाने का मुख्य कारण यह भी है कि स्त्री विमर्श की दृष्टि से विवेच्यकालावधि के

हिन्दी उपन्यास साहित्य में महिला उपन्यास लेखिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अत: इस संदर्भ में मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि यद्यपि मेरे शोध प्रबन्ध का विषय ''1960 से 1980 तक के उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श का मूल्यांकन'' है, परन्तु मेरे द्वारा इस शोध प्रबन्ध को महिला उपन्यास लेखिकाओं के उपन्यासों में स्त्री विमर्श के मूल्यांकन के विशेष संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। दूसरी सीमा यह है कि अध्ययन हेतु प्रयुक्त उपन्यासों का मूल्यांकन विधागत दृष्टि से नहीं किया गया है। कुछ बेहतर उपन्यासों को इसलिए छोड़ना पड़ा कि उनमें स्त्री विमर्श का निरूपण नहीं है। कुछ उपन्यास विधा की दृष्टि से कमजोर हो सकते हैं, सृजन की दृष्टि से असफल हो सकते हैं लेकिन इन्हें इस लिए लेना पड़ा कि इनमें स्त्री विमर्श को एक नवीन दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस शोध प्रबन्ध की तीसरी सीमा यह है कि पॉचवें अध्याय में उपन्यासों में स्त्री विमर्श का विश्लेषण करते समय कथानक को विस्तार इसलिए देना पड़ा ताकि इनमें स्त्री विमर्श का स्वरूप स्पष्ट किया जा सके। इसकी चौथी सीमा यह है कि सब महिला उपन्यास कारों एवं उनकी समस्त कृतियों को लेना अगर असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है इसके अतिरिक्त यदि सबको सम्मिलित किया जाता है तो इस शोध परियोजना को अनावश्यक विस्तार देना पड़ता। अत: केवल प्रमुख महिला उपन्यास कारों के उपन्यासों को ही विशेष आधार बनाकर मैंने छोटे आकार में अपनी विषय वस्तु का निरूपण करना उचित समझा है। अन्त में यह भी स्पष्ट करना चाहती हूँ कि मेरे शोध की अवधि 1980 तक की है; लेकिन मैंने स्त्री विमर्श की दृष्टि से विवेच्य कालावधि के बाद की भी कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासों को अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बनाया है ताकि इसे पूरी तरह से विश्लेषित एवं मूल्यांकित किया जा सके।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूरा करने में विषय सामग्री हेतु जिन प्रकाशनों एवं पुस्तकालयों की विशेष रूप से सहायता ली गई उनके प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। इनमें नीलाभ प्रकाशन (इला0) लोकभारती प्रकाशन (इला0) शान्ति प्रकाशन (इला0), विश्वविद्यालय प्रकाशन (वाराणसी), इलाहाबाद विश्वविद्यालय का केन्द्रीय पुस्तकालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का केन्द्रीय पुस्तकालय, हिन्दी साहित्य

सम्मेलन संग्रहालय (प्रयाग) एवं भारती भवन पुस्तकालय (इला0) प्रमुख हैं।

मैं उपर्युक्त प्रकाशनों के प्रकाशकों एवं पुस्तकालयों के प्रबन्धाधिकारियों तथा संग्रहालय के समस्त कर्मचारियों तथा संग्रहालयाध्यक्ष की आभारी हूँ, जिनके सहयोग के अभाव में अध्ययन सामग्री का व्यवस्थित संकलन असंभव था।

उन सभी भाषाओं के देशी विदेशी चिंतकों, लेखकों, विद्वानों, मनीषियों, समीक्षकों, साहित्यकारों और उपन्यासकारों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनकी कृतियों से मुझे अध्ययन में सहायता मिली।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में मुझे जिनकी विशेष रूप से सहायता मिली है उनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना परम् कर्तव्य समझती हूँ ।

शोध प्रबन्ध के विषय उद्घाटन से लेकर उसकी पूर्णता तक अपने इस ज्ञानवर्धन की दिशा में सर्वप्रथम सर्वाधिक आभार व्यक्त करते हुए मैं अपने शोध निर्देशक श्रद्धेय डा0 कृपा शंकर पाण्डेय, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति श्रद्धावनत हूँ। जिनके कुशल निर्देशन एवं सत्परामर्श के फलस्वरूप प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सुगठित एवं सुव्यवस्थित होकर पूर्णता को प्राप्त हो सका। उनकी सहृदयता, प्रोत्साहन एवं आत्मीय सहयोग के लिए मैं सदैव उनकी कृतज्ञ रहूँगी। आदरणीया श्रीमती पाण्डेय के अप्रतिम स्नेह एवं प्रोत्साहन ने मुझमें सदैव जिस धैर्य एवं प्रेरणा शक्ति का संचार किया उसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से अनुगृहीत हूँ।

श्रद्धेय डा0 सत्यप्रकाश मिश्र - हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, उन्होंने शोध पंजीयन में अपना अमूल्य सहयोग देकर मेरी सहायता की ।

डा0 अजय तिवारी हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली की मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिनके अमूल्य परामर्श, सहयोग एवं दिग्दर्शन से मुझे शोध कार्य में बहुत

सहायता प्राप्त हुई।

डा0 मीरा दीक्षित, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद एवं डा0 हरेराम मिश्र, संस्कृत विभाग जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने शोध कार्य में परोक्ष व अपरोक्ष रूप से मेरा सहयोग किया।

आदरणीय डा0 यू0 के0 द्विवेदी, अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग, ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद द्वारा मुझे समय समय पर दिशा दृष्टि मिलती रही । अत्यन्त व्यस्त समय में भी अपनी गवेषणात्मक दृष्टि तथा विद्वता के द्वारा उन्होंने मुझे लाभान्वित किया है और मेरी प्रत्येक कठिनाई को दूर किया है। उन्हीं की प्रेरणा से पुष्ट होकर मैं इस कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो सकी हूँ। उनके अप्रतिम एवं आत्मीय सहयोग, परामर्श सहृदयता उदारता एवं उत्साह वर्धन के लिए मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। आदरणीया श्रीमती द्विवेदी के प्रति भी मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ जिनकी स्नेहिल प्रेरणा, परामर्श एवं उत्साहवर्धन ने मुझे संबल प्रदान किया।

सम्माननीय डा0 के0 के0 अग्निहोत्री अध्यक्ष : राजनीति विभाग ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद एवं सम्माननीया डा0 दमयन्ती अग्निहोत्री, शिक्षा शास्त्र विभाग, जे0 टी0 गर्ल्स डिग्री कालेज, इलाहाबाद के प्रति मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ जिनकी सत्प्रेरणा, सहयोग एवं परामर्श ने मुझे सदैव दिशा दृष्टि प्रदान की।

डा0 (श्रीमती) रमा मिश्रा, प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान रा0क0 डिग्री कालेज, शंकरगढ़ एवं डा0 श्रीमती सरिता सिंह, प्रवक्ता, इतिहास, रा0 क0 डिग्री कालेज, शंकरगढ़ इलाहाबाद का भी मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिनका परामर्श एवं सहयोग मुझे बराबर मिलता रहा ।

परम पूज्य माता पिता एवं सास-श्वसुर की मैं आजीवन ऋणी रहूँगी, जिनके

आशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हो सका । भाई साहब डा० शंकर मिश्रा एवं भाभी जी की शुभकामनाएं एवं सहयोग सदैव मेरे साथ रहा अत: मैं उनके प्रति हृदय से अनुगृहीत हूँ।

शोधकार्य की अवधि में अपने अनुज अनुजाओं तथा परिवार के अन्य समस्त सदस्यों का निरन्तर सहयोग एवं प्रेरणा मुझे मिलती रही उनका उत्साहवर्धन एवं शुभकामनाएं निरन्तर मेरे साथ रहीं, अत: उनके प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ । विशेषत: सर्वाधिक रूप से मैं अपने पति आदरणीय श्री अनिल मिश्रा की अनुगृहीत हूँ, जिनकी सत्प्रेरणा, अप्रतिम सहयोग, संबल, परामर्श एवं उत्साहवर्धन के कारण यह शोध कार्य पूर्ण हो सका साथ ही आस्था एवं ओम के प्रति भी, जिनके सहयोग के अभाव मे यह कार्य पूरा होना असंभव था।

अन्त में श्री इम्तियाज़ अहमद, मेसर्स नितिन प्रिन्टर्स, 1, मन मोहन पार्क, पुराना कटरा, इलाहाबाद के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने टंकण कार्य के द्वारा इस शोध प्रबन्ध को अंतिम रूप प्रदान करने में सहायता की।

कीर्ति मिश्रा

श्रीमती कीर्ति मिश्रा

अध्याय एक

: स्त्री विमर्श की अवधारणा :

: स्त्री विमर्श की अवधारणा :

वर्तमान संदर्भ में स्त्रीचिंतन का विषय है स्त्री, उसका जीवन और उसके जीवन की समस्याएँ। स्त्री चिन्तन एवं तर्क का मुख्य उद्देश्य दलन के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। स्त्री-विमर्श परम्पारिक ज्ञान एवं दर्शन को चुनौती देता है। स्त्री चिन्तन को बढ़ावा देने में पारम्पारिक ज्ञान एवं दर्शन का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है क्योंकि एतिहासिक दृष्टि से स्त्री पुरुष प्रधान समाज में रहती आयी है, जहाँ वह ज्ञाता नहीं अपितु ज्ञान की विषय वस्तु है। आज जिसे वास्तविक या यथार्थ परक ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में वह पुरुषों द्वारा निर्मित एवं उत्पादित ज्ञान है और यही ज्ञान समाज के केन्द्र में अधिष्ठित रहा है। अतः इसके विरुद्ध एक प्रक्रिया उत्पन्न हुयी और जिसके परिणाम स्वरूप स्त्रीवादी सिद्धान्त की स्थापना हुई यह सिद्धान्त स्त्री-केन्द्रित ज्ञान पर बल देता है।

स्त्री विमर्श: चिन्तन एवं तर्क के प्रमुख कारण :-

नारीवादी चिंतकों का यह मानना है कि पारम्परिक दर्शन ने न केवल स्त्री के बौद्धिक प्रयास का अवमूल्यन किया है अपितु उसके निजी मूल्यबोध को भी हेय दृष्टि से देखा है। चूँकि पारम्परिक दर्शन पुरुष केन्द्रित सोच तक ही सीमित रहा इसलिए दार्शनिक चिंतन के जगत में स्त्रियों को अपना स्थान निर्धारित करने का अवसर नहीं मिला। इन्हीं तथ्यों के विचार विमर्श के फलस्वरूप नारीवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ और स्त्री-विमर्श के सम्बन्ध में चिंतन एवं तर्क को मुख्य स्थान दिया गया।

स्त्री विमर्श को मुख्य आधार देने का श्रेय उन पाश्चात्य दार्शनिकों को है, जिन्होंने अपने चिन्तन में स्त्रियों की स्थिति पर विचार किया है। इन दार्शनिकों में मुख्य स्थान प्लेटो, जॉन स्टुअर्ट मिल एवं कार्लमार्क्स का है। इन दार्शनिकों ने स्त्री एवं पुरुष को समकक्ष रखने की चेष्टा की और इनके दर्शन से प्रभावित होकर नारीवादी विचारधारा का उद्‌भव हुआ

जिसे विभिन्न नाम देने की भी कोशिश की गयी। जैसे उदार नारीवाद, मार्क्सवादी, नारीवाद, मनोविश्लेषक नारीवाद, अराजक नारीवाद एवं सामाजिक नारीवाद आदि। ये सभी विचार धाराएँ स्त्री-विमर्श में वृद्धि का मुख्य कारण रही हैं।

स्त्री विमर्श अथवा स्त्री-चिन्तन का तात्पर्य है स्त्रीवादी दृष्टिकोण तथा स्त्री से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विचार एवं विमर्श। ऐसे विभिन्न कारण एवं समस्यायें हैं जो आज स्त्री चिन्तन को बढ़ावा दे रही हैं। हमारे समाज का पितृसत्तात्मक नियम स्त्री शोषण का मुख्य कारण है और शिक्षा, आर्थिक निर्भरता, विभिन्न नारी मुक्ति आन्दोलन, नवजागरण आन्दोलन के फलस्वरूप स्त्रियों में स्त्रीदृष्टि एवं स्त्री परिप्रेक्ष्य की समझ उत्पन्न हुई है। यही कारण है कि आज स्त्री की स्थिति के सम्बन्ध में व्यापक रूप से चिन्तक एवं तर्क को स्थान मिल रहा है। संक्षेप में स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में चिन्तन एवं तर्क के विभिन्न कारण निम्न हैं—

स्त्री समर्थक विचारधारा एवं दर्शनिक — स्त्री-विमर्श का अर्थ है स्त्रीवादी-समीक्षा या नारीवाद । नारीवाद का अर्थ है जिसमें स्त्रीगुण विद्यमान हो। इसका प्रयोग स्त्रियों के दमन के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए तथा उनके अधिकार के अर्थ में किया गया। इसका सम्बन्ध स्त्रीमुक्ति आन्दोलन से है। भारतवर्ष में इस विचारधारा का उद्‌भव बीसवीं शताब्दी में हुआ। वैसे तो स्त्रीसमर्थक विचारधारा प्राचीनकाल से ही अपने अस्तित्व में है पर इसका विस्तार आधुनिक काल में पूर्व एवं पश्चिम दोनों में ईसाइयत के सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होता है। स्त्री-समर्थक विचारधारा का प्रचार एवं प्रसार बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विशेष रूप से अपनी पहचान बनाता है। पुरुष प्रधान समाज में वैसे तो स्त्रियाँ सदैव से उपेक्षित रही हैं। यह सही है कि जिन मनीषियों ने यत्र नार्यस्तु पुज्यन्तें की घोषणा की है उन्होंने भी परिवारवाद के चलते नारी वर्ग का भरपूर शोषण किया है। स्वतन्त्रता के अभाव में उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाया। अतः स्त्री के दमन के विविध रुपों एवं कारणों का अध्ययन एवं विश्लेषण आवश्यक है तथा इस दमन से स्त्रियों की मुक्ति का मार्ग ढ़ूढ़ना भी

आवश्यक हैं। ये विचारधारा स्त्री की वैयक्तिक सामाजिक एवं दार्शनिक समस्याओं से सम्बन्धित है।

यह इस शोध-प्रबन्ध का प्रीतिकर विषय है जिसका अध्ययन उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत करना मैं अनिवार्य समझती हूँ। जिस प्रकार से समाज में स्त्रियों की उपेक्षा हुयी है उसी प्रकार साहित्य में भी पुरुष वर्चस्व रहा है जो भी साहित्य लिखा गया उसमें भी रचनाकार चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष उनकी दृष्टि पुरुषवादी ही रही अत: स्त्रीलेखन भी पुरुष दृष्टिकोण से ही लिखा गया है। स्त्रीवादी विचारधारा का मानना है कि आज स्त्री में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा है और स्त्री द्वारा सृजित साहित्य को स्त्री के विशिष्ट दृष्टिकोण से पढ़ा जाना चाहिए। स्त्रीवादी समीक्षक साहित्य के स्वीकृत प्रतिमानों को स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि स्त्रीलेखन में स्त्रियोचित गुणों का समावेश स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है।

उन्नसीवीं शताब्दी के चौथे दशक में मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'इकनॉमिक एंड फिलासफिकल मैन्यूस्क्रिप्ट' में मानव-मुक्ति की विवेचना की है। वह फूरिये एंव सेंट साइमन की स्त्रीमुक्ति विचारधारा से प्रभावित था। स्त्री की मुक्ति के लिए सत्रहवीं एवं अट्ठारहवीं सदी में पितृसत्ता, विवाह और परिवार की संस्था की जकड़ के खिलाफ तथा समतामूलक प्रेम के पक्ष में किये गये संघर्ष और महिला कार्य कर्ताओं के त्याग और बलिदान के प्रेरणा मय इतिहास से मार्क्स काफी प्रभावित था अत: वह औरत की दशा को समाज एवं प्रकृति की दशा का प्रतीक मानता था। उसका मानना था कि " अगर किसी समाज में पर्यावरण एवं परिस्थिति की हालत को समझना है तो उस समाज में औरत की स्थिति देख लेनी चाहिए।[1]

---

1. मार्क्सवाद एवं नारीमुक्ति-लेख-अभय कुमार दुबे, हंस-जनवरी फरवरी 2000, पेज-154.

वास्तव में मार्क्स बड़े ही महत्वपूर्ण ढंग से स्त्री की आजादी के लगभग सौ वर्ष पूर्व के इतिहास को सम्पूर्ण सामाजिक क्रान्ति से सम्बन्धित करना चाहता था। फ्रांसीसी क्रान्ति के समय से ही नारी-मुक्ति का सवाल उठ रहा था। रूसों स्त्री को उसकी 'निर्धारित जगह' पर रखे जाने के पक्ष में थे लेकिन इसके बावजूद रूसों के नारी मुक्ति सम्बन्धी विचारों ने मुक्ति के लिए छटपटाती नारी के ज्ञानचक्षु खोल दिये थे। यद्यपि फ्रांस की क्रान्ति प्रत्यक्षत: एक पुरुषवादी क्रान्ति थी, लेकिन उससे जुड़ी सैद्धान्तिकता में नारी-मुक्ति की संभावनाएँ छिपीं थी, जो आगे चल कर नारी-वादी विमर्श एवं तर्क का मुख्य कारण बनीं जिसके परिणाम स्वरूप क्रान्तिकारी नारीवादियों ने स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त कने के लिए अपनी आवाज उठायी और स्त्री विमर्श को एक नवीन आधार प्रदान किया।

स्त्री-विमर्श महिला लेखन का मूल आधार है। ये विमर्श वर्तमान ममय में 'नारी-मुक्ति' की दो मूलभूत अन्तर्राष्ट्रीय विचार-सारणियों 'मार्क्सवाद' एवं 'नारीवाद' के सकारात्मक पक्षों को आत्मसात करके भारतीय सन्दर्भ में नवीन रूप ग्रहण कर रहा है। नारी प्रश्न के ऐतिहासिक सामाजिक एवं आर्थिक आधारों को गंभीरता पूर्वक व्याख्यायित एवं विश्लेषित करने वाले मार्क्स एवं एंगेल्स सर्वहारा वर्ग की मुक्ति में ही 'नारी मुक्ति' का समाधान प्रस्तुत करते हैं। वर्ग विभक्त समाज में नारी-शोषण एवं दमन के लिए पितृसत्ता ही जिम्मेदार है। इस प्रश्न पर 'समाजवादी नारीवाद' ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया और मार्क्सवाद और नारीवाद का ऐसा संश्लेषित रूप उभारा कि महिला उत्पीड़न की समस्याओं का मार्क्सवादी सिद्धान्त की परिधि में रह कर समाधान किया जाने लगा और पुरुष वर्चस्व की मानसिकता से बचाव की दिशा में प्रयास भी प्रारम्भ हुआ। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर नारीवादी विमर्श आगे बढ़ा और फलस्वरूप वामपंथी विचारों को मानने वाली अनेक नारीवादी विचारकों का प्रादुर्भाव हुआ इनमें सीमोन द बोउवार के विचारों ने स्त्री- विमर्श की भूमिका में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनकी रचना 'द सेकेण्ड सेक्स' का पश्चिमी समाज में 'आधुनिक नारीवाद' के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस पुस्तक में

नारी की पूर्ण स्वतन्त्रता, उसकी स्वतन्त्र अस्मिता और समाज में उसकी पहचान के मुद्दे पर गम्भीर विचार-विमर्श किया गया है। इस पुस्तक में नारी-मुक्ति के प्रश्न पर व्यक्त विचारों ने ही आगे चल कर पश्चिमी समाज में नारी-मुक्ति आन्दोलन को जन्म दिया। आठवें नवें दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा महिला वर्ष और फिर महिला दशक मनाये जाने में भी इस पुस्तक की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

नारीमुक्ति आन्दोलन :-

स्त्री-विमर्श के चिन्तन एवं तर्क का मुख्य कारण नारीमुक्ति आन्दोलन भी रहा है। पश्चिम में मार्क्स वादी विचारधारा से प्रभावित अनेक नारीवादियों ने नारी-मुक्ति आन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन का प्रादुर्भाव स्त्रीशोषण, दमन एवं उत्पीड़न के फलस्वरूप समाज में आयी विकृतियों एवं विसंगतियों के विरुद्ध एक क्रन्ति के रूप में तथा स्त्रियों के स्वतन्त्र आस्तित्व की मान्यता के लिए हुआ। नारीमुक्ति आन्दोलन स्त्री की पहचान को निर्मित करने वाली ऐतिहासिक प्रगति में विश्वास रखने वाला है। बीसवी शताब्दी में जितने भी आन्दोलन हुए हैं उसमें स्त्री मुक्ति आन्दोलन का दूरगामी प्रभाव पड़ा है। इसका कारण यह है कि सदैव से ही स्त्री सत्ता, धन, कामना सबके करीब रहने पर भी उसकी ही सबसे अधिक उपेक्षा हुई है। नारी मुक्ति आन्दोलन ने स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य में अपने अधिकारों आस्तित्व एवं आस्मिता के प्रति स्त्रियों में एक नवीन जागरुकता उत्पन्न कर दी और ये जागरुकता विभिन्न पुस्तकों में अभिव्यक्त विचारों के माध्यम से आयी। इन पुस्तकों में सीमोन द बोउवार' की पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' एक अच्छे स्तर की वैज्ञानिक रचना थी फिर बेट्टी फरीडन ने 'द फेमिनिन मिस्टिक' या 'नारी रहस्य कथा' लिखी। इसमें लेखिका ने अपने व्यापक अध्ययन द्वारा अनेक तथ्यों एवं आंकड़ों एकत्रित कर के यह सिद्ध कर दिया कि पुरुष प्रधान समाज में मनोवैज्ञानिक दबाव डालकर स्त्रियों को इच्छापूर्ति का साधन बनने और माँ, गृहणी और रमणी की भूमिकाएँ ही स्वीकार करने के लिए विवश किया गया है। इसी से स्त्रियों की मौलिक प्रतिभा कुण्ठित हुई है समाज में उच्छृंखलता एवं अस्थिरता में

वृद्धि हुई है। यही कारण है कि घर के बाहर नारी के बढ़ते हुए कदम पुन: पीछे लौटने लगे हैं। बेट्टी फरीडन ने अपनी पुस्तक में विचारोत्तेजक मुद्दे उठाये थे और उस पर आधारित आन्दोलन बुनियादी मानवीय अधिकारों पर आधारित था उनका मत था कि स्त्रियों को अपने बारे में निर्णय लेने की एवं अपने जीवन की पद्धति चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

नारी मुक्ति-आन्दोलन की सभी स्त्रियों ने फ्रायडियन मनोविज्ञान का विरोध किया और इसे मनोविकृति का रूप बताया जिसकी अभिव्यक्ति इनकी रचनाओं में हुई। जीन बेकर मिलर द्वारा संपादित रचना''मनोविश्लेषण एवं स्त्री'' तथा जूलिएट मिशेल द्वारा संपादित 'मनोविश्लेषण और नारीवाद' में मातृग्रन्थियों की बुनियादी धारणाओं का खण्डन किया गया है तथा फ्रायड को इन्होंने स्त्री विरोधी तथा पुरातनपंथी की संज्ञा दी। आन्दोलन की एक अन्य लेखिका नेत्री मैराबेल मार्गन की पुस्तक 'द टोटल वुमेन' में नारी स्थिति का व्यापक सर्वेक्षण हुआ है।

स्त्री स्वाधीनता के प्रबलतम समर्थक उदारवादी विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल ने लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येकनागरिक के समान एवं स्वतन्त्र अस्तित्व का समर्थन किया था। 1867 में पार्लियामेंट में इन्होंने स्त्री मताधिकार का प्रस्ताव रखा तथा 1869 में 'ऑन द सब्जेक्शन ऑव वूमेन' नामक पुस्तक में स्त्री-पुरुषों को मूलत: समान स्वीकार करते हुए इस बात पर विशेष बल दिया कि जिन बौद्धिक एवं मानसिक अक्षमताओं के कारण नारी पुरुष से हीन समझी जाती है वे उसकी प्रकृति प्रदत्त अक्षमताएँ नहीं अपितु समाज स्वीकृत मान्यताओं के परिणाम है— ''स्त्रियों के स्वभाव के कारण जो कुछ भी कहा जाता है, वह एकदम बनावटी एवं गलत है, और जो कुछ कमी है, वह बलात् दमन या फिर कुछ क्षेत्रों में अप्राकृतिक प्रोत्साहन का ही परिणाम है।''[1]

---

1. ऑन द सब्जेक्शन ऑव वूमेन - जॉन स्टुअर्ट मिल — पृष्ठ - 239.

इस प्रकार स्त्री मुक्ति आन्दोलन के प्रादुर्भाव व स्त्री समर्थक विचारकों के विचारों एवं उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त स्त्री मुक्ति सम्बन्धी धारणाओं के कारण भी स्त्रियों में एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ और नवीन स्त्रीवादी दृष्टिकोण के उत्पन्न होने से — "पुरुषों की भाँति अधिकारों की माँग को उन्नीसवीं शताब्दी में नया बल मिला और नारियों की स्थिति में आशातीत परिवर्तन हुआ और वे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक दृष्टि से उपेक्षणीय न रह सकी।"[1] धीरे-धीरे स्त्री अस्मिता, स्त्री अधिकार और स्त्री स्वतन्त्रता की माँग बढ़ी और इसने स्त्री विमर्श को आज के संदर्भ में नवीन आधार प्रदान किया समाज में व्याप्त स्त्री जागरूकता का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा और उपन्यास साहित्य में विशेषकर महिला लेखिकाओं ने स्त्रियों की स्थिति का नवीन स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया और इस दृष्टिकोण की अपने लेखन में सफल अभिव्यक्ति भी।

भारत में नवजागरण आन्दोलनों में स्त्री चेतना : जिस समय पश्चिम में नारीमुक्ति आन्दोलन शुरु हुआ उसी समय भारत में भी नवजागरण आन्दोलन प्रारम्भ हुआ नारी मुक्ति आन्दोलन का प्रभाव नवजारण आन्दोलन पर भी पड़ा और नवजागरण आन्दोलन के विभिन्न समाज सुधारकों ने स्त्री की स्थिति पर विचार किया और उनकी समस्याओं के समाधान के लिए प्रयत्नशील हुए। इन समाज सुधारकों ने स्त्री की पतनोन्मुखी स्थिति, उनके उत्पीड़न एवं शोषण के विरुद्ध व्यापक रुप से आवाज उठाई उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय समाज में परिवर्तन का दौर आया और अनेक प्रमुख सम्पन्न एवं चिन्तनशील समाज सुधारकों ने स्त्रियों की निम्न स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की परिणाम स्वरूप और उनकी उन्नति के लिए अनेक धार्मिक एवं समाज सुधारक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। इन समाज सुधारकों में राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध अपनी आवाज प्रबल की और परिणाम स्वरूप सतीप्रथा के विरुद्ध कानून का निर्माण हुआ और इस पर रोक लगी। राममोहन राय के

---

1. हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना — सुरेश सिन्हा, पृष्ठ - 15.

अतिरिक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, गोविंद रानाडे, स्वामी विवेकानन्द, श्रीमती एनी बेसेन्ट आदि समाज सुधार एवं नवजागरण से सम्बन्धित समाज सुधारकों ने बाल विवाह, सतीप्रथा, आशिक्षा के विरुद्ध तथा विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के पक्ष में आन्दोलन प्रारम्भ किया। स्त्रियों की प्रगति का तथा समाज में उनके तिरस्कार पूर्ण दृष्टि में परिवर्तन लाने का श्रेय इन्हीं समाज सुधारकों को है।

यूरोपीय नवचेतना से जुड़े समाज सुधारकों ने भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति को महत्वपूर्ण स्थान दिया— ''उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय नवचेतना से जुड़े समाज-सुधारकों के एजेंडे में भी भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति एक महत्वपूर्ण स्थान रखने लगी थी लेकिन औरतों को लेकर परिवार के भीतर पुरुष की प्रभुता का स्वीकार, शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व के ऊपर उसके पारम्परिक गृह तथा मातृत्व के रोल की महत्ता, कानून में स्त्रियों को पराश्रयी मानने का रुझान और सामाजिक जीवन में स्त्री की यौन शुचिता पर अत्याधिक बल यह चार विचार पश्चिमी विक्टोरियाई समाज से हमारे समाज सुधार आन्दोलनों में भी आ घुसे, और समाज सुधारकों की मानसिकता का अहम हिस्सा बने।''[1] फलस्वरूप सतीप्रथा का निषेध विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा को बढ़ाने के श्रेयस्कर प्रयास हुए।

बीसवीं शताब्दी में महिला संगठनों के उदय और उनकी गाँधीवादी अवधारणा तथा खिलाफत जैसे आन्दोलनों द्वारा स्त्रियों की भागीदारी मुख्य धारा में हो गयी और मुख्य धारा से जुड़कर वे एक नवीन मोड़ पर खड़ी हो गयी। वीमेन्स इण्डिया एसोसिएशन, अंजुमन, नेशनल काउन्सिल ऑव वीमेन इन इण्डिया जैसी संस्थाओं के उदय के पीछे यह भावना कामकर रही थी कि लोकतन्त्र के अभाव में राष्ट्र की आजादी और औरतों की बराबरी के अभाव में देश की आजादी अर्थहीन है।

---

1. लेख 'सहस्त्राब्दी और स्त्री'-मृणाल पाण्डे, पृष्ठ - 56 पत्रिका- कथासमवेत, संयुक्तांक 2001 (जनवरी-जून)।

नवजागरण एवं समाज सुधार आन्दोलनों के सुधारकों द्वारा राष्ट्रनिर्माण में स्त्रियों के महयोग को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया और सामाजिक कुरीतियों को समाप्त कर उन्हें अनेक कानूनी अधिकार दिलाकर समाज में उनके अस्तित्व को स्वीकार किया गया। उन्होंने शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के माध्यम से उनमें आत्मविश्वास का संचार किया एवं नारीमुक्ति आन्दोलन को प्रारम्भ कर के उन्हें आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया। इन आन्दोलनों का व्यापक प्रभाव साहित्य पर पड़ा और उपन्यास लेखन में इन मुद्दों को उठाया गया और स्त्री उत्पीड़न एवं विसंगतियों का सफल चित्रण करके उनकी समस्याओं का विवेचन एवं विश्लेषण व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार से हिन्दी उपन्यास साहित्य में ये नवजागरण आन्दोलन स्त्री-विमर्श को प्रस्तुत करन के मुख्य कारण के रूप में जाने जाते हैं।

विभिन्न नारीवादी विचारधाराएँ :

उदार एवं उग्र नारीवाद का एक लम्बा इतिहास रहा है। अट्ठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों जैसे मेरी उलनस्टोक्राफ्ट (1759-1873), हैरियट टेलर (1807-1858), जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) जैसे उदार नारीवादी विचारकों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं सामाजिक परिवर्तन का समर्थन किया है। ये विचारक ऐसी सामाजिक संरचना के हिमायती थे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का महत्व हो एवं उन्हे समान सुविधा मिले और इस महान उद्देश्य को ध्यान में रखकर इन विचारकों ने पितृसत्तात्मक राज्य संरचना का विरोध किया।

उदार नारीवादी आन्दोलन में बेला अबलेक्स, बेट्टी फरीडन, एलिजाबेथ हाउसमैन आदि का प्रमुख स्थान है। इनका मानना है कि स्त्री जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी कर सकती है बशर्ते समाज उसे पुरुषों के बराबर सुविधाएँ प्रदान करे। श्रम के क्षेत्र में भी स्त्री-पुरुष के मध्य भेद भाव है।

स्त्री-विमर्श के सम्बन्ध में वामपंथी विचारधारा का भी मुख्य स्थान है। इस विचारधारा के समर्थकों में सीमोन द बोउवार, केट मिलेट, सुलामिथ फायरस्टोन, जूलिएट

मिशेल आदि वामपंथी नारीवादी विचारक मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित थे। इन विचारकों ने 'दि पर्सनल इज पॉलिटिकल' का नारा दिया, अर्थात् व्यक्ति सत्य ही समष्टि सत्य है। इनका कहना था कि स्त्री उत्पीड़न का मुख्य कारण निजीसम्पत्ति की अवधारणा है जिसके अनुसार सम्पत्ति और सत्ता कुछ व्यक्तियों के हाथों में निहित होती है अतः स्त्री उत्पीड़न का मुख्य कारण पितृसत्तात्मक व्यवस्था नहीं अपितु पूँजीवाद है।

मार्क्सवादी नारीवाद के विरुद्ध उग्रनारी वादी आन्दोलन का उदय हुआ और इसका मानना था कि केवल आर्थिक या राजनीतिक संस्थाओं में सुधार लाने से ही स्त्री को दलन से मुक्त नहीं मिलेगी उसे आमूल रूप से स्वयं को भी बदलना होगा। इनका कहना है कि स्त्री जन्म से ही स्त्रीकरण का शिकार है इन्होंने सामाजिक मुद्दों विशेषकर चिकित्साशास्त्र, धर्म प्रजनन, जातिवाद, पर्यावरण और राजनैतिक सिद्धान्तों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं परन्तु उनका सबसे महत्वपूर्ण विमर्श है— पुरुष सत्ता द्वारा स्त्री कामना का निर्धारण इसी के माध्यम से, पुरुष ने अपना वर्चस्व स्थापित किया है। अतः पुरुष सत्ता की इस व्यवस्था का रूपान्तरण ही इनका मुख्य उद्देश्य है।

स्त्रियों के बारे में स्त्रीवादी समीक्षकों को फ्रायड की मान्यता स्वीकार्य नहीं है। फ्रायड का मानना था कि स्त्रियाँ दमित कामभावनाओं से युक्त होती हैं और इनकी रचनाओं में केवल दमित कामभावना की अभिव्यक्ति होती है जबकि पुरुषों में अहं, महत्वाकांक्षा आदि की भी अभिव्यक्ति होती है। किन्तु स्त्रियों की रचनाओं ने फ्रायड की मान्यताओं को नकार दिया है। स्त्रीवादी आलोचकों ने स्त्रियों के सम्बन्ध में नये मनोविश्लेषक नारीवादी विचारधारा का प्रादुभार्व किया है। मनोविश्लेषक नारीवादी आन्दोलन के अन्तर्गत फ्रायड के मनोविज्ञान को पूर्णतः नकार दिया गया है। एड्रियन रिच के अनुसार- ''यह पुरुष सत्ता है, जो स्त्री पर इतर लिंगी व्यवस्था को आरोपित करती है और इसी के माध्यम से पुरुष अपना

शारीरिक, आर्थिक और भावनात्मक वर्चस्व स्त्री पर लागू कर पाता है।''[1] अत: इस व्यवस्था को समाप्त करना होगा और इस अतिवादी दृष्टिकोण के कारण इसे अराजक नारीवाद की संज्ञा दी गई। अराजक नारीवाद प्रत्येक प्रकार के श्रेणीकृत समाज और राजनैतिक व्यवस्था का विरोध करता है। इसके समर्थक विचारकों का कहना है कि व्यक्ति चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष दलन के माध्यम से उसका स्त्रीकरण होता है। मनुष्य एवं प्रकृति के मध्य घटित सम्बन्धों के पुनर्स्थापना के अभाव में श्रेणीकृत सामाजिक व्यवस्था का उन्मूलन संभव नहीं है।

इस प्रकार से उपर्युक्त नारीवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप 'स्त्री दृष्टिकोण' और 'स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया और उसकी 'स्व' की अवधारणा को भी बल मिला। नारीमुक्ति आन्दोलन एवं नारीवादी विभिन्न आन्दोलनों का प्रारम्भ अमेरिका, फ्रांस एवं यूरोप से हुआ और धीरे-धीरे इससे भारतीय समाज भी अछूता नहीं रहा और भारत में विभिन्न समाज सुधार आन्दोलनों के माध्यम से और पश्चिम में रचना, विचार और अनुभूति के स्तर पर महिलावादी दृष्टि के साथ संपर्क ने इसका विस्तार किया और परिणाम स्वरूप भारत में स्त्री की संघर्ष प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ और स्त्री विमर्श का मुख्य आधार बना और इसकी अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य में भी हुई और उपन्यास साहित्य में इसको मुख्य स्थान मिला।

स्त्रियों की स्थिति — हिन्दी के उपन्यास साहित्य में स्त्री-विमर्श को मुख्य स्थान प्राप्त होने का एक महत्वपूर्ण कारण भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति भी है। भारतीय समाज में स्त्रियों की दमित स्थिति, उनका शोषण, उत्पीड़न चाहे वो सामाजिक स्तर पर हो, आर्थिक स्तर पर हो, धार्मिक स्तर पर हो अथवा राजनैतिक स्तर पर हो, ने भी स्त्रियों के प्रति एक परिवर्तित दृष्टिकोण उत्पन्न किया और जिसने स्त्रियों की दशा पर विचार एवं विश्लेषण करने

---

1. स्त्री-विमर्श : इतिहास में अपनी जगह- प्रभाखेतान, पृष्ठ-36 पत्रिका-हंस जनवरी - फरवरी, 2000।

के लिए मार्ग प्रस्तुत किया और इसके फलस्वरूप समाज में स्त्रियों की निम्न स्थिति ने स्त्री दृष्टिकोण उत्पन्न किया और हिन्दी उपन्यास साहित्य में स्त्री-विमर्श को मुख्य स्थान मिला। आज जिस तीव्रता से समाज के मूल्य परिवर्तित हो रहे हैं उसी तीव्रता से नारीशोषण एवं दमन की प्रक्रिया भी बढ़ रही हैं। बदलते सामाजिक मूल्यों का खामियाजा सबसे अधिक स्त्रियों को ही भुगतना पड़ता है। घरेलू गुलामी यदि पारिवारिक स्तर पर स्त्री का शोषण कर रही हैं तो बाह्य स्तर पर पूँजीपतियों के षड्यन्त्र में स्त्रियाँ संघर्ष कर रहीं हैं।

इस प्रकार सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों की निम्न स्थिति ने स्त्री विमर्श को एक धरातल प्रदान किया और अपनी इस स्थिति के विरुद्ध आक्रोश के रूप में स्त्रीवादी दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ इस दृष्टिकोण की मान्यता है कि पितृसत्ता प्रत्येक स्तर पर स्त्री का दलन एवं उत्पीड़न कर रही है चाहे वह भावनात्मक स्तर पर हो या आर्थिक स्तर पर, परिवार या समाज द्वारा इसके मूल में पितृसत्ता ही है। यह प्रत्येक स्तर पर स्त्री का दलन करती है अत: स्त्री को स्वयं अपने बारे में सोचना होगा और अपने उत्पीड़न एवं दलन को समाप्त करने के लिए कदम उठाना होगा।

स्त्री विमर्श का स्वरूप :

बदलते सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिवेश में स्त्री चिंतन का विषय है— स्त्री, उसका जीवन और उस जीवन की विभिन्न समस्याएँ । 60 एवं 70 के दशक में विश्व के धरातल पर जिस तीव्रता से मूल्यों एवं परंपराओं में परिवर्तन आया उसी तीव्रता से स्त्री के प्रति दृष्टिकोण एवं उसकी स्थिति में भी बदलाव आया। प्रौद्योगकीय एवं आर्थिक परिवर्तनों के कारण न केवल सुस्थापित कार्यप्रणाली में परिवर्तन आया है, अपितु सोचने एवं कार्य करने की प्राचीन प्रवृत्तियों में भी कमी आई। परिमाणस्वरूप स्त्री दृष्टिकोण और स्त्री के प्रति समझ में भी अन्तर आया और उसके अपने अस्तित्व एवं गरिमा की अवधारणा को भी बल मिला। 'स्त्रीविमर्श' आधुनिक संदर्भ में ऐसी ही परिस्थितियों की

उपज है। 'स्त्री-विमर्श' अथवा नारीवाद एक गम्भीर विचार केन्द्रित मुद्दा है परन्तु विडम्बनावश इस विषय को पितृसत्तात्मक समाज ने अनेक भ्रान्तियों से युक्त कर इसका दुष्प्रचार किया परिणास्वरूप विकास की प्रकिया धीमी अवश्य हुयी अवरुद्ध नहीं। अतः आधुनिक फैशनेबुल बहस बन जाने व अपने स्वरूप की सत्यता खो देने के बावजूद स्त्री-विमर्श का चिंतन चलता रहा और इस चिंतन ने नारीवाद के संदर्भ में उत्पन्न भ्रान्तियों को दूर कर उसके यथार्थ को आधार प्रदान किया तथा स्त्री-विमर्श की स्वस्थ व्याख्या प्रस्तुत की— ''नारीवाद एक स्वस्थ दृष्टिकोण है जो एकांगी नहीं .... यह पुरुषों का नहीं उनकी मानवीयता घटाने वाले उस छद्म मुखौटे का प्रतिकार है, जो मर्दानकी के नाम पर गढ़ा जाता है और जिसके पीछे झूठी अहमन्यता एवं उत्पीड़क प्रवृत्ति के अलावा कुछ नहीं''. स्पष्ट है कि स्त्री-विमर्श पुरुष विरोधी नकारात्मक विचारधारा नहीं अपितु एक स्वस्थ मानवीय दृष्टिकोण है। इसकी व्यापकता, विस्तार, विचार एवं आकार को वृहदरूप में स्पष्ट किया गया है।

भारत में स्त्री - विमर्श का विकास पश्चिमी समाज से भिन्न रूप में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के दौरान उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष के साथ-साथ हुआ। नारी मुक्ति आन्दोलन के तीसरे-चौथे दशक की महत्वपूर्ण देन महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियाँ' वस्तुतः भारत में नारी मुक्ति संघर्ष का घोषणा-पत्र है। अतः यह कहना कि साठ एवं सत्तर के दशक की भारतीय नारी मुक्ति चेतना पश्चिम के आधुनिक नारीवाद से ही प्रेरणा ग्रहण कर रही थी समीचीन नहीं होगा अपितु यह अपनी जातीय परम्परा की अवहेलना करना ही होगा 'शृंखला की कड़ियां' में महादेवी जी ने आर्थिक आत्मनिर्भरता को नारी मुक्ति की बुनियादी शर्त के रूप में रेखांकित किया है तथा उन्होंने पुरुष प्रधान समाज में नारी की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक गुलामी से मुक्ति के लिए मानसिक जड़ता को समाप्त करने का आह्वान बोउवार से बहुत पहले ही कर दिया है और विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि उत्तरशती का सम्पूर्ण सकारात्मक

महिला लेखन इसी नींव पर स्थापित दृष्टिगोचर होता है। स्त्री विमर्श को एक व्यापक-ममग्र दर्शन की संज्ञा देते हुए मृणाल पाण्डेय कहती है कि "नारीवाद स्त्रियों को वृहत्तर समाज से अलग-थलग रखकर देखने और हर क्षेत्र में पुरुषों के खिलाफ उसे प्रोत्साहित करने का दर्शन नहीं। यह तो एक समग्र दृष्टिकोण है, जो संवेदनशील नागरिकों में पहले शोपित, प्रवंचित स्त्रियों की स्थिति के प्रति सहानुभूति और मानवीय दृष्टिकोण विकसित करके उसके उजास में उन्हें अपने पूरे समाज के शोषित और प्रवंचित तबकों को समझने की क्षमता देता है। साथ ही उनके प्रति सदयता तथा कर्मठ दायित्व बोध भी जगाता है।"[1]

आज स्त्री में परिवर्तन आया है ये परिवर्तन उसकी मानसिकता में उसकी समाज के प्रति सोच में आया है। स्त्री-विमर्श अथवा नारीवाद ने आज एक शास्त्र का रूपधारण कर लिया है। इस शास्त्र को लगभग जीवन के हर क्षेत्र में विश्लेपित करने का श्रेय महिला लेखन को जाता है। 'स्त्रीत्व का मानचित्र' में अनामिका ने समाज व व्यवस्था द्वारा निर्मित व पोषित समस्त प्राक् धारणाओं से मुक्त होकर स्त्री लेखन में स्त्री मुक्ति के विकास की व्याख्या की है और यह स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है कि ज्ञान विकास के अभाव में परिवार और समाज की प्रगति कुंद हो जायेगी। स्त्री-विमर्श की अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि स्त्री व पुरुष दोनों ही इस परिवार व समाज की इकाइयाँ हैं और दोनों ही इस पितृसत्तात्मक समाजिक व्यवस्था का शिकार हैं लेकिन विडंबना यह है कि इनमें भी एक शिकार है एक शिकारी लेकिन दोष पुरुष का नहीं, उस पितृसत्तात्मक व्यवस्था का है जो जन्म से मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर हैं। वस्तुतः स्त्रीवादी विमर्श पश्चिम की उपज है मगर उसे तीसरी दुनियाँ की स्त्रियों के संदर्भ में विश्लेषित किया जा रहा है और यह महत्वपूर्ण कार्य स्त्रीलेखन द्वारा संभव हुआ है। स्त्री विमर्श के प्रति चिंतन एवं तर्क के कारण तथा साहित्यिक समाज में

---

1. परिधि पर स्त्री — मृणाल पाण्डेय - पृष्ठ 47.

स्त्रीवादी परिचर्चा को केन्द्रीय स्थान मिलने के कारण यह प्रमाणित एवं स्पष्ट हो जाता है कि नारीविमर्श कोई भ्रामकधारणा नहीं अपितु एक मानवीय दृष्टि है जो स्त्री या पुरुष किसी की भी हो सकती है। अपनी पुस्तक 'दुर्ग द्वारा पर दत्तक' में कात्यायनी ने स्त्री-विमर्श के स्वरुप को स्पष्ट करने की कोशिश की है। इन्होंने इस पुस्तक में नारी मुक्ति आन्दोलन को दबाने वाले पुरुषों की आलोचना तो की ही है दूसरी तरफ वे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के अर्थतन्त्र को भी बेनकाब करती हैं जो तीसरी दुनियाँ की स्त्रियों के सस्ते श्रम का दोहन कर रहा हैं। इनका मानना है कि घरेलू गुलामी यदि पारिवारिक स्तर पर स्त्री का शोषण कर रही है, तो बाह्य स्तर पर पूँजीपतियों के आर्थिक षड्यन्त्र में स्त्रियों का उत्पीड़न हो रहा है अतः भीतर और बाहर नारी सुरक्षा के घेरे में कहीं नहीं आती इसलिए नारी मुक्ति के गंभीर प्रश्नों पर विचार विमर्श पर वल देना आवश्यक है[1] अतएव स्त्रीविमर्श के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि स्त्रीविमर्श स्त्री एवं पुरुष के मध्य नकारात्मक भेद भाव के स्थान पर सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। इस संदर्भ में देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं तथा संभावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है। यह दृष्टि एक तरफ संपूर्ण सामाजिक जीवन को देखने और रचने का माध्यम बनती है तो दूसरी ओर साहित्य में स्त्री जीवन की जटिल वास्तविकताओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की शक्ति भी बनती है। वास्तव में स्त्री की चुनौती अपने समीकरण को छोड़कर पुरुष के समीकरण को पाना नहीं अपितु अपने सत्य में से वृहत सत्य की परिधि तक जाना है।

स्त्रीवादी विमर्श ने पितृसत्तात्मक मूल्यों, अवधारणाओं को चुनौती दी है तथा सदियों से चली आ रही स्वत्व हीनता एवं मौन को तोड़ा है। स्त्री-विमर्श के मानवीय सरोकार हैं इसीलिए वर्चस्वशाली पितृसत्ता चिंतित है तथा स्त्री-विमर्श के मानवीय प्रश्नों की उपेक्षा कर रही है।

स्त्रीविमर्श केवल स्त्री परिप्रेक्ष्य या दृष्टकोण ही नहीं है इसमें आधी दुनियाँ का आस्तित्व, उसकी अस्मिता, उसका भविष्य एवं उसकी आवश्यकताएँ सन्निहित हैं इसलिए स्त्री स्वत्व एवं अस्मिता के प्रति जागरूकता इस विमर्श को प्रखर बनाने में सहायक है। पितृसत्ता का स्त्रियों के सम्बन्ध में जो पूर्वाग्रह रहा है कि वे प्रतिभाहीन, अयोग्य एवं तर्कहीन होतीं हैं, उनके पास कोई ठोस रचनात्मक दृष्टि नहीं होती, वे पुरुषों पर आश्रित होतीं हैं, इन पूर्वाग्रहों के विपरीत स्त्री विमर्श ने अत्यन्त ही विचारोत्तेजक प्रश्न उठाये हैं और पितृक प्रतिमानों को पुनर्परिभाषित करते हुए रद्द कर दिया है।

स्त्री विमर्श बहुआयामी है। इसने समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, राजनीति, साहित्य आलोचना एवं काव्यशास्त्र की दुनियां में एक नवीन चर्चा प्रारम्भ की है, और यह स्पष्ट किया है कि यह स्त्री दृष्टि का नया परिप्रेक्ष्य है और पुरुष दृष्टि से पृथक है। सांस्कृतिक एवं पितृसत्तात्मक वर्चस्व का सबसे अधिक दबाव स्त्री पर ही रहा है अत: इस वर्चस्व का अस्वीकार ही स्त्री विमर्श का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसके अन्तर्गत स्त्री विमर्श ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि हमारे मानव मूल्य, मानव मूल्य न होकर पितृसत्तात्मक मूल्य ही है क्योंकि उनका स्वरूप पितृक है। अत: ये मूल्य मानवीय नहीं हो सकते इनके द्वारा स्त्रियों के हितों की रक्षा नहीं की जा सकती और इन मूल्यों के नामपर स्त्री का दमन एवं उत्पीड़न होता है। इस विमर्श को प्रखर बनाने का श्रेय फ्रांस की महान लेखिका सीमोन द वोउवार को जाता है। इन्होंने पुरुषसत्तात्मक समाज की व्यापक आलोचना की है, एवं स्त्री मुक्ति के लिए नवीन मार्ग प्रस्तुत किए हैं। महादेवी वर्मा की रचना 'शृंखला की कड़िया' इसी दिशा में स्त्री विमर्श है, जहाँ उनकी आलोचनात्मक दृष्टि को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कृष्णासोवती, उषाप्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, ज्योत्सना, महाश्वेता देवी, तथा मृदुला गर्ग का लेखन स्त्री विमर्श के स्वरूप को स्पष्ट रूप से उजागर करता है। इन लेखिकाओं की रचनाओं में स्त्री अस्मिता का सवाल व्यापक रूप से उभर कर प्रगट हुआ है।

स्त्रीवादी लेखिकाओं का मानना है कि स्त्री के स्वत्व, स्वत्वाधिकारों, चिंताओं एवं आकांक्षाओं को स्त्री जितने अच्छे से समझ सकती है उतना पुरुष नहीं क्योंकि-''पुरुष द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श बन सकता है, अधिक सत्य नहीं। विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है, परन्तु यर्थाथ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परन्तु नारी के लिए अनुभव अत: जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमे दे सकेगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरान्त शायद ही दे सके।''[1]

स्त्रीवादी लेखिकाओं ने स्त्री विमर्श के ''साहित्यिक विधान के प्रतिमानों को पुनर्परिभाषित किया है।........ कामना की रजनीति से परे जा कर इन्होंने पुरुष सत्ता में निहित एकांगी, श्रेणीबद्ध एवं प्रयोजन धर्मी सोच पर सवाल उठाये हैं और सत्य, सत्ता ज्ञान आत्मभाषा वावत सामाजिक विश्वासों को सशंकित नजरों से देखा है। .... औरतों का अपने स्वत्व का बोध हमारे लोकशाही के सयाने हो जाने से कम महत्वपूर्ण बात नहीं।[2]

स्त्री विमर्श के अन्तर्गत पारिवारिक मूल्यों एवं अनुशासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है क्योंकि स्त्रीवादी लेखिकाओं का मानना है कि भारतीय परिवारों की संरचना उत्पीड़नकारी दमनकारी एवं पितृक है। फलस्वरूप पारिवारिक संरचनाओं में पितृसत्ता का वर्चस्व है और परिवार के नियम, कानून एवं मान्यताएँ स्त्री को अनुकूलित करती हैं। अत: स्त्री विमर्श में परिवार की अवधारणा को नवीन परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। इनका मानना है कि स्त्री का सम्बन्ध घरेलू जीवन एवं पुरुष का बाह्य जगत से है अत: पुरुष का सम्बन्ध व्यक्तियों से हो गया और स्त्री का घरेलू जीवन से जुड़ जाने के कारण पितृकसमाज ने उसे जो उत्तरदायित्व प्रदान किए हैं उससे उसकी स्थिति निम्न स्तर की तथा पुरुष की स्थिति

---

1. शृंखला की कड़ियाँ — महादेवी वर्मा - पृष्ठ 74.

2. समकालीन भारतीय कविता और स्त्री - के. सच्चिदानन्द, पूर्वग्रह-104 पृष्ठ-51.

उच्च स्तर की हो गई, अतः स्त्री-विमर्श पितृसत्तात्मक समाज के प्रत्येक अन्तर्विरोध के बारे में पूरी सजगता के साथ विचार करता है। स्त्रीवादी लेखिकाओं का मत है कि पितृक समाज स्त्री को शील, नैतिकता, मर्यादा, मातृत्व के आदर्शों से अनुशासित करता रहता है अतः उसके उस निरंकुश मूल्यों को जाँचना एवं परखना अत्यन्त ही आवश्यक है, जो स्त्री को अनुशासित करते हैं तथा उसे अधीन बनाते हैं साथ ही स्त्री को वाणीहीन एवं अस्मिताहीन भी बनाते हैं। ऐसी स्थिति को परिवर्तित करना अत्यन्त ही आवश्यक है। स्त्री-विमर्श इस स्थिति का विरोध करता है और पुरुषसत्ता के वर्चस्व को चुनौती भी देता है।

स्त्री-विमर्श स्वतन्त्र दृष्टि से स्त्री के हक में संघर्ष करता है तथा पितृसत्ता के प्रतिमानों, नियमों, तथा सोचने की दृष्टि पर प्रश्नचिन्ह लगाता है एवं उसें रद्द कर के स्त्री विमर्श का प्रारम्भ करता है।

स्त्री-विमर्श ने पुरुषसत्ता द्वारा निर्मित साँचो जैसे- मर्यादा, निष्ठा, कर्तव्यपरायणता, नैतिकता, शील, मातृत्व, संस्कार अनुशासन आदि को समझा हैं और इन साँचो को मानव विरोधी, स्वतन्त्रता विरोधी एवं स्त्रीविरोधी सिद्ध कर दिया है और इन सांचों में ढलने का विरोध किया है। स्त्री विमर्श स्त्रियों को इन पितृसत्ता द्वारा निर्मित साँचों में न ढलने देता है और न ढलने की प्रेरणा देता है अपितु उन्हें तोड़ने का आग्रह करता है।

स्त्री विमर्श के अन्तर्गत स्त्री दृष्टि को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। स्त्रीवादी लेखन का मानना हैं कि पुरुष सृष्टि को अपनी दृष्टि से देखता है और रचना साहित्य में अभिव्यक्ति करता है परन्तु स्त्री की दुनियां उसकी समस्याएं, उसके सुख-दुख पुरुषों से भिन्न हैं फिर भी उनका पुरुष जगत् से अभिन्न सम्बन्ध है क्योंकि ये सुख-दुख पुरुषों द्वारा ही दिये गये हैं, परिणाम स्वरूप स्त्री विमर्श में स्त्रीलेखन पुरुषों द्वारा निर्मित की गयी समस्याओं चुनौतियों, वर्जनाओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्र दृष्टि से विचार-विमर्श करने लगा है।

स्त्री विमर्श के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक स्त्री लेखिकाओं की दृष्टि में गम्भीर अन्तर्विरोध है इसका मुख्य कारण यह है कि स्त्री होते हुए भी उनके पास स्त्री दृष्टि नहीं है

उनका लेखन एवं चिन्तन किसी न किसी रूप में यथास्थितिवादी है। स्त्री विमर्श के अन्तर्गत अपने विचार स्पष्ट करते हुए सुचेता मिश्रा कहती हैं कि "स्त्री दृष्टि भी उतनी ही विश्वव्यापी है, जितनी पुरुषों की, लेकिन जिसे पितृसत्तात्मक समाज कहते हैं उसके चलते उसे गंभीरता से नहीं लिया जाता इसलिए स्त्री की समाज में भूमिका और उसकी स्थिति की ढंग से पड़ताल करने की और उसके बरक्स स्त्रियों के सरोकार उनकी मूल्य दृष्टि, भाषा एवं लेखन शैली को सही-सही समझा जाना चाहिए।"[1] अतः स्पष्ट है कि स्त्री विमर्श वह चाहे कविता के माध्यम से हो रहा हो या कहानी, उपन्यास, आलोचना द्वारा उसका स्वागत किया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत स्त्री सम्बन्धी विभिन्न समस्यायें एवं प्रश्न उठाये गये हैं और उठाये जायेंगे। इसमें सदियों से चले आये मौन को गहरे मानवीय अर्थ प्रदान किये गये हैं एवं ऐसे तथा-कथित नैतिक सामाजिक मूल्यों पितृक मान्यताओं तथा व्यवस्थाओं को छिन्न भिन्न किया है जो स्त्रियों की चेतना को नियंत्रित, निर्धारित, अनुकूलित एवं अनुशासित करते हैं तथा उन्हें सांचों में ढालकर वाणीहीन एवं अस्मिताहीन बनाते हैं।

स्त्री विमर्श का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

विश्व के इतिहास में आज भी स्त्री चाहे वह पश्चिम के विकसित राष्ट्रों की हो अथवा पूरब के विकासशील राष्ट्रों की पितृसत्तात्मक समाज में वह उपनिवेश ही है। यही कारण है कि विश्व के इतिहास में स्त्री विमर्श का अपना महत्व पूर्ण स्थान रहा है। विकसित देश हो अथवा विकासशील स्त्रियों की स्थिति हमेशा उत्पीड़ित की ही रही है यही कारण है कि समकालीन स्त्री चिन्तन का विषय है- स्त्री एवं उसके जीवन की विभिन्न समस्याएँ। स्त्री विमर्श पारंपरिक ज्ञान और दर्शन को अस्वीकार करता आया है, ऐतिहासिक रुप से स्त्री पुरुष प्रधान समाज में रहती आयी है और सदैव पितृसत्ता के नियमों के अधीन एक उपनिवेश बन कर रह गई है। इतिहास में स्त्री ज्ञाता नहीं अपितु ज्ञान की वस्तु थी।

---

1. कविता स्वतन्त्रता और स्त्री — सुचेता मिश्रा पूर्वग्रह - 104 पृष्ठ-88.

वस्तुत: जो यथार्थ परक व वस्तुपरक ज्ञान है वह पितृक समाज द्वारा निर्मित एवं उत्पादित ज्ञान है और यही ज्ञान समाज के केन्द्र में स्थापित होकर अपने अस्तित्व को कायम रखे है परन्तु इसके विपरीत स्त्री-विमर्श स्त्री केन्द्रित ज्ञान का निरुपण करता है।

स्त्री विमर्श अथवा नारीवाद का धीरे-धीरे विकास हुआ है जैसे-जैसे स्त्री विमर्श का विकास हुआ इसके विभिन्न रुपों का निर्माण होता गया तथा इसकी विभिन्न शाखाएँ उत्पन्न हो गईं और समय के साथ स्त्री विमर्श कर्ताओं के दृष्टिकोण में भी व्यापक परिवर्तन आया। यही कारण है कि विभिन्न स्त्री विचारकों के प्रारंभिक लेखन में अस्पष्टता और विरोधाभास भी है। इन्होंने पारम्परिक दर्शन को स्त्रीविरोधी बताते हुए कहा है कि इसके द्वारा स्त्री के बौद्धिक प्रयास का अवमूल्यन किया गया है तथा स्त्री के निजी मूल्यबोध की भी अवहेलना की गई है। चूँकि पारम्पारिक दर्शन पुरुष केन्द्रित सोच तक ही सीमित रहा अतएव दार्शनिक चिंतन के जगत में स्त्री विमर्श एवं स्त्री को कोई स्थान न मिल सका। स्त्रीवादी लेखिकाओं का मानना है कि पुरुष अपनी दृष्टि से विश्व को जाँचते एवं परखते हैं। इतिहास में कुछ ऐसे दार्शनिक हुए हैं जैसे-प्लेटो, जॉन स्टुअर्ट मिल, मार्क्स आदि जिन्होंने स्त्री पुरुष को समकक्ष रखने की चेष्टा करके स्त्री-विमर्श की अवधारणा को महत्व दिया है। परन्तु इनमें से अधिकतर दार्शनिक जैसे-काण्ट, हीगेल, अरस्तू और नीत्से को स्त्री जाति की बौद्धिकता पर और उनकी तार्किक क्षमता पर गम्भीर अविश्वास एवं संदेह था। महान वैज्ञानिक देकर्ते का मानना था कि स्त्री की तर्क क्षमता पुरुषों की भाँति विकसित नहीं हो सकती। इस तरह से इन वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों ने सृष्टि को दो भागों में विभाजित कर दिया और-जीवन में जो कुछ भी वैयक्तिक और निजी था उसे स्त्री से सम्बन्धित कर दिया और उस पर पितृसत्ता का शासन स्थापित कर दिया।

वास्तव में यदि देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रीचिंतन विभिन्न दार्शनिकों की विचारधारा से ही संवर्धित हुआ है। स्त्री विचारकों ने स्त्री सम्बन्धी नवीन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया तथा स्त्रीजीवन के विभिन्न प्रसंगों के सम्बन्ध में ज्ञान, कर्म और यथार्थ का

लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया फलस्वरूप यह स्पष्ट हो गया कि स्त्रियों का समूह एक मिश्रित समूह है। स्त्रीमुक्ति के प्रसंग में इन दार्शनिकों के विचारों का उपयोग भी किया गया है। नीरीचिंतकों ने विभिन्न नारीवादी विचारधाराओं को अलग-अलग नाम दिए हैं अर्थात् स्त्री-विमर्श का ऐतिहासिक विकास विभिन्न रूपों में हुआ है जैसे उदार नारीवाद, मार्क्सवादी नारीवाद, मनोविश्लेषक नारीवाद, अराजक नारीवाद तथा सामाजिक नारीवाद। इन विभिन्न नारीवादी विचार धाराओं के माध्यम से स्त्री विमर्श का क्रमश: विकास होता गया।

स्त्री विमर्श के इतिहास में उदार नारीवाद का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उदारवादी विचारक ऐसी सामाजिक संरचना के पक्ष में थे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का महत्व हो तथा उन्हें समान सुविधा प्राप्त हो। अट्ठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक उनलस्टोंक्राफ्ट, हैरिएट टेलर तथा जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे नारीवादी विचारक उदार नारीवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। इन विचारकों ने पितृसत्तात्मक राज्य संरचना का व्यापक विरोध किया किन्तु पारिवारिक संरचना का विरोध न करने के कारण परिवार में पति का ही शासन था अत: व्यक्ति स्वतन्त्रता के प्रसंग में उदारवादी विचारधारा बाह्य दुनियां में ही लागू हो सकी और परिवार में पितृसत्ता की दलनकारी नीतियाँ वनी रहीं। उदार नारीवादी आन्दोलन 1960 में बेला अब्लेक्स, बैंटी फरीडन और एलिजावेथ हाउस मैंन द्वारा शुरू किया गया। इनकी मान्यता है कि स्त्रियों को प्रत्येक क्षेत्र में पितृसत्ता के अधीन कर दिया गया है तथा समाज उसे पुरुषों के बराबर सुविधाएँ प्रदान नहीं करता अन्यथा स्त्रियाँ भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ सकती हैं और पुरुषों की बराबरी कर सकती हैं।

अमेरिका में सबसे महत्वपूर्ण विषय था श्वेत और अश्वेत स्त्री के मध्य असमानता का इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट हो गया कि समाज में अधिकतर स्त्रियां न केवल पुरुष की तुलना में अपितु स्त्री की तुलना में भी समान नहीं हैं। अमेरिका में उदार नारीवादी आन्दोलन के फलस्वरूप स्त्रियों को कुछ अधिकार प्राप्त हुए परन्तु वे अधिकार मात्र श्वेत स्त्री तक ही

सीमित रहे। अतः आर्थिक एवं सामाजिक रूप से उदार नारीवाद मध्यमवर्गीय श्वेत स्त्री के अधिकार एवं कर्तव्य तक ही सीमित रह गया।

वामपंथी विचार-धारा का स्त्री विमर्श के विकास में ऐतिहासिक महत्व है। वामपंथी विचारधारा से प्रभावित स्त्रीवादियों जैसे- सीमोन द बोउवार, केट मिलेट, सुलामिथ फायरस्टोन आदि के विचार उदारपंथी सुधार वादियों से एकदम भिन्न थे और इन पर मार्क्सवादी विचार धारा का प्रभाव अधिक था इनका मत था कि स्त्री दलन का मुख्य कारण निजी सम्पत्ति की अवधारणा है अतः स्त्रीदलन का मुख्यकारण पितृसत्ता नहीं अपितु पूँजीवाद है, क्योंकि निजी सम्पत्ति की अवधारणा एक ऐसी व्यवस्था की जनक है जो कुछ व्यक्तियों के हाथों में संपत्ति और सत्ता दोनों दे देती है अतः यदि स्त्री को मुक्ति दिलानी है तो पूँजीवाद की स्थान पर मार्क्स वाद से प्रेरणा लेनी चाहिए। किन्तु आगे चल कर मार्क्सवाद नारीवाद का पर्याय नहीं बन पाया और न ही नारीवाद मार्क्सवाद की एक शाखा के रूप में स्थापित हो पाया मार्क्सवादी नारीवाद के अनुसार स्त्री श्रम द्वारा उत्पादन की दो प्रणालियाँ है एक बाह्य जगत में उत्पादन की दूसरे गृहस्थी में। गृहस्थी में स्त्री बिना किसी मूल्य के श्रम करती रहती हैं, किन्तु स्त्री श्रम के इसपक्ष का समाज आर्थिक मूल्यांकन नहीं करता, परिणाम स्वरूप स्त्री श्रम का शोषण होता है अतः स्त्री न केवल भावात्मक रूप से अपितु सामाजिक एवं आर्थिक रूप से भी ठगी जाती है मार्क्सवादी नारीवाद स्त्री श्रम के इस शोषण पर प्रकाश डालता है।

स्त्री के संदर्भ में मार्क्स का विचार था कि परिवार में पुनरुत्पादन के श्रम में लगी स्त्री पुरुष सत्ता का कभी विरोध नहीं करती। स्त्री, पितृसत्ता द्वारा प्रतिपादित विवाह संस्था को इसलिए स्वीकार करती है कि वो सुरक्षित रहे और जन्म देने के अतिरिक्त वह पुरुष की बीज रक्षा के रूप में संतान का पालन पोषण करती रहे, ताकि संतति को पुरुष की विरासत मिले।

मानवीय जरुरत एवं कामना के संदर्भ में उपर्यक्त विचारधारा एक संकीर्ण विचारधारा है क्योंकि वे स्त्री को शारीरिक रूप से असुरक्षित मानते थे अत: स्त्री के संतानोत्पत्ति सम्वन्धी विशिष्ट पारिवारिक योगदान को पहचान रहित छोड़ देना तथा परिवार को केवल पुरुष सत्ता द्वारा निर्धारित एकल सामाजिक सम्वन्ध के रूप में स्थापित करना स्त्री के साथ अन्याय है फलस्वरूप स्त्री मुक्ति आन्दोलन वर्ग संघर्ष से अलग हट गया और दो भागों में विभक्त हो गया। प्रथम का सम्बन्ध पारंपरिक मार्क्सवाद से था, जहाँ मार्क्सवादी अवधारणात्मक संरचना के भीतर ही स्त्रीमुक्ति की अवधारणा का विश्लेषण करना था और द्वितीय में वे स्त्री चिंतक थीं जो केवल सर्वहारा से अलग हट कर स्त्री की समस्या को विश्व मंच पर रखना चाहती थीं। इनके अनुसार स्त्री को पहचान तभी मिलेगी जब वह मंच पर अपने निजी जीवन की समस्याओं को अभिव्यक्त करें और इसी आधार पर राजनैतिक रूप से एकवद्ध होकर संघर्ष करें। दोनों धाराओं में विवाद का केन्द्रीय मुद्दा था पितृसत्ता।

स्त्री विमर्श के संदर्भ में सुलामिथ फायरस्टोन का विचार था कि स्त्री वास्तव में जन्म से ही स्त्रीकरण का शिकार है। स्त्री होने के लिए उसे पुरुषसत्ता का वर्चस्व स्वीकार करना पड़ता है। यह सत्ता द्वारा निर्धारित होने के लिए बाध्य है। सुलामिथ के इस विचार को उग्रनारीवाद के अन्तर्गत रखा जाताहै। यहीं से उग्रनारी वादी आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ।

मनोविश्लेषणात्मक नारीवादी विचारधारा के अन्तर्गत फ्रायडियन विचारधारा का विरोध किया गया है मनोविश्लेषण वादी नारी चिंतकों ने फ्रायड एवं युंग की विचारो को स्त्री के सन्दर्भ में नकारात्मक माना है इनका मत है कि स्त्री मानस के विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाताहै कि व्यक्ति की अस्मिता उसके अचेतन मन की स्थायी संरचना पर निर्भर है, जो जीवन में प्रारम्भिक तीन वर्षों के भीतर ही स्थायी एवं ठोस आकार ग्रहण कर लेती है। जब तक स्त्रियाँ अपने मनोजगत का सम्पूर्ण रूप से विश्लेषण नहीं कर लेतीं तथा नारीत्व की ठोस जड़ तथा परम्परागत भूमिकाओं को नहीं नकारतीं उनकी दयनीय स्थिति बनी रहेगी। नैन्सी सोडोरो, जेनफेलेक्स, तथा नेलशन गार्नर ने फ्रायड के मनोविश्लेषण सम्बन्धी विचार

को अमान्य घोषित कर के स्त्री के सन्दर्भ में नवीन अवधाणाएँ विकसित की हैं। एड्रियन रिच का मानना है कि पुरुष सत्ता अपनी शक्ति के द्वारा स्त्री पर इतरलिंगी व्यवस्था को आरोपित करती हैं। इसी व्यवस्था के माध्यम से पुरुष अपना शारीरिक, आर्थिक एवं भावनात्मक शोषण एवं वर्चस्व स्त्री पर लागू करता है।

अस्सी के दशक के पश्चात् विभिन्न स्त्री चिन्तको ने गृहस्थी एवं श्रम के भौतिक विश्लेषण के स्थान पर भाषा की संरचना, प्रतिनिधित्व का अधिकार, समस्या तथा सत्ता के विमर्श पर प्रश्न उठाए तथा विश्वस्तर पर समाजिक संरचना, पितृसत्ता एवं पूँजीवाद के विश्लेपण के बदले विभिन्न संस्कृतियों के विमर्श, विचारधारा और मनोविश्लेपण को प्रस्तुत किया।

कालान्तर में स्त्री विमर्श प्रतीक एवं भाषा की संरचना के स्थान पर सत्ता के विमर्श की ओर बढ़ने लगा। इन नारीवादियों का मत था कि विचारधारा की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि सत्य तो केवल विमर्श का परिणाम है किसी की कोई भी विचारधारा हो सकती है और एक विचार की तुलना में दूसरे विचार को सच या झूठ सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इनका मानना था कि मार्क्सवाद जिस वैज्ञानिक पद्धति को व्यक्त करता है वह उनका व्यक्तिगत सत्य हो सकता है, सार्वभौमिक सत्य नहीं अतएव दलन एवं उत्पीड़न के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के लिए भौतिक जगत निर्धारक तत्व नहीं रहा फलस्वरूप स्त्री विमर्श से सम्बन्धित नारीवादियों का झुकाव धीरे-धीरे संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद तथा उत्तर आधुनिकता वाद की तरफ हो गया। स्त्रीवादी विचारक जूडिथ बटलर ने स्त्री को एक संरचना के रूप में संबोधित किया तथा जुलिया क्रिस्तेवा ने स्त्रीत्व व स्त्रियोचित स्वभाव को स्पष्ट करते हुए कहा कि परिधि पर रहना स्त्री की नियति हैं वह हमेशा निषेध अर्थात जो वह नहीं है के द्वारा व्याख्यायित होती रहती हैं। स्त्री प्राकृतिक संरचना नहीं अपितु सत्ता की एक सामाजिक संरचना है। स्त्री बौद्धिकों, श्रमिकों, अश्वेत पुरुषों की भाँति परिधिकृत है और यही कारण है कि क्रान्ति की संभावना बनी रहती है।

धीरे-धीरे उत्तर आद्योगिकवाद, उत्तर मार्क्सवाद, उत्तर मानववाद और स्त्री विमर्श सम्बन्धी आन्दोलनों के विकास में उत्तरनारीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। उत्तर नारीवादी विचारधारा की समर्थक गायत्री स्पीवाक (1988), तथा बुडलेक्सी का मुख्य स्थान है। इनका मत है कि उत्तर औपनिवेशिक दुनिया में स्त्रीकरण से उत्पन्न जटिल समस्याओं का सामना केवल उत्तर आधुनिक तरीके से ही किया जा सकता है। उत्तर आधुनिकतावाद का तर्क है कि कला, मूल्यबोध, नीतिशास्त्र और विज्ञान को अलग-अलग संवर्गों में विभक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि विज्ञान वस्तुपरक नहीं है वैज्ञानिक अन्वेषण में व्यक्ति का दृष्टिकोण अन्तर्निहित है।

उत्तर आधुनिकता वाद के विपरीत सिल्विया वॉलवाई ने संस्कृति की भिन्नता को स्वीकार किया और यह स्पष्ट किया कि स्त्री को जाति और वर्ग से तोड़ा नहीं जा सकता। वॉलवाई स्वीकार करती है कि स्त्री - पुरुष के सम्बन्ध सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रुप से परिवर्तनशील हैं। भिन्न होते हुए भी यदि आपस में वे असमान हैं, वंचित हैं तोअसमानता पर प्रकाश डालना चाहिए।

इतिहास में स्त्री-विमर्श के परिप्रेक्ष्य को समझने के पश्चात निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि स्त्री की स्थिति वह चाहे पश्चिम की हो अथवा तीसरी दुनियां की आज भी बड़ी भंगुर है। यद्यपि नारीवाद किसी निरपेक्ष ज्ञान के एकल आधार को स्वीकार नहीं करता किन्तु अस्वीकृति का यह अर्थ नहीं कि उत्पीड़न की प्रक्रिया को अनदेखा कर दिया जाए अत: नारीवाद स्त्री की पहचान को निर्मित करने वाली ऐतिहासिक प्रगति में विश्वास रखता है।

समाज में स्त्री की जगह :

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न प्रकार की रही है जिस प्रकार अतीत से वर्तमान तक की काल यात्रा में उत्पादन पद्धति और सामाजिक

उपयोगिता में स्त्री के कम या अधिक महत्व के साथ उसके सामाजिक दर्जे में भी उतार चढ़ाव आते रहे हैं उसी प्रकार उस पर समाजिक वर्जनाओं के प्रतिबन्ध भी कम या अधिक होते रहे हैं । काल व स्थान की विभिन्नताओं के बावजूद भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान माँ एवं दैवी शक्ति के रूप में हमेशा ऊँचा रहा है भारतीय समाज की उपासना पद्धतियों में एवं देवी अर्चन आदि हर स्थिति माँ के प्रति समादर व समतामूलक भावना दृष्टिगोचर होती है। भारतीय समाज की लोकसंस्कृति में सभी जगह देवी पूजन के जो रूप दृष्टिगोचर होते हैं उससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे समाज में किसी समय मातृ सत्तात्मक व्यवस्था रही होगी। कहीं-कहीं वैदिक, पौराणिक एवं मध्यकालीन साहित्य में इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं और किन्हीं आदिम जातियों में तो आज भी यह व्यवस्था देखी जा सकती है किन्तु वेदकालीन समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही दृष्टिगोचर होती है। वैदिक समय में स्त्री को शक्ति, ज्ञान एवं सम्पत्ति के प्रतीक के रूप में देखा गया है और उसे क्रमशः दुर्गा, सरस्वती एवं लक्ष्मी के रूप में माना गया। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। इस सन्दर्भ में ''ऐसी मान्यताओं को यथार्थ की कसौटी पर कसना आवश्यक है। यदि यह स्वीकार कर लें कि प्राचीन युग में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी तथा उसका स्थान ऊँचा था तो उसकी उच्चता के प्रेरक तत्व कौन कौन से थे तथा उसका ह्रास कब और कैसे हुआ, यह समझने के लिए इतिहास पर दृष्टिपात करना अनिवार्य है।''[1]

भारतीय इतिहास में स्त्रियों की स्थिति दीर्घ समय से चर्चा का विषय रही है स्त्रियों की स्थिति से सम्बन्धित विवाद का कारण यह नहीं है कि जैविकीय या मानसिक रूप में उसे दोषपूर्ण माना जाता रहा है, अपितु इसका प्रमुख कारण समाज की पवित्रता सम्बन्धी संकीर्ण विचारधारा है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने स्त्री में ऐसी नैसर्गिक कमियाँ देखीं हैं जिसके कारण वे स्त्रियों का स्तर पुरुषों के समकक्ष होने से अस्वीकार करते हैं । फ्रायड,

---

1. भारतीय समाज में नारी-नीरा देसाई, पृष्ठ -1.

काण्ट, हीगेल, नीत्से आदि पश्चिमी विचारकों ने स्त्रियों की बौद्धिक एवं तार्किक क्षमता पर गहरा संदेह व्यक्त किया है, परन्तु भारत की मौलिक सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त है तथा स्त्री को पुरुष की 'अर्धांगनी'' के रूप में स्थान दिया गया है, जिसके बिना किसी कर्तव्य की पूर्ति नहीं की जा सकती।

जहाँ वैदिक युग में स्त्रियाँ सम्मानजनक जीवन व्यतीत करती थीं वहीं वैदिक और उत्तर वैदिक युग के पश्चात समाज की मौलिक व्यवस्थाएं रूढ़ियों के रूप में परिवर्तित होने लगी और फलस्वरूप स्त्रियों के स्वाभाविक गुण जैसे लज्जा, दया, ममता, त्याग एवं स्नेह आदि को उनकी दुर्बलता का प्रतीक माना जाने लगा और इन्हीं स्त्रियोचित गुणों का आश्रय लेकर उनका शोषण प्रारम्भ होगया। पुरुष ने शक्ति के लोभ में स्त्री को पारिवारिक अधिकार से वंचित कर दिया परिणामस्वरूप पुराण युग तथा मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति में अवनति हुयी तथा कालान्तर में, विदेशी आक्रमण, गुलामी और उनसे उत्पन्न मूल्यों के विघटन, अशिक्षा, अज्ञान, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के कारण स्त्री की स्थिति लगातार गिरती रही और वह पुरुषों की दासी मात्र बन कर रह गयी। विभिन्न कालों में स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अनुशीलन किये बिना वर्तमान संदर्भ में स्त्रियों की स्थिति को नहीं जाना जा सकता अत: स्त्रियों की गिरती हुयी स्थिति को समझने के लिए विभिन्न कालों में स्त्रियों की दशा को समझना आवश्यक है।

वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति :

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह पता चलता है कि इस युग में स्त्रियों की स्थिति बहुत उत्तम थी । वेदयुगीन नारी समाज में पूज्य मानी जाती थी। वैदिक समाज भारतीय इतिहास का सर्वाधिक आदर्श समाज रहा है, जिसमें नारियों के द्वारा समस्त अधिकारों का पूर्णता के साथ उपभोग किया जाता था। इस युग में चाहे घर हो अथवा परिवार हर जगह नारी की स्थिति बहुत ही अच्छी थी। शिक्षा के क्षेत्र में भी वे बहुत आगे थीं।

'यजुर्वेद' में स्त्री को 'सोमपृष्ठा' कहा गया है। ऋषिकाल में वेदमंत्रों का अर्थ बताने वाली स्त्रियां थी जैसे- लोपामुद्रा, श्रद्धा सरमा, रोमशा, विश्ववारा, अपाला, घोषा, यमी आदि । इस युग में बालिकाओं के लिए शिक्षा ग्रहण करना उतना ही आवश्यक था जितना बालकों के लिए।

आत्मिक विकास के क्षेत्र में भी स्त्रियाँ पुरुषों के समकक्ष स्थान रखती थीं अध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ धार्मिक अनुष्ठानों में भी स्त्री को पुरुष के बराबर का अधिकार था। स्त्री के अभाव में कोई धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न नहीं होता था। वैदिक युगीन विवाह का उद्देश्य मुख्य रूप से गृहस्थ धर्म का पालन, धर्मानुष्ठान, यज्ञ सम्पादन और श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति था। ऋगुवैदिक काल में योग्य कन्या सुख का कारण मानी जाती थी, फिर भी वेदपुराणों में स्त्रियाँ पुत्र प्राप्ति की कामना करती हुई दृष्टिगत होती हैं।[1]

वैदिक समाज में यद्यपि कन्या को भी पुत्रवत स्नेह एवं आदर प्राप्त था, तथापि कन्या जन्म के समय पुत्र जन्म के समान संस्कारों का सम्पादन नहीं होता था।[2]

पितृसत्तात्मक होने के कारण वेदकालीन समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र को वरीयता दी जाती थी। धार्मिक मान्यताओं के अनुसार पुत्र को ही श्राद्ध तर्पण आदि करने का अधिकार प्राप्त था परन्तु इस युग में पुत्र-पुत्री के पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा में भेदभाव नहीं किया जाता था। लड़कियों को वेद के पठन-पाठन एवं उच्च शिक्षा से वंचित नहीं किया जाता था। आजीवन कुमारी रहने की इच्छा रखने पर पिता की सम्पत्ति में से पुत्री को उत्तराधिकार दिया जाता था। ज्ञानार्जन में जीवन व्यतीत करने वाली ऋषिकाएं बनने वाली कुमारिकाएं ब्रहम्वादिनी कहलाती थीं। वे वेद अध्ययन के साथ अध्यापन भी करती थी यज्ञ

---

1. ऋगवेद : 3/53/4

2. ऋगुवेद : 10/85/45, 1/164/33, 1/85/25

कर्म भी करवाती थी। ऋगुवेद के अनेक सूत्रों की रचना इन ऋषिकाओं द्वारा की गयी है। डा0 उमादेश पाण्डेय के अनुसार- ''वैदिक युग में केवल ऋगुवेद में ही सत्ताइस कवियित्रियों के उल्लेख मिलते हैं: जिनमें घोषा, विश्ववारा, अपाला, अदीति. जुहू. उर्वशी. लोपामुद्रा, श्रद्धा मेधा, यमी आदि मुख्य हैं।''[1]

इस काल में पति-पत्नी के सम्बन्ध समता, घनिष्ठता एवं माधुर्य भाव से पृरित थे फिर भी पितृप्रधान समाज में पति की प्रभुता ही मानी जाती थी। इस सन्दर्भ में ए0 एस0 अल्तेकर का मानना है कि ''तदयुगीन समाज में पत्नी की पति के प्रति अधीनता आदर भाव से पृरित थी। इस अधीनत्व के बावजूद पत्नियाँ तदयुगीन गृहों का आभूषण मानी जाती थी।''[2] तथा ''पत्नी ही पूरे गृह का संचालन करती थी एवं दास आदि लोगों को उचित कार्यों में प्रवृत्त करती थी।''[3]

वेदयुगीन नारी मातृ रूप में देवी की भाँति पूज्य थी पत्नी को ''जाया'' का अभिधान प्रदान कर आर्य मनीषियों ने नि: सन्देह नारी को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया था। वेद युग में पर्दा प्रथा का पूर्णतया अभाव था। कन्याएं निर्मुक्त होकर अध्ययन करती थीं और अध्यापन क्षेत्र भी अपनाती थी। स्त्रियां खुली आम सभाओं में भाग लेती थीं। वेदयुगीन शैक्षिक सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए पी0 एन0 प्रभु कहते हैं कि ''जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था, स्त्री पुरुष में कोई भेद न था और इस युग में दोनों की सामाजिक स्थिति समान रूप से महत्वपूर्ण थी।''[4]

---

1. ''द ग्लिम्सेज ऑफ इण्डोलोजिकल हेरिटेज'' : डा० उमादेश पाण्डेय पृष्ठ -1.
2. ए0 एस0 अल्तेकर - वूमेन इन हिन्दू सिविलइजेशन पृ0 93.
3. वही, पृष्ठ - 94.
4. हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन पी0 एन0 प्रभू पृ0 258

वैदिक युग में पर्दा प्रथा बाल विवाह, आदि कुरीतियों का पूर्णतया अभाव था। इस युग में विधवाएं यातनामय जीवन नहीं जीती थी अपितु वे समस्त सुविधाओं का उपभोग करती थीं उन्हें पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त था।'' ऐतरेय ब्राह्मण 3/23 ।

अतएव कहा जा सकता है कि वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक सुदृढ़ थी। इसयुग में स्त्रियों सम्बन्धी रूढ़ियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था अतः स्त्रियों की स्थिति के सन्दर्भ में यह युग भारत के इतिहास का स्वर्णिम युग तथा नारी के उत्थान में पराकाष्ठा का युग कहा जा सकता है।

उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति :

सन् 600 बी0 सी0 से सन् 300 ए0 डी0 तक का समय उत्तर वैदिक काल के नाम से जाना जाता है। डा0 ए0 एस0 अल्तेकर ने उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि ''पुरुषों के युद्ध कार्य में संलग्न रहने के कारण इस काल में नारी कृषि, युद्ध-सामग्री का निर्माण तथा अन्य आर्थिक एवं व्यावसायिक कार्यों में नियोजित रहती थीं और इस प्रकार समाज की उपयोगी सदस्याएँ होने के कारण समाज में उनका समुचित आदर एवं स्थान था।''[1] इस समय भी स्त्रियों को धार्मिक एवं वैवाहिक जीवन में काफी स्वतंत्रता थी फिर भी इस युग में पुत्री की अपेक्षा पुत्रागमन को अधिक मांगलिक एवं सुखद माना जाता था मगर पुत्री को भी सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। स्त्री के महत्व के संदर्भ में यह कहा जाता था कि ''जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवताओं का निवास होता है। तथा इनकी अनुपस्थिति में सभी कार्य पुण्यरहित हो जाते हैं।''[2]

---

1. द पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिन्दू सिविलाईजेशन : डा0 ए0 ए0 अल्तेकर पृ0 342,343

2. महाभारत: अनुशासन पर्व : 46/5

इस युग में सती प्रथा का पूर्णाभाव था तथा विधवा स्त्रियाँ सम्मान की दृष्टि से देखी जातीं थीं। घर में रह कर विधवा स्त्री संयमित एवं अनुशासित जीवन जीती थीं।[1]

इस युग की स्त्रियाँ पर्दा प्रथा तथा अन्य कुरीतियों से प्रभावित नहीं थीं। स्त्री का स्थान समाज में भार्या के रूप तो प्रतिष्ठित था ही साथ ही उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान माता के रूप में मिला। धार्मिक, सामाजिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में वह पूर्ण स्वतंत्र थी ।

''महाकाव्य युगीन समाज में नारी का स्थान धीरे धीरे परिवर्तित होने लगा[2] उत्तर वैदिक काल में गृहलक्ष्मी के रूप में पत्नी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। पुत्र पौत्र नौकर चाकर आदि से सम्पन्न घर पत्नी के अभाव में जंगल समान माना जाता था।[3] कन्या को प्रारम्भ से ही पतिव्रता बनने की शिक्षा दी जाती थी। पत्नी पति के धार्मिक कार्यों में साथ देती थी[4] पत्नी पति के समस्त सुख-दु:ख की सहभागिनी मानी जाती थी पति के प्रति पत्नी का प्रेम नि:स्वार्थ एवं मधुर होना आवश्यक था । पत्नी का आदर्श रूप महाभारत के अनुशासन पर्व में विस्तृत रूप से वर्णित है।[5] पत्नी घर की शोभा एवं आभूषण मानी जाती थी। परिवार में उसका सम्मान किसी देवी से कम नहीं होता था। परन्तु देवी जैसा सम्मान पाने के लिए पत्नी को पतिव्रता और आदर्श गृहणी बनना होता था।[6]

इसी समय जैन एवं बौद्ध धर्म का उदय हुआ। इन धर्मों में भी स्त्रियों का स्थान अत्यन्त ही सम्मानजनक था परन्तु कालान्तर में जैसे -जैसे इन धर्मों का पतन हुआ स्त्रियों

---

1. बोधायन धर्मसूत्र: 2/2/66-68
2. वीना मजूमदार : सिंबल ऑफ पॉवर : पृष्ठ 8
3. महाभारत : 12/144/6
4. महाभारत : 13/140/34
5. महाभारत : 13/123
6. महाभारत : 13/46/5

को स्थिति में भी गिरावट प्रारम्भ हो गयी। डा0 अल्तेकर का मत है कि "आर्य गृहों में अनार्य स्त्रियों के प्रवेश से स्त्रियों की स्थिति में अवनति का प्रारम्भ हुआ। यह अवनति ईसा पूर्व 1000 वर्ष से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे अति सूक्ष्म रूप से बढ़ती गई लगभग 500 वर्षों के बाद उसके लक्षण स्पष्ट रूप से सामने आने लगे।"[1]

अतएव उत्तर वैदिक काल की नारी वैदिककाल की नारी की अपेक्षा अपनी स्थिति से कुछ नीचे आ गई, परन्तु मध्यकाल की अपेक्षा उसकी स्थिति फिर भी ऊँची थी। वस्तुत: मनुस्मृति में सर्वप्रथम स्त्रियों की स्वतंत्रता पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये। उन्हें वेद के अध्ययन और यज्ञ क्रिया से रोक दिया गया तथा उनके अनेक सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल के अन्तिम वर्षों में स्त्रियों की स्थिति में अवनति का प्रारम्भ हो गया था।

धर्मशास्त्र काल में स्त्रियों की स्थिति :

भारतीय इतिहास में ईसा के पश्चात तीसरी शताब्दी से लेकर 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के समय को "धर्मशास्त्र काल" के नाम से जाना जाता है। इस काल में याज्ञवल्क्य संहिता, विष्णु संहिता और पराशर संहिता की रचना हुई। इसमें वैदिक नियमों की पूर्णरूप से उपेक्षा की गयी और सामाजिक एवं धार्मिक व्यवहार में मनुस्मृति को प्रधानता दी जाने लगी। यह काल धार्मिक एवं सामाजिक संकीर्णता का काल था और स्त्रियाँ भी इस संकीर्ण विचार धारा का शिकार बनी और फलस्वरूप उनकी स्थिति में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। इस काल में स्त्रियों की स्थिति के संदर्भ में डा0 उमा शुक्ल का मत है कि "स्त्री के दिव्य गुण धीरे-धीरे उसके अवगुण बनने लगे। साम्राज्ञी से वह धीरे-धीरे आश्रिता बन गयी। जो स्त्रियाँ वैदिक युग में धर्म का और समाज का प्राण थी, उन्हें

---

1. द पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन : डा0 ए0 एस0 अल्तेकर पृ0 345

श्रुति का पाठ करने के अयोग्य घोषित किया गया। वैदिक युग का दृष्टिकोण जो स्त्री के प्रति दिव्य कल्पनाओं तथा पुनीत भावनाओं से परिवेष्टित था, अब पूर्णतया बदल चुका था। यह युग तो जैसे स्त्रियों की गिरावट का युग था। उनके मानसिक तथा आत्मिक विकास के द्वारों पर ताले लगा दिये गये। उनकी साहित्यिक उन्नति के मार्ग पर अनेकों प्रतिबन्ध लगा दिये गए''[1] मनुस्मृति में तो यहाँ तक कह दिया गया कि स्त्रियाँ कभी भी स्वतंत्र नहीं रह सकतीं बचपन में वे पिता के अधिकार में, युवावस्था में पति के वश में तथा वृद्धावस्था में पुत्र के नियंत्रण में रहती हैं। [2]

''इस काल में स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी '' से ''याचिका'' के रूप में दिखाई देने लगीं। ''माता'' के रूप में सम्मानित होने वाली स्त्री का स्थान ''सेविका'' ने ले लिया। जीवन और शक्ति प्रदायिनी देवी अब निर्बलताओं का प्रतीक बन गयी। स्त्री जो किसी समय अपने प्रबल व्यक्तित्व के द्वारा साहित्य एवं समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थीं, अब परतन्त्र, पराधीन, निस्सहाय और निर्बल बन चुकी थीं।''[3] मनुस्मृति के समय से यह स्थापित हो गया कि पति की मृत्यु के पश्चात उसकी सम्पत्ति पर उसकी विधवा का कोई अधिकार नहीं होगा, उसे पूर्णतया अपने परिवार वालों या अपने बेटों पर निर्भर रहना पड़ता था। 'स्त्री शूद्रोनाधीयताम' जैसे वाक्य रचकर उसे शूद्र की कोटि में रख दिया गया। स्त्री को विवाह संस्कार के अतिरिक्त और सभी संस्कारों से वंचित कर दिया गया। इसकाल में कन्या के विवाह की आयु सीमा निर्धारित कर के 10 वर्ष और अधिक से अधिक 12 वर्ष तक की कर दी गई। विवाह पूर्णतया पिता का दायित्व हो गया जिसमें कन्या की इच्छा का कोई

---

1. भारतीय नारी : अस्मिता की पहचान : डा० उमा शुक्ल: पृष्ठ 14.
2. पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।

   रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न सन्ति स्वातन्त्र्यमर्हति॥ मनुस्मृति 9/3
3. स्त्रियों की स्थिति : चन्द्रावती लखनपाल: पृष्ठ – 25

महत्व नहीं था। कुलीनता की दोषपूर्ण धारणा के परिणामस्वरूप बहुपत्नी विवाह का प्रचलन बढ़ा।

धर्मशास्त्र काल ने स्त्रियों की स्थिति के पतन में आधारभूत भूमिका निभाई। इस काल में शास्त्र कारों ने स्त्रियों की सामाजिक, पारिवारिक तथा धार्मिक स्थिति को कमजोर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस प्रकार तीसरी शताब्दी मे ग्यारहवीं शताब्दी तक धर्मशास्त्र के काल में स्त्रियों की सामाजिक-धार्मिक अवस्था निरन्तर गिरती गई।

मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति :

ग्यारहवीं शताब्दी से अट्ठारहवीं शताब्दी तक के समय को इतिहास में मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। इस काल में स्त्रियों की स्थिति में जितना पतन हुआ उतना अन्य किसी काल में नहीं । बाल विवाह, पर्दा प्रथा, तथा अविद्या का अंधकार स्त्रियों के लिए अभिशाप बन गया था। स्वेच्छाचारिता तथा अमानुपिकता की पराकाष्ठा हो गई थी। चूँकि मुसलमानों के आक्रमण के साथ ही मध्यकाल का प्रारम्भ हुआ, अत: विधर्मियों ने हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा करने के नाम पर स्त्रियों पर विभिन्न निर्योग्यताएं आरोपित कर दी गईं। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। इस युग के स्मृतिकारों ने इस बात पर बल दिया कि पत्नी के लिए सबसे वड़ा धर्म पति की सेवा है। इस काल में पॉच या छ: वर्ष की अबोध कन्याओं के भी विवाह होने लगे। यही नहीं रक्त की शुद्धता के नाम पर बाल विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। मुसलमानों की देखादेखी हिन्दुओं में भी पर्दा प्रथा ने भीषण रूप धारण कर लिया और स्त्रियों का कार्यक्षेत्र सीमित होकर घर की चारदीवारियों में कैद हो गया। विधवाओं को पुनर्विवाह से वंचित कर दिया गया। सती प्रथा का प्रचलन दिन पर दिन बढ़ने लगा। मुगल साम्राज्य के पतन के पूर्व भारत में मुस्लिम हमलों व मुस्लिम राज्य के प्रभाव से हिन्दू स्त्रियों परअधिकाधिक सामाजिक बन्धन लगे तथा उन पर असंख्य निर्योग्यताएं थोप दी गईं। बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध

विधवाओं की अमंगल सूचक अभिशापित स्थिति, सती प्रथा की अनिच्छुक विधवाओं को भी जवरदस्ती सती होने के लिए बाध्य करना, जौहर के लिए हजारों स्त्रियों का एक साथ चिता में कूद पड़ना, पर्दा प्रथा के कारण बालिकाओं को शिक्षा से वंचित कर देना आदि के कारण अशिक्षा और अंधविश्वास में जकड़ी नारी पूर्णरूपेण पुरुषों का गुलाम बन गई इस युग में भारतीय समाज में नारी की स्थिति में जितना अधिक पतन हुआ उतना उसके पूर्व हजारों वर्षों में भी नहीं हुआ था।

स्वतंत्रता पूर्व नारी की स्थिति :

अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से स्वतंत्रता के पहले तक भारत में अंग्रेजों का शासन था। अंग्रेजी शासनकाल में भारतीयों द्वारा समाज सुधार के अनेक प्रयत्न किए गए लेकिन सरकार की ओर से स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने के कोई व्यावहारिक प्रयत्न नहीं किए गए। सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने, स्वतंत्र रूप से अपने अधिकारों की मांग करने और व्यावहारिक नियमों में किसी प्रकार का परिवर्तन करने का अधिकार नहीं था। उन्हें शिक्षा प्राप्ति का भी अधिकार नहीं था। बाल विवाह एवं पर्दा प्रथा के कारण स्त्री शिक्षा की प्रवृत्ति अधिक बलवती नहीं थी । स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक स्त्रियों में साक्षरता केवल छः प्रतिशत थी। शिक्षा से वंचित होने के कारण सामान्य भारतीय नारी की सामाजिक राजनैतिक भूमिकाओं का कोई प्रश्न नहीं उठता था। उसकी भूमिका गृह कार्यों तक ही सीमित रह गयी थी एवं स्त्रियों को विवाह विच्छेद का अधिकार भी नहीं प्राप्त था। सन 1937 के पूर्व तक आर्थिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था। स्त्री धन के अलावा परिवार की संपत्ति पर भी उन्हें कोई अधिकार नहीं था। सर्वप्रथम सन 1924 में हर विलास शारदा ने स्त्रियों के समानाधिकार को लेकर प्रस्ताव पेश किया था जो सन 1937 में शारदा बिल के नाम से पारित हुआ। जिसमें स्त्रियों को अपने पति की सम्पत्ति में अधिकार देने की बात थी। इस प्रकार ब्रिटिश काल में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी न थी। मगर इस समय विभिन्न समाजसुधारकों द्वारा

चलाये गये आन्दोलनों के माध्यम से उनके जीवन स्तर में सुधार लाने का सफल प्रयास किया गया।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में नारी की स्थिति :

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात स्त्रियों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। यद्यपि स्वतंत्रता के पूर्व विभिन्न समाज सुधारकों एवं सुशिक्षित लोगों ने धार्मिक-सामाजिक आन्दोलनों द्वारा स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का प्रयास किया फलस्वरूप बाल विवाह, अशिक्षा, वैवाहिक कुरीतियों एवं जाति प्रथा का निषेध किया गया और विधवा विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन कर समाज में स्त्रियों की स्थिति सुधारने का सफल प्रयास किया गया लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात स्त्रियों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में व्यापक परिवर्तन हुआ है। डा0 श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण, लौकिकीकरण और जातीय गतिशीलता को इन परिवर्तनों का प्रमुख कारण माना है।[1] आधुनिक काल में स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने तथा औद्योगीकरण के फलस्वरूप उन्हें आर्थिक जीवन में प्रवेश करने के अवसर प्राप्त हुए फलस्वरूप स्त्रियों की पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता कम हो गई।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारतीय नारियों ने जितनी प्रगति की है, अपने राजनीतिक व सामाजिक अधिकारों के लिए उन्होंने जो महान संघर्ष किया है वह मानवीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। स्वतंत्रता के पश्चात विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आया और विभिन्न क्षेत्रों में उनकी स्थिति में प्रगति हुई ।

स्वतंत्रता के पश्चात स्त्री शिक्षा में व्यापक प्रगति हुई 1942 में जहाँ के 2,054 स्त्रियाँ थी जो लिख पढ़ सकती थी वहीं 1981 की जनगणना के अनुसार साक्षर स्त्रियों की संख्या बढ़ कर 7 करोड़ 91 लाख से भी अधिक हो गयी। लड़कियों के लिए आज कला, विज्ञान

---

1. कास्ट इन माडर्न इण्डिया - डा0 एम0 एन0 श्रीनिवास पृ०- 12

के अतिरिक्त गृह विज्ञान, हस्तकला, शिल्पकला और संगीत की शिक्षा प्राप्त करने की भी सुविधाएं हैं। मेडिकल कालेजों में लड़कियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है बाल विवाह और पर्दा प्रथा जैसी कुरीतियाँ लगभग समाप्त प्राय हैं।

स्वातंन्त्र्योत्तर भारतीय समाज में शिक्षा औद्योगीकरण और नवीन विचारधारा के कारण स्त्रियों की पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता लगातार कम होती जा रही है। स्वतंत्रता के पश्चात वड़ी संख्या में मध्यमवर्ग की स्त्रियों ने शिक्षा प्राप्त कर आर्थिक क्षेत्रों की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया। आज शिक्षा स्वास्थ्य, चिकित्सा, समाज कल्याण, मनोरंजन, उद्योगों ओर विभिन्न कार्यालयों में स्त्री कर्मचारियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है और आर्थिक स्वतंत्रता मिल जाने के परिणाम स्वरूप उनके आत्म विश्वास, कार्यक्षमता और बौद्धिक स्तर में भी वृद्धि हुई है।

इस काल में स्त्रियों की पारिवारिक स्थिति में भी क्रमशः सुधार आया और स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की दासी से ऊपर उठकर उसके सहयोगी की हो गई। इस काल में स्त्री अपने अधिकारों का पूर्ण उपभोग करने के लिए प्रयत्न शील रही है और वच्चों की शिक्षा, पारिवारिक आय, के उपयोग संस्कारों का प्रवन्ध तथा पारिवारिक योजनाओं के रूप का निर्धारण करने में स्त्री की इच्छा का महत्व निरन्तर बढ़ता गया। स्वतंत्रता के पश्चात स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है यथा राजनीति में स्त्रियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। स्वतंत्रता पश्चात 1957 के चुनाव में स्त्रियों के लिए 41 सीटें सुरक्षित थीं मगर केवल 10 स्त्रियों ने ही चुनाव में भाग लिया। 1967 में राज्यों की विधानसभाओं के लिए 342 स्त्रियाँ चुनाव में खड़ी हुईं और 195 निर्वाचित हुईं। जहाँ 1977 के आम चुनाव के पश्चात राज्य सभा और लोकसभा में स्त्री सदस्यों की संख्या 42 थी वहीं 1980 के आम चुनाव के बाद यह संख्या बढ़ कर 54 हो गयी। ये परिणाम स्त्रियों में बढ़ती राजनैतिक जागरूकता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

स्त्रियों में सामाजिक जागरूकता की भावना में निरन्तर वृद्धि हुई है जिन रूढ़ियों को स्त्रियों ने अपनी अज्ञानता के कारण अपने जीवन का आदर्श बना रखा था उन रूढ़ियों के प्रति अधिकांश स्त्रियों की उदासीनता बढ़ती जा रही है। ग्रामीण स्त्रियों के जीवन में इस प्रकार की जागरूकता का प्राय: अभाव दृष्टिगोचर होता है परन्तु ग्रामीण स्त्रियों के जीवन में भी कुछ सुधार हुआ है, मगर शिक्षा का पूर्ण रूप से प्रसार न होने के कारण परंपरागत रूढ़ियों के बन्धन तोड़ने में ग्रामीण स्त्रियाँ अधिक सफल नहीं हो सकी हैं। नगरीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप उनके विचार एवं चेतना में परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी है।

आधुनिक भाव बोध में नारी की स्थिति :

बीसवीं शताब्दी में नारी के अनेक रूप सामने आये। शिशु के डगमगाते कदमों के साथ गृहस्थी की डगमगाती नौका को संभालने वाली नारी या अपने कदमों मे पहाड़ों की अलंघ्य ऊँचाइयों तथा समुद्र की अतल गहराइयों को नाप लेने वली नारी या परिवार, समाज व राष्ट्र को समान कुशलता से परिचालित करने वाली नरी या शिक्षा के क्षेत्र में विलक्षण प्रतिभा का परिचय देने वाली नारी या फिर सामाजिक संत्रास , घुटन, विखण्डन एवं भौतिकता तथा आर्थिक विषमता से जन्मी मानसिक संत्रास को झेलती हुयी नारी।

बीसवीं सदी की नारी ने जहाँ शैक्षिक प्रगति के फलस्वरूप अपनी बौद्धिक क्षमता में वृद्धि की है वहीं वह कुण्ठा, निराशा, संवेदन हीनता, भौतिकवादी युग की यान्त्रिकता बदलती नैतिकता, पारिवारिक एवं सामाजिक मूल्यों के विघटन से उत्पन्न संत्रास, ऊबन और कभी न समाप्त होने वाली प्रवंचनाओं की श्रृंखला में जकड़ी जिन्दगी को जीने के लिए विवश है। इसका उल्लेख साहित्य में भी हुआ है विशेषकर कथा साहित्य में इसका विस्तार दृष्टिगोचर होता है।

आर्थिक दृष्टि से आज की स्त्री को जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई है उसके विस्तार की असंख्य संभावनाएं हैं, पर समाज की स्थिति के कारण यह आर्थिक स्वावलम्बन उसे

पारिवारिक सहानुभूति से वंचित कर नितांत अकेला बनाता जा रहा है और वह तनाव संत्रास की स्थिति में जीने के लिए विवश है । दाम्पत्य जीवन में तनाव के फलस्वरूप पारिवारिक टूटन की प्रवृत्ति बढ़ रही है आधुनिक युग की नारी इस संत्रास का अनुभव कर रही है जो बाह्य रूप से तो हर क्षण को भर रहा है परन्तु अन्तर के हर क्षण को रिक्त करता जा रहा है।

''समाज के अनेक सम्बन्धों का केन्द्र होने के कारण भारतीय नारी विशेषत: नवीन पीढ़ी की नारी में जो अस्थिरता उत्पन्न हुई, उसने अतीत से चली आई अनेक मान्यताओं को खण्डित कर दिया है और अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। ये समस्याएं जीवन के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने पर उद्गम की दृष्टि से एक हैं।''[1]

बीसवीं शताब्दी की नारी राजनीतिक दृष्टि से अधिकार सम्पन्न है। भारत की शिक्षित नारी ही नहीं अशिक्षित नारी ने भी भारतीय गणराज्य की स्थापना के साथ मताधिकार पा लिया था। समाज में मध्यम वर्ग की नारियों को घर एवं बाहर, नवीन एवं पुरातन आदि की अनेक समस्याओं में संघर्षरत रहना पड़ता है। भारत के भावी नारी समाज की रूपरेखा इन्हीं समस्याओं के स्वस्थ निराकरण पर निर्भर करती है। अर्थ के अभाव व स्वावलम्बन की इच्छा ने मध्यवर्ग की शिक्षित नारी को घर से बाहर आने में सहायता दी है, किन्तु दोनों ही क्षेत्रों में उसकी स्थिति शंकाग्रस्त है। सम्बन्धों में संघर्ष एवं कटुता, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव तथा पारिवारिक अव्यवस्था आदि के कारण शिक्षित नारी बाहर कार्य खोजती है।

यह सत्य है कि अनेक युगों से स्त्री के समक्ष ऐसा मुक्त एवं व्यापक क्षितिज नहीं आया है जैसा आज है या जैसा निकट भविष्य में होने की संभावना है। आधुनिक युग की

---

1. महादेवी वर्मा - नये दशक में महिलाओं का स्थान पृष्ठ 13-27

स्त्री मात्र पत्नी, माँ आदि के सम्बन्धों द्वारा ही अपना परिचय नहीं देती, वह स्वयं को राष्ट्र या समाज के उत्तरदायी नागरिक के रूप में उपस्थित करती है।

आधुनिक युग में स्त्रियों ने विभिन्न क्षेत्रों में अपने कार्यों का कुशल संचालन कर के इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है कि वह शारीरिक बल की दृष्टि से पुरुषों से दुर्बल है। अन्तरिक्ष यात्रा करके, सैनिकों की भाँति गुरिल्ला युद्ध में कठोर परिश्रम करके उसने अपनी शक्ति की अग्नि परीक्षा दी और उसमें सफल हुई पर्वतारोहण कार्य जो केवल पुरुषों का अधिकार क्षेत्र था आज इसमें स्त्रियाँ भी सफलता पूर्वक भाग ले रही हैं और तैराकी, खेलकूद, अस्त्र संचालन, लक्ष्यभेद आदि साहसिक कार्यों को स्त्रियाँ पूर्ण आत्म विश्वास के साथ कर रहीं हैं और सफल भी हो रहीं हैं।

आधुनिक नारी ने पिछले दशकों में जो संस्कार और अनुभव प्राप्त किये हैं उन्हीं की आधारशिला पर उनके भविष्य का निर्माण होगा। आज की नारी की स्थिति सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्तरों पर उत्तरोत्तर उच्चतर होती जा रही है आज की नारी को कई क्षेत्रों में कठिन संघर्ष करना पड़ा है। ''युगों से दलित पीड़ित रहने के कारण जो हीनता के संस्कार बन गये थे उन्हें आधुनिक भारतीय नारी ने अपने रक्त और प्रस्वेद से इस प्रकार धो दिया है कि आगामी युग की नारी को उस पर कोई रंग नहीं चढ़ाना पड़ेगा'[1]।

अतः स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी की नारी यदि वैदिक कालीन नारी की भाँति पुरुष के समान स्वतंत्र एवं सम्मानित नहीं हैं तो अट्ठारहवीं एवे उन्नीसवीं शताब्दी की नारी की भाँति बन्धनों में जकड़ी हुई भी नहीं है, परन्तु गम्भीरता पूर्वक विश्लेषण करने पर निश्चय ही आधुनिक तथा तथाकथित स्वतंत्र नारी भी बन्धनों में जकड़ी हुई परिलक्षित होती है। महादेवी वर्मा ने श्रृंखला की कड़ियों में स्त्रियों की पुरुष सापेक्ष स्थिति को स्वीकार करते

---

1. वूमेन इन मॉडर्न इण्डिया - नीरा देसाई - पृष्ठ 211

हुए कहा है कि "स्त्री शून्य के समान पुरुष की इकाई के समान सब कुछ है परन्तु उससे रहित कुछ नहीं।"[1]

स्त्री उत्पीड़न तथा मुक्ति की चेतना :

भारतीय समाज में नारी की स्थिति का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक तरफ तो उसे समाज में अत्यन्त ही उच्च एवं सम्मान जनक स्थान प्राप्त था। एक तरफ जहाँ उसे शक्ति रूपा देवी, करूणा की मूर्ति माना जाता रहा है वहीं दूसरी तरफ उसका शोषण भी खूब हुआ है। समाज में उसकी स्थिति हमेशा निम्नतर रही हैं पुरुषों द्वारा स्त्री को मात्र भोग्य या वस्तु माना गया है। और उसकी अस्मिता तथा व्यक्तित्व को दर किनार करने की प्रवृत्तियाँ भी चलती रहीं। आज की स्त्री चाहे वह ग्रामीण परिवेश की हो अथवा नगरीय परिवेश की गृहणी हो अथवा कामकाजी, कदम कदम पर उसे स्त्री होने के कारण विभिन्न समस्याओं तथा शारीरिक एवं मानसिक शोषण का सामना करना पड़ता है।

महिला उत्पीड़न की समस्या कोई नवीन समस्या नहीं है भारतीय समाज में स्त्री दीर्घ अवधि से अवमानना, यातना और शोषण का शिकार रही है। जिस समय से सामाजिक संगठन और पारिवारिक जीवन के लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं, उस समय से निरन्तर स्त्री शोषण का शिकार हो रही है, वह चाहे जिस रूप में हो। यद्यपि वर्तमान युग में धीरे-धीरे शिक्षा की प्रगति के फलस्वरूप आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के कारण स्त्री की स्थिति में सुधार हुआ है, मगर किसी न किसी रूप में आज भी वे उत्पीड़न की शिकार हैं। विभिन्न विचारधाराओं, संस्थागत रिवाजों और समाज में प्रचलित प्रतिमानों ने उनके उत्पीड़न में काफी योगदान दिया है। इनमें से कुछ व्यावहारिक रिवाज आज भी प्रचलित हैं। महिलाओं के लिए बनाये गये कल्याणकारी कानूनों, शिक्षा के प्रसार और आर्थिक स्वतंत्रता के बावजूद

---

1. श्रृंखला की कड़ियाँ - महादेवी वर्मा - पृष्ठ 115

आज भी असंख्य स्त्रियाँ हिंसा एवं उत्पीड़न की शिकार हैं। इसका कारण यह है कि नारी जागरण एवं नारी के उत्थान एवं कल्याण के लिए किए गए उपायों से कुछ प्रतिशत स्त्रियों की स्थिति में ही सुधार आ सका है। समाज की अधिकांश स्त्रियाँ आज भी शारीरिक एवं मानसिक उत्पीड़न की शिकार हैं। परिवार में दुर्व्यवहार, अपहरण, बलात्कार, दहेज, दहेज हत्या, तलाक, बाल विवाह आदि विभिन्न रूपों में स्त्री का शोषण एवं उत्पीड़न आज भी जारी है। जिसका निराकरण होना अत्यन्त ही आवश्यक है वर्तमान समाज में नारी शोषण के अनेक कारण रहे हैं जिन्हें निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है—

नारी उत्पीड़न के कारण :

● **विशेष धार्मिक प्रथाएं :** विशेष धार्मिक प्रथाएँ नारी उत्पीड़न का मुख्य कारण रहीं हैं। विभिन्न धर्मों में नारी की स्थिति संकीर्णता में जकड़ी हुयी है और स्त्री का धार्मिक महत्व जो वेदकाल में था वो धीरे-धीरे गौड़ होता चला गया। फलस्वरूप स्त्री की आचार विचार की स्वतंत्रता पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गए।

● **सामाजिक परम्पराएँ :** स्त्री उत्पीड़न में सामाजिक परंपराओं की मुख्य भूमिका रही है। समाज में व्याप्त पर्दा प्रथा, बहु विवाह, छुआछूत की धारणा, जाति-पाँति, विधवा के प्रति अमानवीय कृत्य, विधवा विवाह निषेध, पतिव्रत का आदर्श आदि रूढ़ियों एवं परम्पराओं आदि के माध्यम से स्त्रियों का निरन्तर शोषण एवं उत्पीड़न होता रहा है । इस प्रकार "आन्तरिक घेराबन्दी के कठोर नियम, जाति प्रथा की मजबूत पकड़, श्राद्ध जैसी पुत्र महत्व बढ़ाने वाली विधियों, स्त्रियों के उपनयन संस्कार पर प्रतिबंध... वैधव्य जीवन की यातनाएं .... जिसमें मूँड़ मुड़वाने की क्रूर प्रथा का भी समावेश किया गया था। शुभ प्रसंग पर विधवा की उपस्थिति अमंगलकारी होती है ऐसी मान्यता और रिवाजों से स्त्री को श्रृंखलाबद्ध किया गया था। इन सब पराधीनता प्रेरक प्रथाओं की पराकाष्ठा सती प्रथा थी।"[1]

---

1. नीरा देसाई- वूमेन इन मॉडर्न इण्डिया पृष्ठ - 26

● **विदेशी आक्रमण और परिवेश जनित स्थितियाँ :** विदेशी आक्रमण के फलस्वरूप भारत में पर्दा प्रथा , बाल विवाह का प्रचलन बढ़ा और फलस्वरूप स्त्री में शिक्षा का अभाव एवं शारीरिक अस्वस्था भी बढ़ती गई परिणाम स्वरूप समाज में उनकी स्थिति का उत्तरोतर ह्रास होता गया ओर उसकी प्रगति अवरूद्ध हो गई।

● **जातीय एवं सामुदायिक रीति रिवाज :** स्त्री शोषण एवं उत्पीड़न में जातीय एवं सामुदायिक रीति रिवाजों ने भी मुख्य भूमिका निभाई है। ग्रामीण समुदाय, संयुक्त परिवार व्यवस्था तथा जाति प्रथा जैसी संस्थाएं स्त्री उत्पीड़न के रूप में उभर कर सामने आई और जिसके फलस्वरूप समाज में स्त्री का न तो अपना व्यक्तित्व ही रहा और न ही उसे सामाजिक अधिकार मिले फलस्वरूप वह अस्तित्वहीन हो गई।

● **अशिक्षा:** शिक्षा के अभाव के कारण स्त्रियों के अंधविश्वासों में वृद्धि हुई और वे विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक कुरीतियों में जकड़ कर उत्पीड़न का शिकार हुई। स्त्री शोषण का सर्वप्रथम और मुख्य कारण उनमें व्याप्त अशिक्षा ही है इसके कारण उत्पन्न बाल विवाह, पर्दाप्रथा, छुआछूत, जाति प्रथा जैसी कुरीतियाँ मुख्य रूप से स्त्री शोषण एवं उत्पीड़न का कारण बनीं।

● **वर्ण जाति और वर्ग संघर्ष :** स्त्री उत्पीड़न का एक अन्य कारण वर्ण जाति और वर्ग संघर्ष भी रहा है। वर्ग व्यवस्था, जाति व्यवस्था, और वर्ग विभाजन के फलस्वरूप समाज में एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग, वर्ण या जाति का उत्पीड़न प्रारम्भ हुआ और इसमें सबसे अधिक उस वर्ग वर्ण एवं जाति की स्त्रियाँ ही उत्पीड़ित हुईं।

● **आर्थिक कारण :** समाज में स्त्रियों का सर्वाधिक शोषण आर्थिक रूप से स्त्रियों का पुरुषों पर निर्भरता के कारण हुआ। परिवार में एवं समाज में स्त्रियों की निम्न आर्थिक स्थिति कालान्तर में स्त्री उत्पीड़न का मुख्य कारण बन गई।

● **अकाल दंगे और युद्ध की विभीषिका :** अकाल जन्य परिस्थितियाँ, युद्ध की विभीषिका एवं साम्प्रदायिक दंगे इन सभी के मूल में स्त्री का ही उत्पीड़न होता है। यही कारण है कि "साम्प्रदायिक दंगे हो या वर्ग संघर्ष अथवा युद्ध की स्थिति, शक्तिशाली और विजेता वर्गों द्वारा सर्वहारा और विजित वर्गों पर सामूहिक रूप से जुल्म ढाए जाते रहें हैं । नारी इन जुल्मों की दो तरफा शिकार होती हैं। नारी होने के कारण भी और गरीब, गुलाम होने के कारण भी।"[1] साम्प्रदायिक दंगों में स्त्रियों पर ही अधिक अत्याचार होते हैं और इसका फल स्त्रियों को ही भुगतना पड़ता है।

● **औद्योगीकरण का प्रभाव :** स्वतंत्रता के पश्चात औद्योगीकरण के विकास के फलस्वरूप स्त्री के उत्पीड़न में वृद्धि हुई है। औद्योगिक प्रगति के कारण पुराने अर्थिक नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आया तथा पारम्परिक मान्यनाएं टूटने लगीं। फलस्वरूप नारी की स्थिति में भी बुनियादी परिवर्तन आया। मूल्यों में गिरावट के कारण नैतिक मूल्यों पर भोग मूल्यों के प्रभाव के कारण समाज के सामूहिक चरित्र में गिरावट आयी फलस्वरूप स्त्रियों की शिक्षा दीक्षा, आत्मनिर्भरता और उनकी विचार सम्मत ऊँची सामाजिक स्थिति में भी गिरावट आने लगी और उन्हें पुनः 'भोग्या' बनाकर उनका शोषण किया जाने लगा।

● **पाश्चात्य प्रभाव :** व्यक्तिगत विघटन की बढ़ती हुयी प्रवृत्ति का मुख्य कारण पाश्चात्य दर्शन है। आज पश्चिमीकरण के अन्धानुकरण के कारण व्यक्ति चारित्रिक पतन, मानसिकविकृतियों, भ्रष्टाचार एवं अपराधिक प्रवृत्ति का शिकार हो गया है। फलस्वरूप स्त्री उत्पीड़न में वृद्धि हुई है, मुख्य रूप से यौन उत्पीड़न में। साहित्य में भी इस उत्पीड़न की समस्या को मुख्य रूप से प्रस्तुत किया गया है।

---

1. नारी शोषण आइने एवं आयाम - आशारानी व्होरा पृ0 171

● **लिंग भेद :** शारीरिक भिन्नता एवं लिंग भेद भी स्त्री उत्पीड़न का मुख्य कारण है दुनिया के इतिहास में आज भी स्त्री चाहे वह पश्चिम के विकसित राष्ट्रों की हो अथवा पूर्व के विकासशील राष्ट्रों की। पितृसत्तात्मक समाज में वह उपनिवेश ही है अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की रिपोर्ट के अनुसार भी समाज का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण पितृसत्तात्मक, उपनिवेशवादी एवं उत्पीड़नकारी है। पारिवारिक स्तर पर आज भी स्त्री के साथ अमानवीय एवं उत्पीड़न कारी व्यवहार होता है। इस प्रकार स्त्री के शोषण में लिंग भेद की मानसिकता का मुख्य स्थान है। जब तक पुरुष मानसिकता एवं पितृसत्ता के प्रतिमानं स्त्री की स्थिति , अस्तित्व एवं अस्मिता के प्रति भेद भाव रहित नहीं होते स्त्री शोषण एवं उत्पीड़न की समस्या का समाधान असंभव है।

स्त्री उत्पीड़न के स्त्रोत :

● **परिवार :** नारी उत्पीड़न में परिवार की मुख्य भूमिका रही है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक परिवार द्वारा समय समय पर बनायी गयी विभिन्न रूढ़ियों एवं वर्जनाओं द्वारा सदैव स्त्री का शोषण होता रहा है और आज भी हो रहा है। उस पर सामाजिक अंकुश, मर्यादाओं के पालन का भार है जिनका पालन करते करते वह असमय ही ढल जाती हैं। उसकी कल्पनाएं, इच्छाएं आकाक्षाएं परिवार का बोझ ढोते ढोते समाप्त हो जातीं हैं। परिवार मे जो नैतिकता के प्रतिमान हैं वो भी दोहरे हैं स्त्री के लिए उनका अर्थ दूसरा एवं पुरुषों के लिए दूसरा है। परिवार ने स्त्रियों की चेतना को नियन्त्रित एवं अनुकूलित करके उनके विकास का मार्ग अवरूद्ध कर दिया है। औपनिवेशीकरण के दौर में जहाँ स्त्री बाहरी ताकतों से शोषित थी वहीं आज वह अपने ही घर में अपने कहे जाने वाले भाइयों बन्धुओं से उपेक्षित एवं दमित है।

दया, ममता, स्नेह, त्याग, सहनशीलता, नैतिकता आदि स्त्रियोचित गुण पुरुष सत्ता द्वारा निर्धारित प्रतिमान हैं जिन प्रतिमानों का पालन कर स्त्री हमेशा शोषित हुई है और इन

प्रतिमानों को मानने से मना करने वाली स्त्रियों को समाज में व्यापक अवहेलना का शिकार होना पड़ा है। आर्थिक रूप से पुरुषों पर आश्रित रहने के कारण भी परिवार में स्त्रियों का उत्पीड़न होता आया है।

● **समाज :** नारी उत्पीड़न के स्रोत के रूप में समाज की मुख्य भूमिका रही है। पितृसत्तत्मक समाज ने स्त्रियों को सदैव अपने अधीन रखने के लिए ऐसे मामाजिक, नियमों, रीतियों, रिवाजों, प्रथाओं, परम्परओं एवं मूल्यों का निर्माण किया है जो पितृक प्रतिमानों पर आधारित है चूँकि इनका निर्माण पितृक समाज द्वारा होता है अत: इनके पालन में भी दोहरी मानसिकता होती हैं ये रीति एवं नियम नारी के लिए वर्जनाओं का कार्य करते हैं। और इन वर्जनाओं के माध्यम से समाज निरन्तर उसका उत्पीड़न करता रहता है। ''समाज के अनेक सम्बन्धों का केन्द्र होने के कारण भारतीय नारी विशेषत: नवीन पीढ़ी की नारी में जो अस्थिरता उत्पन्न हुई, उसने अतीत में चली आयी अनेक मान्यताओं को खण्डित कर दिया और अनेक समस्याओं को जन्म दिया।''[1] ये समस्याएं जीवन के अनेक क्षेत्रों से जुड़ी हैं और स्त्री उत्पीड़न में मुख्य भूमिका निभा रहीं हैं।

समाज के द्वारा स्त्रियों का शोषण एवं दमन कई स्तरों पर कियाजाता है चाहे वह सामाजिक परम्पराओं का संदर्भ हो, शिक्षा का क्षेत्र हो जाति व वर्ग व्यवस्था हो, रीति रिवाज अथवा रूढ़ियाँ हो धार्मिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक क्षेत्र हो। हर स्तर पर नारी मानसिक एवं शारीरिक रूप से उत्पीड़ित है।

यद्यपि आर्थिक स्वावलम्बन के कारण आज की नारी में दृढ़ता, गरिमा एवं आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ है। उसके जीवन की गति में तेजी आई है और वह परम्परापोषित किसी भी मान्यता को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं करती मगर मात्र आर्थिक

---

1. महादेवी वर्मा: नये दशक में महिलाओं का स्थान - महादेवी वर्मा पृ0 13

स्वतंत्रता अर्पित करते करते उसने अनेक तनावों एवं संघर्षों को अपने जीवन में अनायास ही समेट लिया है। आज वह शारीरिक यातना की स्थूल बेड़ियों से निकलकर मानसिक क्लेश की सूक्ष्म बेड़ियों में जकड़ गई है। इसका कारण आज की सामाजिक संस्थाएं हैं जो प्रगति और बदलावा के डंके पीटने के बाद भी लगभग वही हैं। वर्षों से अपरिवर्तित रूप में सर्वस्वीकृत होने के कारण ये संस्थाएं कट्टरता की सीमा तक कठोर हो गई हैं ।

● **संस्थाएं :** विभिन्न सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं की भी स्त्री उत्पीड़न में मुख्य भूमिका रही है। चाहे श्रम सम्बन्धी नियम हो या वेतन सम्बन्धी सवाल हो नारी का शोषण होता आया है। नौकरियों मे अनेक ऐसे पद हैं जो मात्र स्त्री होने के कारण स्त्री को नहीं दिये जाते हैं। संस्थाओं द्वारा शारीरिक अक्षमता का दोषारोपण करके उनका मानसिक शोषण भी किया जाता है।

सत्ता एवं अकादमियों ने स्त्री की समस्या को व्यर्थ के सिद्धान्तीकरण में उलझा कर स्त्री का उत्पीड़न ही किया है छोटी छोटी संस्थाओं और दल गत राजनीति ने अपने अपने दृष्टि कोण और स्वार्थ हेतु उत्पीड़न को विस्तार प्रदान किया है भँवरी देवी काण्ड और देवराला का सती काण्ड इसका स्पष्ट उदाहरण है।

लोकतंत्र की छाँह में पतनशीलता की प्रवृत्तियाँ एक साथ पल बढ़ रही हैं समाज में दिन प्रतिदिन बढ़ने वाली घटनाओं के माध्यम से इसे आसानी से समझा एवं परखा जा सकता है। मृणाल पाण्डेय इसे चण्डीगढ़ काण्ड एवं भंवरी बाई काँड के मार्फत रेखांकित करती हैं चण्डीगढ़ काण्ड में जहाँ एक उच्च पदस्थ राजनेता के पुत्र द्वारा विदेशी युवती के अपहरण के रूप में हैवानियत, सामंती ऐंठ और पतनशीलता की प्रवृत्तियों का खुलासा होता है वहीं भवंरी बाई काण्ड में अपने गाँव में गैर कानूनी बाल विवाह को रोकने का बीड़ा उठाने

वाली भंवरी को उसके सामाजिक पुनरुत्थान के कार्य के एवज में उसे सामाजिक एवं आर्थिक रूप से बहिष्कृत किया गया और उसे अपनी अस्मिता भी गंवानी पड़ी।"[1]

संगठित और असंगठित दोनों ही प्रकार की संस्थाओं में महिला श्रमिक कार्यरत हैं और इन संस्थाओं के द्वारा इनका श्रम एवं वेतन के आधार पर उत्पीड़न हो रहा है। संगठित क्षेत्रों में लगी हुयी महिलाएं छटनी के संकट को झेल रही हैं औरअसंगठित क्षेत्रों में कार्य करने वाली महिलायें एक तरफ कार्यरत असुरक्षा की शिकार हैं तो दूसरी तरफ इन्हें कामगार माना ही नहीं जाता। सरकार के द्वारा इन्हें कामगार की कोटि में शामिल न करके इन्हें गृहणी के खाते में रखा गया है। इनका विस्तार गॉवों से लेकर शहर और कस्बे की झुग्गी झोपड़ियों तक है। अन्न उत्पादन, डेरी पालन, हथकरघा या निर्माण कार्य में लगी औरतें हों या अगरबत्ती, पापड़, दियासलाई, मोमबत्ती, चूड़ी और पटाखा उद्योग में लगी हुई औरतें या बॉस की लकड़ी का काम करने वाली कंडे और दोना पत्तल बनाने वाली शहद और जड़ी बूटियॉ इकट्ठा करके बेचने वाली औरतें हो या कताई बुनाई, रंगाई, कुटाई पिसाई के धन्धे में लगी हुयी औरतें हों सभी कार्यक्षेत्र में लगी स्त्रियॉ असुरक्षा और उत्पीड़न की शिकार हैं।

स्त्री उत्पीड़न का स्वरूप :

● **नारी शिक्षा की उपेक्षा :** शिक्षा के अभाव के कारण स्त्रियॉ निरन्तर शोषित की जाती रही हैं। यद्यपि आज स्त्री शिक्षा में प्रगति हुई है फिर भी इसका लाभ स्त्रियॉ शहरों में ही उठा पाईं हैं ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी अशिक्षा का प्रतिशत अधिक है । शिक्षित न होने के कारण भी स्त्री की परिवार एवं समाज में दयनीय स्थिति बनी हुईं है। स्त्री शिक्षा को उपेक्षणीय समझे जाने के कारण स्त्री का कार्यक्षेत्र गृह कार्य एवं सन्तानोत्पत्ति तक ही सीमित रह गया।

---

1. पत्रिका संधान का लेख- परिधि पर खड़ी स्त्री के चुकते नहीं सवाल लेखिका - कंचन यादव- पृ0 125

● **कन्यादान का आदर्श :** हिन्दू विवाह पद्धति में कन्यादान के महत्व ने भी स्त्रियों की स्थिति को दयनीय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है अत: कन्या दान की अवधारणा ने स्त्री को व्यक्ति के स्थान पर वस्तु की कोटि में रख दिया ।

● **लड़कियों का गलत सामाजीकरण :** विदेशी आक्रमण के फलस्वरूप तथा धार्मिक परंपराओं में समय के साथ आई विकृतियों के कारण उसका दुष्प्रभाव समाज में पुत्र पुत्रियों के पालन पोषण पर पड़ा । उनमें भेद भाव उत्पन्न हो गया और परिवार में जहाँ पुत्र को अधिक महत्व दिया जाने लगा वहीं पुत्री के प्रति उनका व्यवहार भेदभाव पूर्ण हो गया । भारीतय संस्कृति में धार्मिक उद्दश्यों में वंश वृद्धि और पितरों के श्राद्ध तर्पण के लिए पुत्र कामनाको वैदिक काल से ही महत्व दिया गया है। उस काल में यह कामना पुत्री के विकास में बाधक नहीं थी, परन्तु कालान्तर में ह्रासोन्मुख सामाजिक स्थितियों में यह लड़की की स्वस्थ सामाजीकरण की प्रक्रिया में बाधक सिद्ध हुई।

परिवार में लड़की के जन्म के समय से ही उसकी भावी जीवन का स्वरूप निश्चित होने लगता है। लड़की के मनोविज्ञान की नीव यहीं से पड़ती है। आगे उसके पालन पोषण में भी पग-पग पर उसे यह अहसास कराया जाता है कि लड़की होने के कारण खानदान, परिवार एवं समाज की इज्जत एंव मर्यादा का ध्यान उसे रखना है। पुरुष यदि गलत काम भी करेगा तो उसे आलोचना या कलंक का सामना नहीं करना पड़ता है, लेकिन यदि स्त्री के कदम गलत पड़े तो उसे कभी भी माफ नहीं किया जाता है। अत: स्त्री का अर्थ है सहना । कष्ट सहने की यह शिक्षा उसे हमेशा दी जाती है।

भारतीय नारी यदि कहीं सम्मानित भी होती है तो बेटे की माँ होने के कारण बेटी एवं पत्नी के रूप में वह पुरुष के अधीन संरक्षित स्थिति में ही मान्य है।

समाज द्वारा पुत्री में हमेशा हीनता ग्रन्थि एवं पुत्र में श्रेष्ठता ग्रन्थि का विकास किया जाता है। यह दोष पुत्र-पुत्री के पालन पोषण की पद्धति में बुनियादी रूप से विद्यमान है। इस भेद भाव से उसमें हीनता , कुंठा, निराशा उत्पन्न हो जाती है।

वदलती परिस्थितियों में नारी द्वारा शिक्षित प्रशिक्षित होकर समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी उपयोगिता सिद्ध करने पर भी पुराने मूल्यों के पालन से मुक्त नहीं हो पाई है। फलत: भेद भाव के कारण परिवार में पुत्री के सामाजिकरण की प्रक्रिया गलत हो जाती है, और गलत सामाजीकरण के कारण वह उत्पीड़न का शिकार होती है।

● **बहुविवाह प्रथा :** एक पत्नी प्रथा हिन्दू समाज का आदर्श है। फिर भी कुछ अवस्थाओं में भारतीय समाज में बहु पत्नी एवं बहु विवाह की प्रथा रही है । सामान्यतया: बहु पत्नी विवाह की पद्धति सामन्तों वा राजाओं में ही प्रचलित थी किन्तु कालान्तर में कई समुदाय में यह प्रथा आज भी प्रचलित है। यद्यपि हिन्दू विवाह अधिनियम 1954 द्वारा हिन्दुओं में बहु पत्नी प्रथा समाप्त कर दी गई है किन्तु कुछ हद तक गैरकानूनी ढंग से यह प्रथा अभी भी प्रचलित है।

● **बाल विवाह** : वैदिककाल में बाल विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं थी। ईसा से पॉच शताब्दी पूर्व के 'गृह सूत्र' के मन्त्र एवं विवाह मंत्र इसकी पुष्टि करते हैं। प्रथम शताव्दी के पश्चात कई कारणों से यह धारणा प्रबल होती गयी कि कन्या का विवाह 12 वर्ष की उम्र के पूर्व ही हो जाना चाहिए । बाल विवाह के कुपरिणाम स्त्री की अशिक्षा , निर्वल सन्तान, अधिक सन्तान, शारीरिक रुग्णता, मातृ एवं शिशु मृत्यु दर में वृद्धि, गरीवी एवं जनसंख्या में वृद्धि तथा बाल विधवा की समस्या के रूप में झेलना पड़ा। बाल विवाह निपेध कानून के बन जाने पर भी वर्तमान संदर्भ में ग्रामीण परिवेश एवं अशिक्षित समाज में आज भी बाल विवाह के रूप में स्त्रियों का उत्पीड़न जारी है।

● **सती प्रथा :** वेद कालीन सभ्यता में सती प्रथा नहीं थी उत्तर वैदिककाल में स्वेच्छया सती होने का चलन प्रारम्भ हो गया था परन्तु मध्यकालीन स्थितियों के फलस्वरूप इस प्रथा को विस्तार प्राप्त हुआ, विशेष रूप से मुस्लिम आक्रमण के बाद से । मध्यकाल में सती प्रथा का प्रसार नारी की असुरक्षित स्थितियों की देन थी।

जिन कारणों से बाल विवाह, स्त्री शिक्षा निषेध जैसी प्रथाएं प्रचलित हुयी सती प्रथा भी उन्हीं कारणों से फैली । वर्तमान समय में भी जहाँ स्त्री द्वारा स्वयं की इज्जत बचाने का प्रश्न आता है वहाँ ऊंचाई से छलांग लगाना, कुएं में गिरकर, जलकर एवं विषपान कर के जीवन को त्याग देना प्रचलन में है। सती प्रथा भी आत्महत्या का ही रूप है। स्त्री उत्पीड़न का ये अत्यन्त ही अमानवीय एवं वीभत्स रूप है। देवराला काण्ड के रूप में यह प्रथा पूर्ण निषेध के बावजूद कहीं कहीं परिलक्षित हो जाती है।

● **देवदासी प्रथा :** भारतीय दंड संहिता की धारा 372-373 के अनुसार अब इस कानून पर रोक है परन्तु, यह प्रथा किन्हीं अंशों में आज भी विद्यमान है। वर्तमान युग में उड़ीसा में इसे 'महारिस और गोवा में 'मावीण' नाम दिया गया है । इस प्रथा के द्वारा नारी को अत्यन्त ही अमानवीय कष्ट सहने पड़ते हैं। माता पिता के द्वारा अपनी किसी कामना पूर्ति के लिए अपनी कम उम्र कन्याओं को देवदासी बना दिया जाता है। आज भी प्रति वर्ष पाँच से दस लड़कियों देवी के नाम पर छोड़ी जाती हैं। केवल दक्षिण महाराष्ट्र के मन्दिरों में ढाई लाख देवदासियों के होने का अनुमान लगाया जाता है।

● **दहेज प्रथा :** दहेज प्रथा के माध्यम से समाज में स्त्रियाँ निरन्तर उत्पीड़ित एवं शोषित होती रहीं हैं। पहले उच्च एवं मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ ही दहेज के कारण उत्पीड़ित होतीं थीं आज निम्न वर्ग की स्त्रियाँ भी दहेज उत्पीड़न की शिकार हैं। दहेज प्रथा का सबसे अमानवीय एवं हिंसक रूप विभिन्न यातनाओं द्वारा स्त्री का उत्पीड़न और दहेज हत्या है।

● **धार्मिक अन्धविश्वास :** धार्मिक अन्ध विश्वास के कारण भी समाज में स्त्रियाँ निरन्तर शोषित हैं। विधवा समस्या, बाल विवाह पुत्रों का महत्व आदि कुप्रथाएँ धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण ही उत्पन्न हुईं हैं।

● **वैवाहिक कुरीतियाँ :** दहेज प्रथा के अतिरिक्त अन्य कई ऐसी वैवाहिक कुरीतियाँ भी हैं, जो स्त्री की निम्न सामाजिक स्थिति का मुख्य कारण रही है। कुलीन विवाह, अन्तर्जातीय

एवं विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध एवं पारंपरिक विवाह के रूप में स्त्री सदैव शोषण का शिकार होती रही है। डा0 मजूमदार के अनुसार -"हिन्दू स्त्रियों की निम्न स्थिति के लिए मुख्यतया कुलीन विवाह प्रथा ही उत्तरदायी है।"[1] अनमेल विवाह का मुख्य कारण भी कुलीन विवाह ही रहा है। डा0 भगवती शरण मिश्र के उपन्यास नदी नही मुड़ती में इस प्रथा का विस्तृत ब्योरा मिलता है।[2] इसी प्रकार उत्तराखण्ड के कुमाऊँ प्रदेश में "घर विवाह" की प्रथा है, जिसमें दरिद्रावस्था के कारण लाचार माँ बाप अपनी विवाह योग्य पुत्री का विवाह ताँबे के घड़े से कर देते हैं।[3]

● **जाति प्रथा :** विवेचन एवं विश्लेषण के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति प्रथा का खामियाजा स्त्री को ही भोगना पड़ता है। गोदान हो या अन्य उपन्यास साहित्य सभी में इसी बात का प्रतिपादन हुआ है, अतः स्त्री समानता एवं नारीवाद के विस्तार के बावजूद स्त्री का जातीय एवं दैहिक शोषण हो रहा है। जातीयता के आधार पर निम्न एवं दलित वर्ग की स्त्रियों का शोषण अधिक होता है। नौकरी पेशा स्त्रियों में खानों में काम करने वाली और निजी क्षेत्रों में काम करने वाली स्त्रियों का जातीय शोषण अधिक होता है।

स्त्री शोषण के उपर्युक्त विभिन्न रूप हैं इसके अतिरिक्त भी स्त्री समाज एवं परिवार में तलाक, शारीरिक विभिन्नता, आर्थिक पराधीनता एवं जातीय एवं सामुदायिक रूढ़ियों के एवं कन्या शिशुओं की हत्या जैसी अमानुषिक यातनाओं के माध्यम से निरन्तर शोषित एवं उत्पीड़ित होती रहती है। आज नवीन अवधारणा "सौंदर्य मिथक" के रूप में स्त्री स्वयं अपनी देह का शोषण कर रही हैं।

---

1. भारतीय समाज तथा संस्कृति - डा0 मजूमदार पृ0 363
2. नदी नहीं मुड़ती : डा0 भगवती शरण मिश्र : पृ0 36
3. शोध प्रबन्ध शैलेश मटियानी का कथा साहित्य : डा0 सलीम बांस पृ0 176

नारी शोषण की समस्या का समाधान :

नारी उत्पीड़न की समस्या के उत्तरदायी कारणों के रूप में नारी की संरचना एवं आर्थिक क्षेत्र में नारी की निष्क्रीयता मुख्य है। एंगेल्स के अनुसार "आर्थिक क्षेत्र में पुरुष से पीछे रह जाना ही नारी की दशा को उत्तरोत्तर शोचनीय बनाता है।"[1] इस समस्या का समाधान स्त्री के प्रति चेतना अथवा जागरूकता उत्पन्न कर के किया जा सकता है इस सन्दर्भ में प्राचीन मूल्यों का वर्तमान संदर्भ में पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है और आवश्यकतानुसार उनमें वान्छनीय परिवर्तन लाना होगा।" मूल्य मानव के आचरणों एवं व्यवहारों का समूह है; जो न केवल व्यक्ति की निरंकुशता पर नियंत्रण रखते हैं, अपितु उसके व्यक्तित्व की संरचना भी करते हैं और संस्कार रूप में इन्हें ग्रहण कर व्यक्ति अच्छे-बुरे, सही-गलत की पहचान करने लगता है।"[2] और यही पहचान स्त्री उत्पीड़न से मुक्ति के लिए आवश्यक है।

शोषण से मुक्ति के लिए स्त्री को पुरुष से बरावरी का मोह त्याग कर स्वयं को पुरुष से श्रेष्ठ सिद्ध करना होगा। सांस्कृतिक परिवर्तन एवं सभ्यता में परिवर्तन के अन्तर्गत सामजस्य का भी होना अत्यन्त आवश्यक है क्यों कि सांस्कृतिक परिवर्तन की परवाह किये बिना जब सभ्यता का तेजी से विकास होता है तब प्रगति तो होती ही है, पर वह यह प्रगति समाज के लिए विशेष हितकारी नहीं होती। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास की गति में जितना अधिक अन्तर होगा, अव्यवस्था उतनी ही ज्यादा फैलेगी तथा विचार व व्यवहार में उतना ही अधिक अन्तर बढ़ेगा आज की उच्छृंखलता अनुशासनहीनता भ्रष्टाचार पारिवारिक विघटन आदि से उत्पन्न शोषण को रोकने के लिए सभ्यता पर संस्कृति का

---

1. सोशल साइंटिस्ट, अंक 4-5 नवम्बर दिसम्बर 1975 पृ0 80

2. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय पृ0 80

अंकुश आवश्यक है। यह मानवीय हित में भी है और परिवार व समाज के लिए कल्याणकारी भी। नारी शोषण की समस्या का समाधान मुख्य रूप से स्त्री द्वारा ही संभव है, उसे अपने चरित्र वल और आत्मबल से समाज में अपनी सुदृढ़ भूमिका निभानी होगी। अपना हक मांगने से पहले इस हक के लिए स्वयं में अधिकार पात्रता लानी होगी क्योंकि अधिकार के लिए पात्रता से ही अधिकार का मार्ग प्रशस्त होता है। पुरुष की शक्ति एवं प्रेरणा बनने के लिए स्वयं को पुरूष से बहुत ऊँचा उठाना होगा । भोग्या रूप में वह पुरुप का सामना नहीं कर सकेगी अपितु उसके प्रहार को प्रोत्साहन ही देगी। शोपण की समम्या से मुक्ति पाने के लिए शासन एवं संस्थाओं का मात्र सहारा ही लिया जा सकता है. इसे मिटाने के लिए व्यापक जनसमर्थन की आवश्यकता है सामाजिक जागृति लानी होगी जिसका संकल्प स्त्रियों को लेना पड़ेगा और प्रचार माध्यमों का सहयोग भी।

स्त्री का अस्वीकार और संघर्ष :

स्त्री उत्पीड़न के विरूद्ध स्त्रियों में अस्वीकार अथवा विरोध की भावना जागृत हुइ है। वर्तमान संदर्भ में नारी अपनी दयनीय दशा को मौन स्वीकृति प्रदान न करके समाज की इस उत्पीड़ित अवस्था का प्रतिकार करती है। स्त्री के इस अस्वीकार मे कथा साहित्य प्रभावित हुआ है उपन्यास साहित्य में स्त्रियाँ द्वारा सामाजिक विद्रोह का स्वर भी मुखरित हुआ है- ''जिन सामन्तवादी परम्पराओं, आस्थाओं, विश्वासों, मूल्यों एवं आदर्शों के आधार पर युग-युग से नारी जाति का उत्पीड़न किया जाता रहा है, उन्हीं आदर्शों के विरुद्ध नारी पात्रों ने विद्रोह किया है।''[1]

आज की नारी स्वयं को किसी भी स्थिति में पुरुष से हीनतर मानने के लिए तैयार नहीं हैं आज की नारी ने मातृत्व का नया रूप समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है. नारीत्व का

---

1. हिंदी उपन्यास के सौ वर्ष : रामदरश मिश्र, पृ0-287.

नवीन रूप गढ़ा है, प्रेम, पति, परिवार एवं प्रेमी सबको अपने ढंग से परिभाषित किया है और नैतिकताको झकझोरा है, मान्यताओं को चुनौती दी है तथा परम्परिक दृष्टि को आघात पहुँचाया है।

''काम जो पाप की और अपराध की खाई में पड़ा कराह रहा था उसके प्रति भी एक चुनौती पूर्ण कदम स्त्रियों ने उठाया''[1] फलम्वरूप स्त्री ने नवीन नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत पुरानी मान्यताओं और रूढ़ियों को अस्वीकार कर दिया है और मुक्ति की कामना हेतु विस्तृत पैमाने पर संघर्ष कर रही हैं।

प्रभा खेतान का मानना है कि जहाँ ''अतीत में स्त्री ने विरोध की भाषा नहीं सीखी थी आज स्त्री प्रतिरोध की भाषा जानती है। वह जानती है कि स्त्री समस्याको वह वृहत्तर सामाजिक संरचनाओं से जोड़ पायेगी और उसे नये संदर्भों में समझा पायेगी। वह जानती है कि समाज में शोषण और दमन कई स्तरों पर होता है। इस प्रकार हम और आप अकेली स्त्रियाँ नहीं हैं, जिन्हें समाज में शोषित होना पड़ा। हमारी औरभी जातियां हैं, उपराष्ट्रीयताएं हैं; जो सामूहिक शोषण की शिकर हैं इन शोषण कारी संरचनाओं के खिलाफ होने वाले संघर्ष से जुड़े बिना स्त्री का संघर्ष आगे नहीं बढ़ सकता।''[2]

वर्तमान संदर्भ में शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार, दुर्घटनाओं के आधिक्य एवं स्त्री स्थिति की भयंकरता ने स्त्रियों में अपने प्रति किये गये अत्याचारों के विरूद्ध चेतना उत्पन्न कर दी है और वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत भी हो गई हैं। इस नारी चेतना ने विशेष प्रकारकी मानसिकता और संवेदनशीलता को जन्म दिया है, जिसके फलस्वरूप नारी स्वयं को अब

---

1. Individual Morality : James Hemming P. 107.
2. हंस पत्रिका में संकलित लेख – निषेध एवं अमूर्तन में फंसा ''स्त्रीत्व का मानचित्र: प्रभाखेतान पृ0 33, सितम्बर 2000

ध्वस्त एवं त्रस्त होते हुए नहीं देख सकती और वह पितृसत्ता के परम्परागत प्रतिमानों में स्वयं को ढालने से इन्कार करती है और इसके लिए उसका संघर्ष प्रारम्भ है। स्त्री के इस संघर्ष को महिला उपन्यासलेखिकाओं द्वारा अपने उपन्यासों में बड़े ही यथार्थता के साथ चित्रित किया गया है। पितृक प्रतिमानों के प्रति विद्रोह की संचेतना सातवें एवं आठवें दशक की उपन्यास लेखिकाओं की रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है । इन उपन्यास लेखिकाओं ने स्त्री स्वातन्त्र्य को महज देह में अवमूल्यित कर के नहीं देखा है। ये लेखिकाएं स्त्री विमर्श को एक भावुक समझदार और जिम्मेदार बुद्धिजीवी की अवधारणा में बदलती हुयी नजर आतीं हैं।

स्त्री मुक्ति की अवधारणा :

जब उत्पीड़न हद से ज्यादा बढ़ जाता है तो शेषितों के मध्य परस्पर समवेत चेतना उपजती है, यही चेतना जब शोषण से निजात पाने के लिए निश्चित दृष्टि के तहत क्रियमाण होती है तो वह आन्दोलन का रूप बन जाती है। नारी उत्पीड़न के संदर्भ में इस धारणा से इन्कार नहीं किया जा सकता लम्बी अवधि से स्त्री शोषण को अपनी गति या नियति मान कर चुपचाप सहती रही है परन्तु नारी मुक्ति की अवधारणा से नारी उत्पीड़न के विरूद्ध एक संचेतना उत्पन्न हुई है। जागरूकता की इस चेतना का दायरा भी आज विस्तृत होता जा रहा है। शिक्षित तथा अशिक्षित सम्पूर्ण नारी समुदाय इससे प्रभावित हुआ हैं।

स्त्री मुक्ति चेतना का मुख्य उद्देश्य पितृसत्तात्मक व्यवस्था से मुक्ति है। यह सत्य है कि परम्परा के खिलाफ उदण्ड होने के बजाए विनम्र होना चाहिए पर विनम्रता का यह अर्थ नहीं है कि जिस परम्परा ने स्त्री का दोहन किया है, उसका ही महिमामण्डन किया जाए और ब्राह्मणी संस्कृति के आधार पर निर्मित स्त्री विरोधी पुराण गाथाओं, स्मृतियों के श्लोकों की नवीन व्याख्याएं प्रस्तुत की जाएं। अतः वर्तमान नारी चिन्तन अतीतोन्मुखी नहीं है यह अतीत का विरोध करता है।

आज की नारी को स्वयं में पात्रता, समर्थता, अथवा व्यक्तित्व सम्पन्नता उत्पन्न करके ही मुक्ति की कामना करनी होगी तभी वे एक दूसरे का सहयोग करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकतीं हैं। अनामिका ने अपनी पुस्तक 'स्त्रीत्व का मानचित्र' में यह स्पष्ट किया है कि 'पारंपरिक रेखाओं' को मिटाना आसान नहीं है लेकिन स्त्री को इससे भयभीत होने के बदले इसका सामना करना चाहिए और इन्हें समझना चाहिए। उनसीमाओं को लांघना होगा जिनका सामना रोजमर्रा की जिन्दगी में होता है। दो व्यक्तियों की भिन्नता के बीच भी एक गुंजाइश होती है, और इस गुजाइश की अपनी अनंत संभावनाएं हैं । इन्हें समझना और समेट कर चलना एक कठिन कार्य है, लेकिन इसे करना मुक्ति के लिए आवश्यक है।''[1]

नारी मुक्ति की अवधारणा का सबसे अच्छा आधार स्त्री के अपने जीवन्त अनुभव हैं, भले ही इन अनुभवों में विरोधाभास हो। स्त्री इस तथ्य की सत्यता से परिचित हो गयी है कि अब तक जिसे वह व्यक्तिगत समझती रही है, स्त्री मुक्ति चेतना का सबसे महत्वपूर्ण सार्वजकिन पक्ष वही है।

वैदिक युग में गार्गी याज्ञवलक्य को चुनौती नहीं दे पाई और मौन रह गयी वह यह नहीं कह पाई कि वह स्वयं एक नवीन संस्कृति तथा तर्क व्यवस्था का निर्माण करने में सक्षम है, क्योंकि अतीत में स्त्री यदि विरोध करती थी तो उसी सामाजिक संरचना के भीतर ; पर आज की स्त्री उन सामाजिक संरचनाओं को ही चुनौती देती है। आज की स्त्री मुक्ति चेतना न व्यक्ति को समाज में समाहित करना चाहती है और न ही सिद्धान्तविहीनता का पक्षपात करती है। मुक्ति कामी स्त्री सिद्धान्तों को व्यक्तिगत स्तर पर आजमाना चाहती है। वास्तविकता यह है कि सिद्धान्त पहले नहीं बनते वे जीवन के साथ साथ विकसित होते हैं और स्त्री चिन्तन ने सिद्धान्त एवं व्यवहार के द्विविभाजन को अस्वीकार कर दिया है।

---

1. स्त्रीत्व का मानचित्र - अनामिका - सारांश प्रकाशन- नई दिल्ली

स्त्री मुक्ति की अवधारणा के संदर्भ में यह विचारणीय है कि मुक्ति एवं प्रगति की आकांक्षा सभी को होती है लेकिन प्रगति की दिशा क्या होनी चाहिए? मुक्ति किससे, कैसी और कहाँ? आज की नारी क्या पाश्चात्य नारी जैसी मुक्ति चाहती है? अथवा गृहणी रूप से मुक्त होना चाहती है अथवा पुरुषों से मुक्ति चाहती या पुरुषों की दासता से मुक्ति चाहती है या वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर धन के स्वतंत्र उपयोग की स्वाधीनता चाहती है। वह पुरुष से समानता उसका सहयोग चाहती है अथवा पुरुष पर शासन करना चाहती है।

नारी मुक्ति के संदर्भ में ये प्रश्न विचारणीय है और इन प्रश्नों का स्पष्टीकरण आवश्यक है अन्यथा दृष्टि भ्रामक रहेगी और दिशाएं धुंधली । पश्चिमी महिला आन्दोलन के संदर्भ में भारतीय नारी के मुक्ति का स्वरूप क्या हो? उसे कैसे सार्थक बनाया जाए? आदि प्रश्न अहं मुद्दे हैं।

भारतीय नारी का मुक्ति आन्दोलन पश्चिम की भाँति नहीं है क्योंकि भारतीय संस्कारिकता और स्त्री मानसिकता पुरूष द्वंद्विता में नहीं उसके कंधे से कंधा मिलाकर सहकार सहयोग में ही सन्तुष्ट होती है। नारी का उत्थान पुरुष के सहयोग के अभाव में पूर्णरूप से सम्भव नहीं है। संघर्ष पुरुष जाति से नहीं पुरुष सत्ता से है । पश्चिम में जहाँ स्त्री को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए पुरुषों से लोहा लेना पड़ा वहीं भारतीय नारी की स्थिति में सुधार लाने वाले आन्दोलनों का सूत्रपात पुरुषों द्वारा हुआ है अतः मुक्ति की चेतना में मूल भावना सहयोग की है। प्रतिद्वंद्विता की भावना नारी को पुरुष के सहयोग से वंचित कर रही है। समाज में व्याप्त भोग मूल्यों की प्रधानता के कारण पुरुष की प्रवृत्ति पैशाचिक एवं प्रहारिक होती जा रही है। स्त्री मुक्ति की अवधारणा का अर्थ इन प्रहारिक हाथों से निपटना है, सहयोगी हाथों को झटकना नहीं। भारतीय नारी के मुक्ति संघर्ष में पुरुष की भूमिका सहायोगी और मार्गदर्शक की रही है।

स्त्री मुक्ति की अवधारणा स्त्री-पुरुष समानता में नहीं पूरकता में विश्वास करती है। स्त्री एवं पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं लेकिन पूरक होकर भी स्त्री अपने गुणों व अपनी भूमिका के कारण पुरुष से श्रेष्ठ हैं और अपने इसी श्रेष्ठता का विकास कर वह सम्पूर्ण स्त्री समुदाय की उन्नति कर सकती है इसके लिए सर्वप्रथम उसे अपने अन्दर की हीन भावना से ऊपर उठना होगा एवं पुरुष से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करना होगा। अधिकारों की मांग न कर के उसके लिए स्वयं में व्यक्तित्व सम्पन्नता अथवा पात्रता लानी होगी क्योंकि स्वयं को भोग्या रूप में प्रस्तुत कर वह कभी भी स्वतंत्र नहीं हो सकती और पुरुष की बराबरी में उतर कर नारी अपने निजी स्तर से नीचे ही उतरेगी तथा परिवार को विघटित कर अपनी सुरक्षा ही नहीं अपनी मानसिक शान्ति भी खो देगी और तब केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता उसे उसकी खोयी हुयी शक्ति अस्मिता एवं इज्जत नहीं लौटा पायेगी । आज की नारी को मुक्ति के लिए आर्थिक आत्म निर्भरता के साथ साथ मानसिक, बौद्धिक और नैतिक स्तर पर भी ऊँचें उठना होगा जिससे अधिकार मांगने न पड़ें अर्जित किये जाएं अधिकार के लिए पात्रता से ही अधिकार का मार्ग प्रशस्त होता है।

मुक्ति की अवधारणा के संदर्भ में स्त्री पुरुष समानता की मांग ठीक नहीं क्योंकि स्त्री पुरुष में समानता न होने के कारण है उनकी संरचनात्मक भिन्नता। स्त्री पुरुष के प्राकृतिक शारीरिक एवं मानसिक वैषम्य को किसी समता के सिद्धान्त से मिटाया नहीं जा सकता केवल मानवीय आधार पर और सभ्यता के तकाजे से अनुकूलन एवं सहयोग के द्वारा वैधनिक अधिकारों को प्रदान कर के और उन को सामाजिक मान्यता देकर के समाधाना की राह दी जा सकती है। नारी मुक्ति आन्दोलन की सही दिशा यही हो सकती है- कानूनी अधिकारों का समझदारी पूर्ण सदुपयोग और सामाजिक धरातल परउनका कार्यान्वयन । नारी को मानवी रूप में मान्यता एवं स्त्री पुरुष के मध्य सहज माननवीय सम्बनधों का विकास करके तथा उनमें भेदभाव परक विषमता को दूर कर के स्त्री मुक्ति की अवधारणा

को सही दिशा प्रदान की जा सकती है। उसे यह भी प्रमाणित करना होगा कि स्त्रियाँ देह मन की बनावट में पुरुषों से भिन्न अवश्य हैं हीनतर नहीं।

पद्मा सचदेव ने अपनी पुस्तक "बावड़ी में एक बूँद" में स्त्री मुक्ति पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि –"कितनी अजीब बात है कि पुरुष को छोड़ने के लिए पुरूष का ही दामन पकड़ना पड़ता है इसलिए मैं "वूमैन लिव" में विश्वास नहीं करती। औरत को मुक्ति किससे चाहिए? अपने बच्चों से उनके पिता से या उस घर से जिसका तिनका तिनका जोड़कर उसने गृहस्थी सहेजी है।"[1] वे कहती हैं कि "मैं यह मानती हूँ कि औरत को मुक्ति उन बुराइयों से चाहिए जो आज और ज्यादा बढ़ गयी हैं।"[2]

सरला माहेश्वरी के द्वारा अपनी पुस्तक "नारी प्रश्न" में बहुत व्यापक और गहन अध्ययन के जरिये नारी आन्दोलन की अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि और उसके आधार पर निर्मित दृष्टि की रोशनी में नारी जीवन से जुड़े कई जरूरी सामाजिक प्रश्नों पर गम्भीरता से रोशनी डाली गयी है।"।[3]

नारी उत्पीड़न ओर मुक्ति की चेतना के संदर्भ में उनका मत है कि "नारी वादी आन्दोनलन के अन्तर्गत जो तमाम नये प्रश्न, विचार अथवा स्थापनाएं उभर कर सामने आई हैं उन्हें सिर्फ बकवास निरर्थक या वर्गीय साजिश बताकर उड़ाने से काम नहीं चल सकता"[4] क्योंकि भारतीय समाज में स्त्रियों की पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक समस्याएं पश्चिमी देशों की समस्याओं की अपेक्षा भिन्न हैं इसलिए भारतीय समाज

---

1. हंस में प्रकाशित लेख = बावड़ी में एक बूंद – पदमा सचदेव पृ0 89 सितम्बर 2001
2. वही , पृ0 89
3. नारी प्रश्न – सरला माहेश्वरी पु0 3
4. नारी प्रश्न – सरला माहेश्वरी, पृ0 57

में नारी मुक्ति की अवधारणा पश्चिम से सर्वथा भिन्न है अत: जब तक नारी प्रश्न राष्ट्रीय, समय, समाज, एवं सीमाओं में परिभाषित नहीं किये जायेगें तब तक स्त्री की समस्याओं का सरल समाधान असंभव है।

अत: स्पष्ट है कि मुक्ति के लिए नारी को अपनी कमजोरी पर विजय पाना होगा तथा अपनी चारित्रिक शक्ति एवं संकल्प शक्ति में वृद्धि करनी होगी। इसके लिए बौद्धिक विकास तथा वैज्ञानिक तर्क सम्मत दृष्टि कोण की आवश्यकता है जिसमें मतभेद एवं सुधार के लिए स्थान हो, संकुचित सीमाओं का विस्तार हो तथा विचार संप्रेषण की शक्ति हो। ऐसा व्यक्तित्व ही सही मायने में मुक्ति का आकांक्षी हो सकता है। नारी यदि वास्तव में मुक्त होगी तो वासना से मुक्ति पाने के बाद, पहचान एवं दिशा स्पष्ट करके ही वह मुक्ति का कदम बढ़ा सकती है उसे संघर्ष पुरुषों के खिलाफ नहीं छेड़ना है अपितु उस का संघर्ष उस वातावरण के खिलाफ हैं, जिसे बदलने की जरूरत है।

स्पष्ट है कि नारी को मुक्ति के लिए अपनी स्वभावगत दुर्बलता से मुक्ति पानी होगी। यह उसे पतन्नोन्मुखी बनाती है। जब वह अपनी कमजोरियों से, अपने कामिनी रूप से, अपनी अभ्यर्थिनी वृत्ति से और अपनी अन्य बहनों के प्रति अपनी ईर्ष्या से मुक्ति पाने में सफल होगी तो उसके सम्पूर्ण बन्धन स्वत: ही समाप्त हो जायेंगे। नारी मुक्ति एक स्थिति है, कोई नारा नहीं ओर इस स्थिति को धीरे-धीरे प्रयत्न से आचरण और आदर्श से, आत्म विश्लेषण और सुधार-परिष्कार से, साधना एवं त्याग से ही लाया जा सकता है।

अध्याय — दो

हिन्दी उपन्यास साहित्य

: हिन्दी उपन्यास साहित्य :

उपन्यास जीवन के भोगे हुए क्षणों की सशक्त अभिव्यक्ति का कलात्मक माध्यम है। यह मुख्यत: मानव जीवन के विविध पक्षों को समग्रता के साथ अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। हिन्दी उपन्यास अपने जन्मकाल से ही समाज की गतिविधियों को अपना विषय बनाता रहा है। यह विधा सही अर्थों में आधुनिक काल की उपज है। एवं इसका विकास गद्य के विकास के साथ जुड़ा है। इसका उद्‌भव पश्चिमी पूँजीवादी सभ्यता के फलस्वरूप हुआ। राल्फ फॉक्स के शब्दों में ''पूँजीवादी सभ्यता ने दुनिया की कल्पना प्रधान संस्कृति को जो उपहार दिए हैं, उनमें सार्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास ही है।''[1] पूँजीवादी सभ्यता में यथार्थ के जो नए स्तर, नए आयाम, नए रूप और भौतिकता वादी चिन्तन, आधुनिक विचार, मूल्य तथा प्रश्न उत्पन्न हुए, उन्हें सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करने में अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा उपन्यास पूर्ण रूप से सक्षम दिखाई पड़ता है क्योंकि यह किसी विशिष्ट घटना या पात्र या जीवन के किसी विशेष पक्ष की अपेक्षा उसके सम्पूर्ण पक्ष को प्रस्तुत करता है। हिन्दी उपन्यास के विकास को नवीन चेतना तथा आधुनिक औद्योगिक सभ्यता से सम्बन्धित करते हुए डा0 नलिन विलोचन शर्मा ने हिन्दी उपन्यास के इतिहास को ''हिन्दी भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन'' कहा है।[2]

पाश्चात्य साहित्य में उपन्यास विधा का इतिहास लगभग सवा दो ढाई सौ वर्षों का है और हिन्दी साहित्य में लगभग सौ सवा सौ वर्षों का। हिन्दी उपन्यास सही अर्थों में

---

1. Novel is the most important gift of bourgeois or capitalist civilization to the world's imaginative culture. — Ralph Fox : The Novel and People, page 53.
2. हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ : डा0 नलिन विलोचन शर्मा, पृ0 21

पाश्चात्य साहित्य की ही उपज है। यह अपनी शक्तिमत्ता, समृद्धता, विविधता, शिल्प, शैली एवं भंगिमाओं के लिए पाश्चात्य उपन्यास का ऋणी भी है। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात हिन्दी उपन्यास लेखन में मौलिकता लाने का प्रयास हुआ मगर यह पूर्णरूप से पश्चात्य उपन्यासों के प्रभाव से स्वयं को मुक्त न कर सका।

हिंदी उपन्यास साहित्य का विकास क्रमः

अपने सौ-सवा सौ वर्षों के इतिहास में हिन्दी उपन्यास ने मानव समाज के विविध परिवर्तनों के साथ तथा मानव जीवन के सतत बदलते प्रवाह के अनुकूल अपने आपको ढालने का प्रयास किया है। इसलिए हिन्दी उपन्यास अपने अल्पकालीन इतिहास में भी अनुभूति के विविध स्तरों, शिल्प के बहुविधि दायरों, कथ्य की विविधताओं, शैली एवं भाषा की आधुनिकतम तलाशों और प्रयोगों के नवीन क्षितिजों को स्पर्श करता हुआ जीवन की अनेक आकांक्षाओं की ओर अग्रसर हुआ है। समय के साथ साथ हिन्दी उपन्यास के सृजन में अनेक आयाम जुड़े एवं महत्वपूर्ण परिवर्तन भी आए।

हिन्दी उपन्यास की विकास परम्परा इस प्रकार है:- (1) प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास (2) प्रेमचन्द युगीन उपन्यास (3) प्रेमचन्दोत्तर या स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास ।

प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास :

हिन्दी उपन्यास का प्रेमचन्द पूर्व युग सही अर्थों में प्रयोग का युग था। क्योंकि प्रयोग के द्वारा ही कोई भी साहित्य विधा अपने लिए उपयुक्त भूमि की खोज करने में प्रवृत्त होती है और अपनी सहज भूमि को पाकर ही उसके आन्तरिक यौन्दर्य का उद्‌घाटन होता है। यही कारण है कि यह युग प्रयोग का युग तो था ही साथ ही उपन्यास विधा के आविर्भाव में इस युग का महत्वपूर्ण योगदान भी रहा है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के सभी अंगों में अभिवृद्धि करने में भारतेन्दु का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उपन्यास विधा के आविर्भाव में भारतेन्दु

की महत्वपूर्ण देन है। यद्यपि भारतेन्दु ने स्वयं कोई भी उपन्यास नहीं लिखा है परन्तु उनके अनोखे साहित्यिक व्यक्तित्व के प्रभाव से उपन्यास विधा की तरफ कुछ समकालीन लेखक प्रवृत्त हुए और इस प्रकार लेखकों को उपन्यास के सम्बन्ध में प्रोत्साहित करने में भारतेन्दु का योगदान महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

भारतेन्दु के बाद हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में मुख्य रूप से घटना प्रधान उपन्यासों की रचना हुई। इस समय के उपन्यास घटना चमत्कार का प्रदर्शन कर विशुद्ध मनोरंजन के उद्देश्य से लिखे गए या फिर विशिष्ट उपदेश देने के उद्देश्य से निर्मित हुए । इस काल में सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, जासूसी, तिस्लमी, ऐयारी पूर्ण विविध प्रकार के उपन्यासों का सृजन हुआ, परन्तु इनका मुख्य आधार घटना चमत्कार ही रहा है जिसके फलस्वरूप इन उपन्यासों में जीवन यथार्थ का प्राय: अभाव रहा है। इस युग के उपन्यासों का मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि ''इस काल के उपन्यास अधिकांश रूप में काल्पनिक हैं। बहुत कम ऐसे पात्र हैं जो जीवन के यथार्थ से लिए गये हैं, जो जीवन संघर्षों में जूझते हुए अपना जीवन जीते हैं और जिनकी गणना यथार्थवादी पात्रों में की जा सके।''[1] यद्यपि इस काल के उपन्यासों में मानव मन के सूक्ष्म भावों, अनुभवों, अर्न्तद्वन्द्वों तथा आन्तरिक चित्रवृत्तियों का अध्ययन एवं विश्लेषण प्राय: दिखाई नहीं देता है जो आधुनिक उपन्यासों में दृष्टिगोचर होता है, फिर भी युगीन वातावरण से उत्पन्न समस्याओं को उपन्यास कारों द्वारा अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र चित्रित करने के प्रयासों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस युग के उपन्यास कारों में श्रद्धाराम फिल्लौरी (भाग्यवती), लाला श्रीनिवास दास (परीक्षा गुरू), बाल कृष्ण भट्ट (सौ अजान एक सुजान), किशोरीलाल गोस्वामी (कुसुम

---

1. हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास : डा० सुरेश सिन्हा, पृ० 44

कुमारी), देवकी नन्दन खत्री (चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति) गोपालराम गहमरी (जासूस की जवानी) और ठाकुर जगमोहन सिंह (श्यामा) आदि का स्थान प्रमुख था।

हिन्दी के प्रारम्भिक चरण के इन उपन्यासकारों के उपन्यासों में तिस्लमी उपन्यासों को छोड़ कर हिन्दी उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता शिक्षा और नैतिकता रही है। इस युग में जो सामाजिक स्तर के उपन्यास लिखे गये हैं वे आदर्श सुधार और नीति के प्राचीन मानदंडों पर आधारित है। इन उपन्यासों का कथ्य अपने युग विशेष के अनुरूप कठोर नैतिक अनुशासन द्वारा जीवन को उन्नति के मार्ग पर ले जाने के लिए प्रेरित करना रहा है। इनमें उपदेशों की प्रचुरता है अतएव जीवन की यथार्थता का प्राय: अभाव दृष्टिगोचर होता है। इनमें धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का विशेष वर्णन होने की वजह से उनका परिवेश अत्यन्त सीमित है। इस युग के उपन्यासकारों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि "इस युग के उपन्यासकारों ने अपने आपको केवल आदर्शवाद तक ही सीमित रखने का प्रयास किया है और स्वाभाविक है कि इस आदर्शवाद का स्वरूप भी प्रेमचन्द्र युगीन आदर्शवाद से भिन्न रहा है। यह बात बहुत हद तक सही है कि इस युग के उपन्यास कारों ने भावबोध के आधुनिक स्तर स्थापित कर नए आयामों की कल्पना नहीं की है और न ही उस दिशा में कोई ठोस प्रयास किया है।"[1] परन्तु इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि साहित्य में समकालीन युग के समस्त परिवेश का चित्रण होता है। युग विशेष से भिन्न परिवेश का नहीं। साहित्य युगीन प्रभाव, क्षण तथा क्षण के भोगे हुए अनुभव को युगानुरूप अभिव्यक्ति प्रदान करता है। हर युग विशेष की परिस्थिति, भावबोध, चेतना, समस्या तथा अनुभूति भिन्न-भिन्न होने के कारण हर युग के साहित्यकार की आत्मानुभूति भी युगानुरूप भिन्न-भिन्न होती हैं। अत: यह आवश्यक नहीं कि आधुनिक युग के उपन्यासों के धरातल पर इस युग के उपन्यासों को देखा जाए अथवा अति आधुनिक समीक्षा के मानदण्डों पर प्रायोगकालीन प्रारम्भिक

---

1. उपन्यास समीक्षा के नए प्रतिमान : डा0 दंगल झाल्टे, पृ0 36

चरण के उपन्यासों का विश्लेषण किया जाए। स्पष्ट है कि प्रत्येक युग की अपनी अलग सामाजिक, नैतिक, आर्थिक एवं साहित्यिक मान्यताएं एवं परिस्थितियाँ होती हैं। अत: इस युग में लिखे गये उपन्यासों पर यह आरोप लगाना कि ये उपन्यास उद्देश्य हीन, यथार्थ से रहित एवं मौलिकता हीन हैं सर्वथा अनुचित एवं बेबुनियाद है।

प्रेमचन्द्र पूर्व युग के उपन्यासों में तत्कालीन परिवेश एवं जनजीवन को व्यापक परिस्थितियों का समावेश दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी उपन्यासों के उत्थान के इस प्रथम चरण के प्रारम्भिक उपन्यासों में 'भाग्यवती', 'चन्द्रकांता', 'चन्द्रकांता संतति', 'सा अजान एक सुजान', 'श्यामा' एवं 'राजकुमारी' आदि का महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय स्थान रहा है। ये उपन्यासें तत्कालीन युग की समस्याओं तथा माँगों का प्रतिफल हैं। क्योंकि ''वह संक्रान्ति का युग था और प्रत्येक दिशा में सुधार की तीव्र आश्यकता का अनुभव किया जा रहा था''।[1] अत: स्पष्ट है कि हिन्दी में प्रेम चन्द्र पूर्व युगीन उपन्यास लेखन आदर्श और सुधारवादी भावना को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हुए प्रस्फुटित हुआ है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द के आविर्भाव होने के पूर्व तक अनेकों उपन्यासों की रचना हुई। इनमें अतिशयता की अधिकता होने के बावजूद नई क्रान्ति के लिए आधारभूमि तैयार करने का पूर्ण सामर्थ्य था। भले ही इन उपन्यासों का कलात्मक महत्व न हो, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है। इस युग के उपन्यासकारों में निश्चय ही बहुविध प्रतिभा थी और वे नई दिशाओं की ओर निश्चय ही बढ़ना चाहते थे। प्रारम्भिक चरण में यह कार्य अत्यन्त कठिन था फिर भी उनकी अनुभूति की लक्ष्योन्मुखी अभिव्यक्ति की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। ''इस काल की कृतियों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि लेखकों में नए क्षितिज की संभावनाओं की ओर बढ़ने की ललक थी, किन्तु घने नीहार को

---

1. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ: डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 16

भेदकर बाहर आना कठिन काम था।''[1] और इस घने कोहरे को भेदकर उपन्यास की नई भूमि का सृजन प्रेमचन्द ने किया।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यास :

हिन्दी साहित्य में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप सर्वप्रथम प्रेमचन्द के उपन्यासों में ही दृष्टिगोचर होता है उपन्यासकार-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द के पदार्पण से उपन्यास साहित्य की रिक्तता की सही अर्थों में पूर्ति हुई। मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार तथा युग प्रवर्तक हैं। इनके उपन्यासों में पहली बार जनसामान्य को वाणी मिली। इन्होंने पहली बार अपनी सशक्त लेखनी एवं अपूर्व प्रतिभा शक्ति से हिन्दी उपन्यास को उपन्यासत्व प्रदान किया। इस अर्थ में प्रेमचन्द को हिन्दी उपन्यास का जनक ही मानना सार्थक होगा। आधुनिक हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ और वास्तविक विकास प्रेमचन्दं युग से ही माना जाता है। उनके उपन्यासों में विशाल जनजीवन और विशेषत: भारत के किसान और मध्यवर्गीय जीवन की विभिन्न समस्याएं कलात्मक रूप से चित्रित हुईं हैं। हिन्दी साहित्य में उपन्यास की वास्तविक शक्ति, स्वरूप और नवीन चेतना को सही अर्थों में सबसे पहले प्रेमचन्द ने पहचाना और उसे एक नई दिशा प्रदान करके उसे उत्कर्ष बिन्दु पर पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रकार ''प्रेमचन्द स्वयं एक नवीन विधा के जनक थे और इस नई विधा ने ही समाज को देखने का प्रयत्न किया । मूलत: उपन्यास का पूर्ण युग यहीं से प्रारम्भ होता है। प्रेमचन्द की दृष्टि युग-चेतना लेकर प्रकट हुई और उसको स्वतंत्र विधा बनाने का दायित्व उसकी सामाजिक मौलिकता थी।''[2] अत: स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन युग चेतना एवं यथार्थ जीवन के आदर्श को प्रभावी ढंग से अंकित किया है।

---

1. दिशाओं का परिवेश : संपादक ललित शुक्ल पृ0 13
2. हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग : अरविन्द गुर्टू . पृष्ठ 13

एक सफल उपन्यासकार की समस्त विशेषताएं जैसे - अनुभूति, प्रखर चिंतन, एकाग्रता, विधायक रचना क्षमता तथा विशिष्ट उद्देश्यपरकता आदि प्रेमचन्द में विद्यमान थीं। प्रेमचन्द की लगभग सभी उपन्यासों में उनका विशिष्ट उद्देश्य परिलक्षित होता है एवं उन्होंने इस विशिष्ट उद्देश्य एवं लक्ष्य का चित्रण अत्यन्त ही प्रभावशाली ढंग से सफलता पूर्वक किया है। वास्तव में "प्रेमचन्द ने पहली बार इस सत्य को पहचाना कि उपन्यास सोद्देश्य होने चाहिए अर्थात उपन्यास या कोई भी साहित्यिक विधा (केवल) मनोरंजन के लिए नहीं होती वरन् वह मानव जीवन को शक्ति और सुन्दरता प्रदान करने वाली सोद्देश्य रचना होती है।"[1] इस विशिष्ट उद्देश्यता का निरूपण प्राय: प्रेमचन्द युगीन सभी उपन्यास कारों ने अपनी उपन्यासों में निरूपित किया है।

इस युग में हिन्दी उपन्यास में पहली बार यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया गया तथा उपन्यासों के कथ्य, शिल्प एवं भाषा में भी प्रौढ़ता आई। भाषा में आलंकारिकता एवं कल्पना के स्थान पर सत्य एवं यथार्थ की प्रतिष्ठा की गई। उपन्यास के प्राचीन एवं परम्परागत मानदण्डों एवं मान्यताओं में भी परिवर्तन हुआ। "इसी समय उपन्यासों में भाषा की लच्छेदारी, आलंकारिकता, छिछला रोमांस एवं छायावादी अतिकाल्पनिकता और पलायन के स्थान पर जीवन सत्य का, युग सत्य का अक्षर एवं प्रकाश जगमगा उठा।"[2]

शिल्प की दृष्टि से यह युग चरित्र की विचित्रता के आधार पर घटना-संघठन का युग कहा जा सकता है। इस युग में मानव जीवन के दो पक्षों का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। जिनमें एक घटना तो दूसरा चरित्र है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में घटना को तो महत्व प्रदान ही किया गया है साथ ही घटना से अधिक चरित्र को उपन्यास के लिए प्राणवान तत्व समझा

---

1. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा : डा0 रामदरश मिश्र, पृ0 33

2. उपन्यास सिद्धान्त एवं संरचना : डा0 रवीन्द्र कुमार जैन, पृ0 118

गया है। प्रेमचन्द का सबसे प्रधानगुण उनकी व्यापक सहानुभूति हैं। उनकी यह सहानुभूति तत्कालीन शोषित, पीड़ित और गरीब समाज के प्रति दृष्टिगोचर होती है। इन्होंने अपनी उपन्यासों में शताब्दियों से दलित, अपमानित तथा शोषित कृषकों को आवाज प्रदान की तथा असहाय नारी जाति के प्रति संवेदना एवं करुणा व्यक्त की। ''गोदान'' में आकर किसान जीवन की दारुण दशा के प्रति प्रेमचन्द की करुणा की चरम अभिव्यक्ति हुई है।'' होरी' के चरित्र के द्वारा प्रेमचन्द ने तत्कालीन युग में किसान के जीवन की विसंगतियों एवं वेदना का मार्मिक उद्घाटन किया है। ''प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के द्वारा यह प्रमाणित किया कि भारत में उपन्यास किसानों की महागाथा के रूप में अधिक सार्थक हो सकता है न कि मध्यवर्गीय व्यक्ति के निजी संघर्ष के रूप में। इस दृष्टि से वह भारतीय उपन्यास के जनक हैं।''[1] इनके उपन्यासों में घटना एवं चरित्र मानव चेतना की एक व्यापक संवदेना के रूप में दिखाई देते हैं और यही उन्हें एक भिन्न एवं स्वतंत्र कोटि के उपन्यासकारों में ला खड़ा करते हैं।

प्रेमचन्द मूलत: एक मानवतावादी उपन्यासकार हैं और यह मानवतावादी दृष्टि उनकी प्राय: सभी महानकृतियों में परिलक्षित होती हैं । अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति 'गोदान' तथा उपन्यास 'निर्मला' को छोड़ कर अन्य सभी रचनाओं में उनका दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रहा है। अपनी रचनाओं में इन्होंने मानवतावाद को आदर्श की ओर उन्मुख कर के यथार्थ के धरातल पर खड़ा किया है। साधारण जन भाषा का प्रयोग प्रेमचन्द की उपन्यासों की मुख्य विशेषता रही है यही कारण है कि इनके उपन्यास एवं कथा कृतियाँ विशिष्ट समुदाय के सीमित दायरे से निकल कर जन साधारण तक पहुँच कर लोकप्रिय हो सकीं। इस प्रकार ''प्रेमचन्द के जीवन चित्र की व्यापकता, चित्रण की यथार्थता, प्रन्यक्ष अनुभूतिगत चित्रों की आत्मक्ता एवं आत्मीयता तथा मानव प्रेम की असीम प्राणवत्ता परवर्ती

---

1. डा0 नामवर सिंह का लेख : साप्ताहिक हिन्दुस्तान (प्रेमचन्द जन्म शताब्दी विशेषांक) सं (27 जुलाई - 2 अगस्त 1980 अंक) पृष्ठ 20

नवदिशान्वेषियों के लिए मापमान वन गई है।''[1] इस प्रकार प्रेमचन्द की उपन्यास परम्परा ने सम्पूर्ण सामाजिक आर्थिक संरचना को जनहित में परिवर्तित कर जिस सामाजिक क्रान्ति चेतना का शुभारम्भ किया उसे परवर्ती काल में विकसित करने का श्रेय यशपाल, अमृतलाल नागर, विश्वंभर नाथ शर्मा ''कौशिक'', फणीश्वर नाथ रेणु तथा उपेन्द्र नाथ अश्क आदि उपन्यासकारों को दिया जा सकता है।

प्रेमचन्द युग का हिन्दी उपन्यास कला की दृष्टि से अभिधा से लक्षणा की ओर विकसित हुआ परन्तु इसमें व्यंजना के सूक्ष्म सौन्दर्य के निरूपण का प्राय: अभाव दृष्टिगोचर होता है। फिर भी प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दयुगीन उपन्यास कारों ने हिन्दी उपन्याम को विकाम के जिस मार्ग पर पहुँचाया वे हिन्दी की दृष्टि से सर्वथा नवीन थे। इस युग के उपन्यासकारों ने अनेक नवीन संभावनाओं की खोज की है और हिन्दी उपन्यास साहित्य को नवीन आयाम प्रदान करने में सफलता प्राप्त की तथा आधुनिक हिन्दी उपन्यास की भूमिका भी प्रस्तुत की है और इन्हीं संभावनाओं को प्रेमचन्द युग के बाद के उपन्यासकारों ने विकसित कर अनेक क्षितिजों का निर्माण किया।

प्रेमचन्द युग में राजनीतिक और सामाजिक उपन्यासों का भी सृजन हुआ। इनमें समग्र रूप से भारतीय जीवन की बहुमुखी समस्याओं का चित्रण हुआ है। प्रेमचन्द का उपन्याम 'प्रेमा', 'वरदान', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रय', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'प्रतिज्ञा', 'गवन', 'कायाकल्प', 'निर्मला' एवं 'गोदान' आदि उपन्यास साहित्य की मुख्य उपलब्धियाँ हैं। 'गोदान' हिन्दी उपन्यास साहित्य का सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास है।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास :

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास में जीवन की विविधताओं का संपूर्ण चित्रण हुआ है । इस काल में हिन्दी उपन्यास तथा उसकी समीक्षा के जिन क्षितिजों का प्रादुर्भाव हुआ है और

---

1. प्रेमचन्दोत्तर उपयासों की शिल्पविधि : डॉ सत्यपाल चुघ, पृ0 69

आधुनिकता के जो आयाम बने हैं उनमें मुख्य रूप से दो धाराएं परिलक्षित होती हैं। प्रथम, मनोविज्ञान पर आधारित उपन्यास तथा उससे प्रभावित मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा और द्वितीय, वर्गसंघर्ष पर आधारित प्रगतिवादी उपन्यास और उससे प्रभावित मार्क्सवादी समीक्षा। इसके अतिरिक्त अस्तित्व वादी दर्शन का भी प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों पर विशेष प्रभाव पड़ा। इस प्रकार इस काल में हिन्दी उपन्यास पर आधुनिक चिन्तन प्रणाली एवं पाश्चात्य दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा।

इस काल के कई उपन्यासकार मार्क्सवाद के समर्थक हैं तो कई मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के कुछ व्यक्तिवाद के समर्थक हैं तो कुछ फ्रायड की मान्यताओं के। इस काल का उपन्यास तर्कवाद, प्रकृतिवाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, स्वच्छन्दतावाद, एवं अस्तित्ववाद आदि विभिन्न वादों और मान्यताओं से प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। इस युग ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर जैसे समर्थ उपन्यासकार दिए हैं।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में मनोविश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति की एक प्रमुख धारा प्रवाहित हुई। इस धारा से सम्बन्धित प्रायः सभी उपन्यास फ्रायड के अवचेतन विज्ञान से प्रभावित हैं। व्यक्ति का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व इनका प्रमुख विषय है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास व्यक्ति के क्रियाकलाप की मानसिक भूमिका को प्रत्यक्ष करता है। इन उपन्यासों में पात्रों की आन्तरिक दशाओं, उनके क्रियाकलापों, द्वन्द्वों और मनोविकारों का सूक्ष्मता से चित्रांकन होता है। पात्रों की आन्तरिक मनोभूमि तथा क्रियाकलापों का प्रारम्भ प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुआ परन्तु उसका वास्तविक विकास एवं उत्कर्ष उनके परवर्ती उपन्यास कार अज्ञेय, जैनेन्द्र तथा इलाचन्द्र जोशी आदि के उपन्यासों में ही हुआ।

इस युग की दूसरी धारा मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी थी। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार व्यक्ति के विकास में आर्थिक कारण मुख्य है। इस कोटि में यशपाल, राहुल

सांकृत्यायन, रांगेय राघव, नागार्जुन, राजेन्द्र यादव, भैरवप्रसाद गुप्त, उपेन्द्र नाथ अश्क आदि का प्रमुख स्थान है । मार्क्सवादी कथावस्तु साधारण कृषकों, मजदूरों और सर्वहारा को लेकर चलती है। इसमें परस्पर संघर्ष और विषमता का वर्णन तो किया ही जाता है साथ ही शोषक वर्ग के शोषण के हथकंडों की भी खुलकर मीमांसा की जाती है।

यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन आदि ने अपनी उपन्यासों में वर्ग संघर्ष को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इनके उपन्यासों में आर्थिक विकासवाद की अपेक्षा व्यापक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के प्रति अभिरुचि दिखाई पड़ती है तथा वर्तमान जीवन के मूल में स्थित तनाव तथा उससे व्यक्त-अव्यक्त प्रभावों का चित्रण अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है।

मार्क्सवादी परम्परा के समर्थक उपन्यासकार, यशपाल के उपन्यासों का प्रमुख स्वर वर्ग संघर्ष का है फिर भी उसमें व्यंग एवं अवसाद की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है। इसी परम्परा के दूसरे प्रमुख उपन्यासकार रांगेय राघव हैं। इनके उपन्यासों में अवचेतन की अपेक्षा चेतन को, भावना की अपेक्षा बुद्धि को तथा कार्य करण संबन्धों को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। प्रगतिवादी उपन्यासकारों की परम्परा में आने वाले नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतलाल नागर, उपेन्द्र नाथ अश्क व राहुल सांकृत्यायन आदि उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में कतिपय नए प्रयोग करते हुए अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में उपन्यास साहित्य में जिस तीसरी धारा का आविर्भाव हुआ वह अस्तित्व वादी दर्शन से प्रभावित है। अस्तित्व वादी दर्शन का विकास शुद्ध दर्शन के रूप में स्वतंत्र रीति से न हो कर साहित्य के माध्यम से हुआ है। इस दर्शन के समर्थक मुख्य रूप में सात्र एवं कामू हैं। ये सर्वप्रथम सृजनकर्ता साहित्यकार हैं और बाद में दार्शनिक । इन दोनों साहित्यकारों का विचार है कि जीवन के वास्तविक रूप की अभिव्यक्ति सार्थक रूप से न तो दर्शन कर सकता है और न ही विज्ञान, क्योंकि दोनों निर्जीव सिद्धान्त सूत्रों पर निर्भर हैं.

परन्तु साहित्य का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन और उसके प्रत्यक्ष अनुभव के साथ जुड़ा हुआ है। अतः जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति साहित्य में ही संभव है। ये ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हुए मानव को ईश्वर मानते हैं। इस प्रकार अस्तित्ववादी दर्शन के अन्तर्गत व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही महत्वपूर्ण मानकर अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाएं रखने का निरन्तर प्रयास किया जाता रहा है।

विश्व साहित्य की समस्त धाराओं को इस अस्तित्ववादी चिन्तन ने पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। इस दर्शन का गहरा प्रभाव हिन्दी साहित्य पर, विशेष रूप से कविता, कहानी और उपन्यास पर पड़ा अज्ञेय इस विचारधारा के मुख्य रूप मे समर्थक रहे हैं और उन्होंने अपने काव्य एवं उपन्यासों के माध्यम से इस धारा को पुष्ट किया हैं। इनके उपन्यास 'अपने -अपने अजनबी' पर अस्तित्व वादी दर्शन का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अज्ञेय के अतिरिक्त जैनेन्द्र के 'मुक्तिबोध', सुरेश सिन्हा के 'एक और अजनबी', उषा प्रियंवदा के 'रुकोगी नहीं राधिका' आदि उपन्यासों में अस्तित्ववादी चिन्तन प्रणाली को सूत्र रूप में ग्रहण करने का प्रयास दृष्टिगत होता हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में मनोविश्लेषण वादी, मार्क्सवादी एवं अस्तित्ववादी पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है साथ ही इस काल में ऐतिहासिक, आंचलिक, प्रयोगशील परम्परा से युक्त, आधुनिकता बोध से युक्त तथा अन्य विभिन्न अभिनव प्रवृत्तियों से युक्त जैसे-व्यक्तिवादी प्रवृत्ति, महानगरीय जीवन बोध से युक्त, नारी-शोषण, दलित व्यथा-गाथा, प्रवासी भारतीय जीवन की समस्याओं से सम्बंन्धित, राजनीतिक समस्याओं से युक्त उपन्यासों का भी सृजन हुआ।

आंचलिक उपन्यासों के अन्तर्गत फणीश्वर नाथ रेणु कृत 'मैला आंचल', 'परती परिकथा', उदयशंकर भट्ट का 'लोकपरलोक', 'सागर और लहरें', 'नागार्जुन का उपन्यास 'बलचनमा' तथा 'वरूण के बेटे', रांगेय राघव का 'काका' और 'कब तक पुकारूँ',

रामदरश मिश्र का ' जल टूटता हुआ', हिमांशु श्रीवास्तव का 'नदी फिर वह चली' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

इस युग में कहानी और कविता की भाँति उपन्यास के क्षेत्र में भी विभिन्न प्रयोग हुए। इस प्रकार के उपन्यासों के अन्तर्गत धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' , रुद्र का 'बहती गंगा', गिरधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर' तथा विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित 'ग्याहर सपनों का देश' आदि उपन्यास प्रमुख हैं। इस युग में बौद्धिकता के अतिरेक, औद्योगीकरण, यन्त्रीकरण तथा पाश्चात्य विचारधाराओं के फलस्वरूप आधुनिकता की जो स्थिति उत्पन्न हुई उसका प्रभाव अन्य विधाओं की भाँति उपन्यास विधा पर भी पड़ा। मोहन राकेश कृत उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' तथा 'न आने वाला कल', तथा निर्मल वर्मा का 'वे दिन' उपन्यास आधुनिक संवेदना से सम्पन्न उपन्यास हैं। आधुनिकता वोध के उपन्यासों में राजकमल चौधरी का 'मछली मरी हुई', कमलेश्वर का 'डाक वंगला', उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। नरेश मेहता कृत उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' तथा 'नदी यशस्वी है' संरचनात्मक दृष्टि से आधुनिक हैं किन्तु कथ्य की दृष्टि से पूर्व परम्परा के अनुवर्ती हैं।

इसके अतिरिक्त स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास जगत, के सातवें एवं आठवें दशकों में अनेक पुराने तथा नवीन लेखक एवं लेखिकाओं के महत्वपूर्ण उपन्यासों का प्रकाशन हुआ है। इन रचनाओं में विविध अभिनव प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आईं हैं। इन उपन्यासकारों में उपेन्द्र नाथ अश्क, राजेन्द्र यादव, यशपाल, मन्मथ नाथ गुप्त, शैलेश मटियानी, रमेशचन्द्र शाह, शिव प्रसाद सिंह, मणिमधुकर, गिरिराज किशोर, कृष्णासोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, मंजुल भगत, मृणाल पाण्डेय, बदीउज्जमा, राही मासूम रजा, नरेन्द्र कोहली, हरिशंकर परसाई, सर्वेश्वर दयाल, मेहरुन्निसा परवेज, ममता कालिया, प्रभाकर माचवे, राजी सेठ, राजनीपरिकर, मालती जोशी, सुरेन्द्र वर्मा, हिमांशु श्रीवास्तव, रमाकान्त, शमशेर सिंह, रमेश बक्षी, ओम प्रकाश, गोविन्द मिश्र, कृष्णा अग्निहोत्री, मीनाक्षी पुरी, सुरेन्द्र तिवारी, ऋता

शुक्ला, नासिरा शर्मा, तथा विवेकी राय आदि का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपनी सशक्त औपन्यासिक कृतियों के द्वारा स्वतंन्त्र्योत्तर उपन्यास साहित्य के विकास एवं उन्नति में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी उपन्यास के उद्भव काल से लेकर प्रेमचन्द युग तक और उसके बाद के उपन्यासों में अनेक मोड़ आए, अनेकों परिवर्तन भी हुए और मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी तथा अस्तित्व वादी, आंचलिकता तथा आधुनिकता जैसी अनेक प्रवृत्तियों का समावेश भी हुआ। आज के उपन्यासों में राजनैतिक सामाजिक भ्रष्टाचार के प्रति पर्याप्त विद्रोह दृष्टिगोचर होता है। इन उपन्यासों में न केवल बाह्य स्थितियों का अंकन हुआ है अपितु मानव मन की अनचाही गहराइयों में पैठकर मानव व्यवहार का भी सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। परन्तु इसके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास की विकासात्मक गतिविधियों के सम्बन्ध में दूसरा पक्ष भी है, वह यह है कि विभिन्न प्रयोगों की लम्बी श्रृंखला के पश्चात उपन्यास साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हुआ है। परन्तु उपन्यास कार की दृष्टि में अपेक्षित गम्भीरता अथवा अगाधता का अभाव है। अत: वह व्यक्ति को उसके पूर्ण आयामों में प्रस्तुत नहीं कर पाया है। उपन्यासों में जो समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, वे समस्याओं की जड़ों को नहीं; अपितु जीवन के केवल बुनियादी पहलुओं को ही छू पाए हैं। परन्तु हिन्दी उपन्यास साहित्य ने अत्यन्त ही अल्प समय में जो विकास किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शनैः शनैः उपन्यासकार की दृष्टि में पर्याप्त गम्भीरता का भी समावेश हो जायेगा, वह व्यापक सत्य का अनुभव शीघ्र ही करेगा और उसकी अभिव्यक्ति उपन्यास साहित्य में होगी। विगत वर्षों में विविध प्रयोगों से युक्त जो औपन्यासिक कृतियाँ प्रणीत हुई हैं उनमें कुछ कमियों एवं दुर्बलताओं के होते हुए भी साहित्यिक प्रगतिशीलता के शुभ लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। आधुनिक उपन्यास साहित्य ने अपने लगभग सौ वर्षों के काल में त्वरतापूर्वक अनेक मंजिलें तय कीं हैं। इसका भविष्य उज्जवल है। ये प्रेमचन्द द्वारा प्रदर्शित स्थान से बहुत आगे निकल चुका है। आज सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आंचलिक,

उसका व्यक्तित्व इन सबके पीछे देशगत एवं काल गत परिवेश की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। आज यदि 'रुकोगी नहीं राधिका' की राधिका या 'पतझड़ की आवाजें' की अनुभा जीवन के विभिन्न पक्षों एवं सामाजिक विडम्बनाओं और असंगतियों पर अधिकार पूर्वक अपने विचार व्यक्त करती है तो, यह सहसा या आकस्मिक नहीं है। उसके पीछे पिछले डेढ़ दो शताब्दियों की गतिविधियाँ कारण भूत रही हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व अपनी पारिपार्श्विक गतिविधियों से एवं परिस्थितियों से निर्मित होता है अत: 1960 के बाद के उपन्यासों में जो स्त्री विमर्श उभरा है,उसके सही सही मूल्यांकन के लिए पूर्ववर्ती परंपरा का विहंगावलोकन आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रेमचन्द पूर्वकाल के उपन्यासों में नारी विमर्श :

हिन्दी के मौलिक उपन्यासों में पं0 श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत 'भाग्यवती' उपन्यास का मुख्य स्थान है। यह एक सुखद एवं आश्चर्य जनक संयोग है कि हिन्दी का यह उपन्याम नारी चेतना और नारी शिक्षा से संबद्ध है। इस उपन्यास में भाग्यवती के माध्यम से नारी चेतना को नवीन आधुनिक संदर्भ में दिशा प्रदान की गई है। भाग्यवती आधुनिक शिक्षित नारियों की भाँति सुशिक्षित नहीं है, परन्तु उस समय नारी जितनी शिक्षित हो सकती थी उतनी शिक्षा उसकी थी। उस शिक्षा के कारण पति द्वारा त्याग दिये जाने के बाद भी वह स्वाभिमान पूर्वक आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करती हुई अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिचय देती है।

श्रृद्धाराम फुल्लौरी के अतिरिक्त लाला श्रीनिवास दास, पंडित बाल कृष्ण भट्ट, अयोध्या सिंह उपाध्याय, गोपालराम गहमरी, देवकी नंदन खत्री, मन्नन द्विवेदी प्रभृति लेखकों को क्रमश: 'परीक्षागुरू', 'सौ अजान एक सुजान', 'अधखिला फूल', 'स्वतंन्त्र रमा परतन्त्र लक्ष्मी', 'लवंगी', 'नि: सहाय हिंदू', 'कल्याणी' प्रभृति उपन्यास मिलते हैं। इनमें फुल्लौरी, लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, मन्नन द्विवेदी इत्यादि नवसुधारवादी लेखक हैं। उनकी नारी विषयक अवधारणा उदार थी एवं रूढ़ि ग्रस्तता से मुक्त थी, परन्तु मेहता लज्जा राम

शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्ण दास प्रभृत्ति लेखक पुरानी सनातनपंथी विचारधारा के थे। अत: उनके उपन्यासों में नारी स्थिति सानतनी एवं सामंतवादी विचारधारा से प्रभावित है। वे नारी शिक्षा के भी घोर विरोधी रहे हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा कृत 'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' का उद्देश्य 'भाग्यवती' से नितान्त विपरीत ध्रुव पर है । इसमें रमा शिक्षित और स्वतंत्र विचारों वाली है और लक्ष्मी अशिक्षित और दूसरों पर निर्भर रहने वाली है। लेखक ने रमा की तुलना में लक्ष्मी के दाम्पत्य जीवन को अधिक सुखी बताया है और परोक्ष रूप में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि स्त्रियों की शिक्षा सामाजिक पारिवारिक जीवन में समस्याएँ उत्पन्न करतीं हैं।[1]

स्त्रियों के प्रति उनकी दृष्टि भी रीतिकालीन एवं भोगवादी रही है। गहमरी जी ने जासूसी उपन्यास लिखे हैं, जिनमें स्त्रियों की भूमिका कठपुतली सी रही है। खत्री जी का तो परिवेश ही सामंतकालीन है। वहाँ कुछ तेजस्वी नारी चरित्र उभरें हैं, परन्तु उनका परिचालन राजाओं और मंत्रियों द्वारा होने के कारण उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सका है। इसके विपरीत मन्नन द्विवेदी के उपन्यासों में, विशेषत: 'कल्याणी' में नारी विषयक गांधीवादी दृष्टिकोण को मुख्य स्थान मिला है और यही दृष्टिकोण बाद में प्रेमचन्द के स्त्री सोच में विकसित हुआ है।

प्रेमचन्द पूर्व काल के सामाजिक उपन्यासों में नारी चित्रण की दृष्टि से जगमोहन कृत 'श्यामा स्वप्न' (1888) उपन्यास महत्वपूर्ण है इसमें निरूपित अंतर्जातीय विवाह की समस्या उसे नव्यसमाज एवं सामाजिक मान्यताओं से संबद्ध कर देता है।

प्रेमचन्द पूर्व काल के उपन्यासों में नारी चित्रण की दृष्टि से जगमोहन सिंह कृत 'श्यामा स्वप्न' (1888), लज्जा राम शर्मा कृत 'आदर्श दम्पत्ति' (1904) 'बिगड़े का सुधार'

---

1. हिन्दी उपन्यास की विकास परंपरा में साठोत्तरी हिंदी उपन्यास - शोध प्रबन्ध : डा0 पारूकान्त देसाई, पृ0 89

(1907), आदर्श हिंदू (1914), किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'लीलावती या आदर्श सती' (1907) अयोध्या सिंह उपाध्याय कृत 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (1899) आदि उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान है।

जगमोहन कृत 'श्यामा स्वप्न' उपन्यास में निरूपित अन्तर्जातीय विवाह की समस्या स्त्री विमर्श को नवीन दृष्ट प्रदान करती है और इसे नव्यसमाज एवं नवीन सामाजिक मान्यताओं से सम्बन्ध कर देती है।[1]

आदर्श दम्पत्ति एक आदर्शवादी उपन्यास है और भारतीय स्त्री के सामाजिक पारिवारिक संदर्भ को प्राचीन परंपराओं की पक्षधरता में देखते हुए उनकी आदर्श परिणति की व्याख्या करता है। 'बिगड़े का सुधार' उपन्यास 'स्वतंत्र रमा परतन्त्र लक्ष्मी' उपन्यास के शैली में लिखा गया है। 'आदर्श हिन्दू' में लेखक ने ब्राह्मण कुटुम्ब में सनातनधर्म का दिग्दर्शन, हिन्दुत्व का आदर्श, तत्कालीन समाज में स्त्री की स्थिति आदि को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है। इसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति में निरूपित भारतीय नारी का सती सावित्री वाला आदर्श स्वरूप व्यक्त हुआ है।

अयोध्या सिंह उपाध्याय के उपन्यास ' ठेठ हिन्दी का ठाठ' में दहेज समस्या एवं अनमेल विवाहके दुष्परिणामों का चित्रण है।

अतएव इस युग के उपन्यासों में नारी चित्रण के सम्बन्ध में परम्परावादी और नवसुधारवादी दो प्रकार के दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होते हैं। नवसुधारवादी लेखकों में सुशिक्षित नारी पात्र मिलते हैं। इन लेखकों ने नारी शिक्षा, विधवा विवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा जैसे नारी विमर्श से सम्बन्धित प्रश्नों को उठाया है। परन्तु इसके विपरीत परम्परावादी

---

1. हिन्दी उपन्यास : सं0 डा0 सुषमा प्रियदर्शिनी : लेख - "प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास" - डा0 राम चन्द्र तिवारी, पृ० 135

अथवा सामन्त पंथी उपन्यासकारों ने नारीशिक्षा का विरोध करते हुए शिक्षित नारियों के दाम्पत्य जीवन को असफल करार दिया है। इन्होंने नारी के प्राचीन आदर्श को ध्यान में रखते हुए सेवा, पतिपरायणता आदि भावों को सर्वोपरि स्थान दिया है।

प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द युग के उपन्यासों में नारी विमर्श :

सन 1918 से लेकर 1936 तक का समय हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द युग के नाम से जाना जाता है। प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास आदर्श वादी अथवा वायवी रम्याख्यानों की परिधि में सीमित था। उसे यथार्थ से जोड़ने का महान कार्य प्रेमचन्द द्वारा हुआ।

1906 में प्रकाशित प्रेमचन्द का उपन्यास 'हमखुर्मा-ओ-हमसवाव' (प्रेमा) में विधवा विवाह की समस्या को उठाया गया है, जिसका संवन्ध नारी जीवन से है। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले लेखक हैं जिन्होंने अपने उपन्यासों में विधवा विवाह का खुल कर समर्थन किया है। इस उपन्यास में नारी पात्र अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उनके मन में विद्रोह की भावना मिलती है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'वरदान' की नायिका विरजन के माध्यम से नारी उत्थान एवं नारी प्रवृत्ति के नए क्षितिजों का उदघाटन किया है। 'सेवासदन' उपन्यास में अनमेल विवाह, विधवा समस्या, भ्रष्टाचार, वेश्या समस्या जैसे आयामों को उभारा गया है।

'सेवासदन' के बाद प्रेमचन्द जी के 'प्रेमाश्रम' (1920), 'रंगभूमि' (1925), 'कायाकल्प' (1926), 'निर्मला' (1926), 'गबन' (1930), 'कर्मभूमि' (1932), 'गोदान' (1936) प्रभृति उपन्यास आते हैं। इनमें प्रेमचन्द जी ने सुखदा, निर्मला, जालपा, सोफिया, सकीना, धनिया जैसे कुछ सशक्त नारी पात्र दिए हैं। प्रेमचन्द के नारी पात्रों में जिजीविषा, संघर्ष, रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों से टकराने का साहस दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री विमर्श को एक नई, आधुनिक एवं विस्तृत

आधार भूमि प्रदान की है और नारी वर्ग को हजारो वर्षों की शास्त्रोचित गुलामी से मुक्ति दिलाने का सार्थक प्रयास भी किया है।

प्रेमचन्द युग के अन्य उपन्यास कारों में विश्वम्भर शर्मा कौशिक, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' भगवती चरण वाजपेयी, जयशंकर प्रसाद, शियारामशरण गुप्त, वृंदावनलाल वर्मा आदि का मुख्य स्थान है। कौशिक जी अपने 'माँ' और 'भिखारिणी' जैसे उपन्यासों में नारी का आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। 'उग्र' जी के इस समय के उपन्यास 'घंटा' और 'दिल्ली का दलाल' में स्त्री पुरुष के अवैध संबन्धों को तथा वेश्या जीवन की त्रासदी एवं नारकीयता को उद्घाटित किया गया है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने 'प्रेमपथ', 'पतिता की साधना', 'त्यागमयी' आदि उपन्यासों में अधिकांशतः नारी जीवन की विवशताओं को आदर्शात्मक ढंग से चित्रित किया है। प्रसाद जी के उपन्यास 'तितली' और 'इरावती' में जहाँ रोमांटिक आदर्श वादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ है, वहीं कंकाल में उन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द युग में नारी के प्रति समाज की मानसिकता, समाज में उसकी स्थिति तथा नारी चेतना के सम्वन्ध में परिवर्तन आया। अव वह केवल 'भोग्या' नहीं रही वह जीवन संघर्ष में पुरुष के साथ कंधे मे कंधा मिलाकर चनले लगी तथा पढ़ लिख कर आत्मनिर्भर होने के साथ साथ वह सामाजिक राजनीतिक गतिविधियों में भी भाग लेने लगी।

प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासों में नारी विमर्श :

यहाँ पर प्रेमचन्दोत्तर काल के साठ तक के उपन्यासों में नारी जीवन की गतिविधि को प्रस्तुत किऐ जाने का प्रयास है, अध्ययन की सुविधा के लिए प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासों को स्वतंत्रता पूर्व (1936-1947) और स्वतंन्त्र्योत्तर (1947-1960) जैसे भागों में विभक्त किया गया है।

स्वतंत्रतापूर्व काल : (1936-1947)

इस युग में उपन्यास की विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास हुआ जैसे सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, समाजवादी, आंचलिक, राजनीतिक एवं व्यंगात्मक प्रवृत्ति।

सामाजिक उपन्यासों में जहाँ तक नारी का संबन्ध है दहेज प्रथा, विधवा विवाह, नारी स्वतंत्रता, नारी शिक्षा, अनमेल विवाह आदि प्रश्नों को उठाया गया है। इस समय के उपन्यासकारों में भगवती प्रसाद वाजपेयी, सियारामशरण गुप्त, ऋषभचरण जैन, उषा देवी मित्रा, देवनारायण द्विवेदी, नरसिंह राव, सर्वदानंद वर्मा आदि का मुख्य स्थान है।

भगवती चरण वर्मा ने अपने उपन्यास , 'पिपासा' (1937), 'दो बहनें' (1940), 'निमंत्रण' (1942) में आदर्शात्मक सुधारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। सियारामशरण गुप्त ने अपने उपन्यास 'नारी' (1937) में नारी की यातनाओं, संघर्षों एवं त्रासदी का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है।

महिला उपन्यासकारों में उषा देवी मित्रा ने जहाँ अपने उपन्यास 'पिया' (1937) में बाल विधवा की समस्या को उठाया है तथा विधवा से संबद्ध हिन्दू धर्म की सड़ी गली रूढ़ियों पर व्यंग किया है, वहीं 'जीवन की मुस्कान' (1939) में नारी जीवन की असहायता तथा वेश्या समस्या को केन्द्र में रखा गया है।

देवनारायण द्विवेदी कृत 'दहेज' (1939) दहेज प्रथा की विभीषिकाओं को लेकर लिखा गया उपन्यास है। नरसिंह राव कृत उपन्यास 'देवदासी' दक्षिण भारत में नारी जीवन का अभिशाप देवदासी समस्या को प्रस्तुत करता है। नारी चेतना की दृष्टि से सर्वदानंद वर्मा द्वारा प्रणीत 'संस्मरण' तथा 'नरमेध' नामक उपन्यास भी महत्वपूर्ण हैं। 'संस्मरण' उपन्यास में उन्होंने अमेल विवाह के दुष्परिणामों को रेखांकित करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य समाज में स्त्री-पुरुष के संबन्धों को विश्लेषित किया है और यह विवेचित करने का प्रयास किया गया है कि जहाँ पश्चिम में स्त्री पुरुष संबन्धों के मध्य मित्रता का भाव दृष्टिगोचर होता है

वहीं भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष संबन्धों में स्वामी एवं दासी का भाव परिलक्षित होता है। 'नरमेध' उपन्यास प्रगतिवादी चेतना से संपृक्त हैं। इसके अतिरिक्त नारी प्रधान उपन्यासों में विश्वम्भर शर्मा द्वारा लिखित 'संघर्ष' (1945), श्रीनाथ सिंह द्वारा लिखित 'प्रभावती' (1941), यशपाल कृत 'दिव्या' (1945), उषादेवी मित्रा कृत 'पथचरी' (1940) तथा 'आवाज' (1941) रामेश्वर शुक्ल अंचल कृत 'चढ़ती धूप' (1945) तथा 'नई इमारत' (1947) आदि उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें नारी जीवन की विविध समस्याओं का आकलन है। इन उपन्यासों में नारी चरित्रों को सामने रखकर उनकी चरित्रगत विशेषताओं के द्वारा प्रकारान्तर से उपन्यासकारों ने भारतीय समाज को सावधान किया है कि कहीं ऐसा न हो कि भारतीय स्त्रियाँ अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों से संतप्त होकर पाश्चात्य ढंग के जीवन को न ग्रहण कर लें। इन उपन्यासों में यह भी चित्रित करने का प्रयास किया गया है कि विभिन्न सामाजिक कुरीतियों जैसे- बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, दहेज-प्रथा आदि से हिन्दू समाज जर्जर हो रहा है और असंख्य स्त्रियाँ इन कुप्रथाओं के परिणाम स्वरूप उत्पीड़न एवं शोषण का शिकार हो रही हैं। इन उपन्यासों में नारी जीवन की विभाषिकाओं को भली-भाँति चित्रित किया गया है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल (1947-1960)

स्वतंत्रतापूर्व के उपन्यासों में नारियों को लेकर जहाँ अत्याचार और शोषण मिलता है वहीं यह भी संभावना प्रकट की गई थी कि स्वतंत्रता के पश्चात नारी की स्थिति में परिवर्तन आयेगा और स्त्री को अन्याय और शोषण से मुक्ति मिलेगी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ, अपितु अन्याय, अत्याचार और शोषण में कमी नहीं आई उसके स्वरूप अवश्य बदल गए। स्वतंत्रता के पश्चात स्त्रियों की सामान्य स्थिति में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं आया। पहले दहेज समस्या अनमेल-विवाह का कारण थी, अब दहेज के कारण दहेज-हत्याएं होने लगी हैं। यह समस्या निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। शैक्षिक स्तर ऊपर उठने के कारण जहाँ स्त्री आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हुई है वहीं उसकी समस्याओं में भी उत्तरोतरवृद्धि हुई है।

स्वाधीनता के वाद के उपन्यासों में स्त्री उत्पीड़न का अनवरत प्रस्तुतीकरण हुआ है। नागार्जुन का उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में तथाकथित कुलीन कहे जाने वाले विहार के मैथिल व्राह्मणों के परिवारों में विधवा नारी की दयनीय स्थिति का प्रस्तुतीकरण हुआ है। इस काल में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की धारा में नारी जीवन की सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण हुआ हैं। इस कालावधि में जैनेन्द्र की 'सुखदा' (1952), 'विवर्त' (1953), 'व्यतीत' (1953) उपन्यास के नारी पात्र आत्मपीड़ा, स्वतन्त्र प्रकृति तथा क्रान्तिकारिता की भावना से युक्त हैं। इन उपन्यासों के नारी पात्र शिक्षित एवं चिन्तन शील प्रकृति के हैं।

इस कालावधि में इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में सूक्ष्म नारीमनोविज्ञान का चित्रण हुआ है। 'सुबह के भूले' (1952), 'जिप्सी' (1952), 'जहाज का पंक्षी' (1956) आदि उपन्यासों में नारी पात्रों का चित्रण सहज स्वाभाविक रूप में न होकर मनोवैज्ञानिक सूत्रों के आधार पर हुआ है। इन उपन्यासों के स्त्री पात्र स्वाभाविक रूप से वास्तविक जीवन के निकट हैं तथा परिस्थिति एवं नैतिक धैर्य के कारण सामान्य से असामान्य बन गए हैं।

जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी तथा अज्ञेय के उपन्यासों में नारी पात्रों का समग्र रूप से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। नारी के मात्र बाह्य समस्याओं, वाह्य स्वरूप, मान्यताओं एवं योगदान की विवेचना के माध्यम से ही स्त्री विमर्श का पूर्ण रूप से मूल्यांकन संभव नहीं है। जैनेन्द्र, जोशी और अज्ञेय ने नारी के मानसिक और वौद्धिक शक्ति का परिचय दिया है। इन उपन्यासों के स्त्री पात्र बाह्य दृष्टि से अत्यन्त ही स्वस्थ एवं बुद्धिजीवी हैं किन्तु आन्तरिक रूप से वे एक जलती हुई मोमबत्ती के समान हैं जो मन के विचारों को जला जला कर देखना चाहते हैं कि वे किस रूप में जलीं हैं क्यों जलीं हैं, जिनका उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' (1941-44) तथा 'नदी के द्वीप' (1951) में नारी के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण को दूर करके उसके बदले हुए मानसिक भावों को बड़े

ही सुंदर ढंग से प्रकट किया गया है। इनमें नारी परम्परागत रूढ़ियों में बंधकर अपनी प्रेममयी मूलप्रवृत्ति को कुण्ठित करने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि- ''द्वितीय महायुद्ध के कारण सामाजिक , आर्थिक परिवर्तन के कारण नई नारी का प्रादुर्भाव होता है यह नई नारी अपने स्वरूप पर विचार करने वाली है और वह अपनी समस्याओं का समाधान आत्मघात या हत्या में नहीं अपितु समस्त सामाजिक रूढ़ियों को ठुकरा कर करती है। ''[1]

इस काल के उपन्यासों के नारी पात्र अपने यथार्थ रूप को पहचान कर नैतिक-अनैतिक, सामाजिक बंधन, संस्कृति आदि के नाम पर जटिल सीमाओं को ठुकरा कर के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकारों के प्रति विचारशील और प्रयत्नशील रहे हैं। जहाँ जैनेन्द्र के उपन्यासों के नारी पात्रों का स्वरूप प्रेमी और पति, प्रेम और कर्तव्य, नैतिक स्वतंत्रता और वैवाहिक बन्धन के बीच संघर्ष करता है वहीं इलाचान्द्र जोशी के नारी पात्रों का स्वरूप सहनशील व आत्मपीड़न से पूर्ण त्यागमयी नारी का है। अज्ञेय की उपन्यासों में स्वभावतः नारी प्रेम के प्रति भावातुर है, कोमल हृदया है और उदार है। आर्थिक एवं सामाजिक रूढ़ियें की चिन्ता से मुक्त इनका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी है।

इस कालावधि के जिन अन्य उपन्यासों में नारी स्थिति का यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत किया गया है, उनमें डा0 देवराज कृत 'पथ की खोज' (1951), 'रोड़े और पत्थर' (1958), सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत 'सोया हुआ जल' (1955), नरेश मेहता कृत 'डूबते मस्तूल' (1954) और 'दो एकान्त' 1955, तथा प्रभाकर माचवेकृत 'साँचा' (1956) आदि उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों में स्त्री के सामाजिक मूल्यों को महत्वपूर्ण निर्धारित करने के लिए उसके अन्य आन्तरिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक गुणों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस संदर्भ में डा0 कान्ति वर्मा का मानना है कि इन उपन्यासों में ''नारी संवन्धी यौन

---

1. हिन्दी उपन्यासों में नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण - विमल सहस्त्रबुद्धे - पृ0 51

प्रतिबन्ध के कड़े बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं और इस प्रकार वह प्राचीन सामाजिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह करके नवीन मान्यताओं को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देती है।''1

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' की भाग्यवती से लेकर अज्ञेय के नदी के द्वीप की रेखा तक में स्त्रियों ने वाणी व्यवहार, विचार एवं विश्लेषण तथा नारी चेतना की दृष्टि से एक निश्चित यात्रा तय की है फिर भी नारी पूर्णरूप से शोषण मुक्त होकर मानवी नहीं बन सकी है। उसके शोषण के कोणों में परिवर्तन हुआ है और किन्हीं परिस्थितियों तक आज भी नारी की स्थिति निम्न एवं शोचनीय है। परन्तु मध्यकालीन और सामन्तकालीन शोषणात्मक परिधि से वह बाहर आ सकी है आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के कारण तथा शैक्षिक स्तर में सुधार के फलस्वरूप उसे कुछ स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। यह स्वतंत्रता और जागरूकता 60 के बाद के उपन्यासों के नारी चरित्रों के माध्यम से उत्तरोत्तर विकसित हुई है।

---

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास - डा0 कान्ति वर्मा - पृ0 43

अध्याय - तीन

साठोत्तरी उपन्यास लेखन में बदलते विभिन्न संदर्भ एवं स्त्री विमर्श

: साठोत्तरी उपन्यास लेखन में बदलते विभिन्न संदर्भ एवं स्त्री विमर्श :

परिवर्तित सामाजिक सन्दर्भ एवं स्त्री विमर्श :

समाज सोद्देश्य व्यक्तियों का गतिशील संगठन है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करता है और साथ ही कुछ जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा कर उन्हें पाने के लिए संघर्षरत रहता है। जहाँ समाज की अपनी कुछ निश्चित रीतियाँ, नीतियाँ एवं कार्यप्रणाली होती है वहीं उसके अपने कुछ अधिकार भी होते हैं। जिसके द्वारा मानव व्यवहार का नियन्त्रण किया जाता है और प्रत्येक सदस्य को इतनी स्वतन्त्रता भी दी जाती है कि वह अपने तर्क और बुद्धि के सहारे तथा दूसरों के विचारों के माध्यम से अपने जीवन स्तर को सुधार सके।

साहित्य समाज का प्रतिविम्ब होता है उसमें समाज का स्पन्दन होता है। यही कारण है कि मूल्यों के परिवर्तन में समाज की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। साहित्य जहाँ एक ओर समाज की गति विधियों को प्रभावित करता है, वहीं दूसरी ओर वह समाजके समक्ष नवीन प्रेरणा, विचार एवं आदर्श भी प्रस्तुत करता है। साहित्य में समाज की मान्यताएँ, जीवन मूल्य, समस्याएँ रीतियों, नीतियों एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के प्रतिबिम्ब मिलते हैं।

सामाजिक चेतना और रचनाकार का निजी व्यक्तित्व दोनों ही साहित्य में समन्वित रहते हैं, अतः साहित्य समाज की परिस्थितियों से प्रभावित होता हुआ भी उनकी सीमाओं में नहीं रहता वह भविष्य को भी पकड़ना चाहता है। उपन्यास साहित्य मुख्यतया समाज से सम्बन्धित होता है, इसलिए इसका रूप सामाजिक होता है। व्यक्ति की विषमताओं विडम्बनाओं, संघर्षों, अन्तर्बाह्य द्वन्दों, निराशा एवं कुण्ठा का इसमें सूक्ष्म चित्रण होता है।

परिवर्तित होते हुए समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप ही सामाजिक संदर्भों एवं मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन हुए हैं। हर समय के समाज की अपनी अलग-अलग मान्यताएँ

रहीं हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् के उपन्यासों में जीवन की विविधताओं का पूर्णरूपेण प्रस्तुतीकरण हुआ है, इस समय के उपन्यासों में सामाजिक एवं राष्ट्रीय घटनाओं का उल्लेख बहुलता से हुआ और उपन्यास के माध्यम से मानव मन की विभिन्न आकांक्षाएँ प्रकट हुई हैं। घटनाओं के साथ-साथ सामाजिक चेतना और व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व का भी सफल चित्रण इसमें पाया जाता है।

महिला लेखिकाओं ने अपनी औपन्यासिक कृतियों में सामाजिक दायित्वों का निर्वाह सफलता पूर्वक किया है। इन उपन्यास लेखिकाओं का स्त्रीवादी दृष्टिकोण स्त्री विमर्श को नवीन आयाम देने में पूर्णरूप से सफल रहा है। इन्होंने एक ओर सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा विशुद्ध रूप से मानवीय धरातल पर की है और दूसरी ओर पूर्व युगीन खोखले हो चुके पुराने रूढ़िगत मूल्यों को अस्वीकार कर के उनका खुलकर बहिष्कार भी किया है।

व्यक्ति और समाज :

मनुष्य एवं समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। समाज जीवन की प्रारम्भिक पाठशाला है सामाजिक प्राणी होने के कारण व्यक्ति समाज के नियमों तथा समाज में व्याप्त रीति रिवाजों का पालन करता है। प्राय: व्यक्ति को सामाजिक मान्यताओं एवं परम्पराओं का मोह होता है यही कारण है कि वह इससे मुक्त नहीं होना चहाता क्योंकि. समाज की नीतियों एवं परम्पराओं को ठुकरा कर व्यक्ति समाज में नहीं रह सकता। समाज द्वारा बनाई गयी व्यवस्था का पालन न करने पर उसे असामाजिक कहा जाता है और समाज से उसका निष्कासन हो जाता है। व्यक्ति को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए समाज द्वारा निर्मित व्यवस्थाओं को स्वीकार करना पड़ता है। समाज में रहने वाले व्यक्ति को प्रेम जैसी कोमल भावनाओं को व्यक्त करने की छूट नहीं है। उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यास ''पचपन खम्भे लाल दीवारें'' में अविवाहित स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का चित्रण इन पंक्तियों के माध्यम से किया है—

''जैसे रहतीं हैं, वह मुझे पता है। तुम एक पुरुष मित्र बना कर तो देखो तुम्हारी अम्मा सबसे पहले तुम्हारी खबर लेगीं। हमारा समाज किसी को जीने नहीं देता।''[1]

व्यक्ति समाज के द्वारा बनाए नियमों को तोड़ता नहीं है, क्योंकि वह जानता है कि वह जो गलत कार्य कर रहा है उसके लिए समाज उसे सम्मान नहीं देगा। समाज का विरोध करके कुछ समय तक तो उससे अलग रहा जा सकता है मगर अन्तत: समाज आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उससे अलग व्यक्ति का अस्तित्व नगण्य है। सामाजिक मान्यता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को समाज की रूढ़ मान्यताओं का, मूल्यहीन संस्कारों का, शिष्टाचारों का एवं नैतिक आदर्शों का पालन करना पड़ता है। मानव का चरित्र भी सामाजिक मानदण्डों पर ही निर्मित होता है।

आज व्यक्ति समाज के भय से विभिन्न सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए बाध्य है, मगर विडम्बना यह है कि आज का व्यक्ति एक तरफ समाज से जुड़ा हुआ है और दूसरी तरफ वह समाज से अलग अपने अस्तित्व की यथार्थ पहचान के लिए भी प्रयत्नशील है। जब समाज व्यक्ति के 'स्व' पर हावी हो जाता है तो उसमें निराशा, कुण्ठा और विखण्डन की प्रवृत्तियाँ जन्म लेने लगतीं हैं छठे एवं साँतवे दशक के उपन्यासों में ये प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि सामाजिकता जितनी आसानी से प्राप्त हो जाती है, उससे छुटकारा उतनी ही कठिनाई से मिलता है। आज के भौतिकतावादी युग में व्यक्ति की मानसिकता में परिर्वतन के साथ ही उसके सामाजिक मूल्यों में भी परिवर्तन आया है और इस आणविक युग का व्यक्ति अपने जीवन की मूल्यहीनता से बाध्य होकर विभाजित व्यक्तित्व वाला होता जा रहा है।

आज के युग में सामाजिक मान्यताएँ निरन्तर परिवर्तित हो रहीं हैं। समाज के पूर्व युगीन रूढ़िगत जर्जर मूल्यों का कथा साहित्य में खुलकर विरोध हुआ है और नवीन

---

1. पचपन खम्भे लाल दीवारें' - ऊषा प्रियंवदा, पृष्ठ-10

सामाजिक मूल्यों के स्थापना के प्रति व्यक्ति निरन्तर प्रयत्नशील है। समाज में प्रचलित विभिन्न मान्यताओं के संदर्भ में विभिन्न क्षेत्रों को स्पर्श करते हुए महिला उपन्यासकारों ने अपनी विभिन्न रचनाओं के माध्यम से स्त्री की बदलती हुई स्थिति को प्रस्तुत किया है—

वैवाहिक संदर्भ :

विवाह मूलत: व्यक्ति के धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिए परिवार के कल्याण के निमित्त संपन्न होने वाला एक पवित्र संस्कार है। विवाह के सन्दर्भों में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। धीरे-धीरे इसे एक सामाजिक अनुबन्ध के रूप में माना जाने लगा है। आज विधवा विवाह, प्रेम विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता मिलने लगी है। महिला लेखिकाओं ने विवाह के सम्बन्ध में इन अनेक बदलते दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया है। इनकी रचनाओं में विवाह पूर्व की समस्याओं और वैवाहिक समस्याओं का समकालीन संदर्भ में प्रस्तुतीकरण दृष्टिगोचर होता है—

विवाहपूर्व की समस्याएँ :

आज की बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के कारण विवाह पूर्व विभिन्न समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं यथा—

अधिकवय अविवाहित युवतियाँ :

बदलती सामाजिक परिस्थितियाँ विवाह की वय में वृद्धि का मुख्य कारण हैं। आज के युग में देर से विवाह करना उपयुक्त समझा जाता है, किन्तु बढ़ती वय की भी एक सीमा होतीहै जिसे पार करने के पश्चात युवक व युवती के समक्ष चुनाव का प्रश्न नहीं रह जाता। उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यास "पचपन खम्भे लाल दीवारें" की नायिका सुषमा की ऐसी ही मन: स्थिति का चित्रण किया है। परिवार की आर्थिक स्थिति को संभालती हुई वह स्वयं के बारे में नहीं सोच पाती और पारिवारिक दायित्वों को निभाती हुई सामाजिक तथा आर्थिक विवशताओं से उत्पन्न ऊब, संत्रास एवं घुटन का निरन्तर अहसास करती रहती है और उससे

स्वयं को मुक्त नहीं कर पाती। पारिवारिक दायित्व को निभाना उसकी नियति वन गई है। वह उसे अपना उत्तरदायित्व समझती हुई कहती है—

''मैं जो करती हूँ, कर्तव्य समझ कर नहीं मौसी, उनके प्यार में करती हूँ। .... अगर मैं सबसे बड़ा लड़का होती तो क्या न करती ? उसी तरह मैं अव भी करती हूँ।[1] कह कर सुषमा चुप हो जाती है और अपने मन के वास्तविक सत्य को छिपा लेती है, क्योंकि वह जानती है उसके घर के आय का श्रोत उसका वेतन ही है। यह वात उसकी माँ भी जानती है और वह भी।

पारिवारिक परिस्थितियाँ और तत्जन्य विवशताएँ भी आर्थिक रूप से स्वावलम्वी युवतियों के विवाह में बाधक हैं। ''पचपन खम्भे लाल दीवारें'' की सुषमा भी अधिक वय होने के कारण अपने प्रेमी नील से विवाह न करने का फैसला करती है और कहती है—

''मैं नील से शादी नहीं कर सकती। मैं पाँच साल बड़ी जो हूँ।''[2] और नील के द्वारा शादी का प्रस्ताव रखने पर वह पुनः कहती है— ''मेरी बहुत जिम्मेदारियाँ है, तुम्हारी अभी आयु ही क्या है। मैं तुमसे बहुत वड़ी भी तो हूँ नील हमारा विवाह कभी सफल न होगा।''[3]

दहेज समस्या :

दहेज की प्रथा प्राचीन काल में नहीं थी, किन्तु उस समय भी कन्या का विवाह आभूषणों से अलंकृत कर के करते थे। पूर्व युग में कन्या के पिता तथा बान्धव वर एवं वर पक्ष के लोगों को उपहार अर्पण करते थे।[4]

---

1. पचपन खंभे लाल दीवारें' उषा प्रियंवदा, पृष्ठ - 11।
2. पचपन खंभे लाल दीवारं', उषा प्रयंवदा, पृष्ठ-99
3. वही पृष्ठ - 104.
4. आदि पर्व - 190, 6, 13, 39, 40, 49.

आधुनिक युग में दहेज का रूप परिवर्तित होता जा रहा है। आज यह वर मूल्य दहेज प्रथा के रूप में समाज में प्रचलित है। इस प्रथा की उत्पत्ति का कारण जीवन साथी चुनने के सीमित क्षेत्र, बाल-विवाह, हिन्दू लड़कियों का विवाह अनिवार्य, कुलीन विवाह, तथा धन का महत्व है: जिसका लाभ वर पक्ष के लोग उठाते हैं। महिला लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में दहेज प्रथा जैसी सामाजिक बुराई को उभारने का सफल प्रयास किया है और इस से उत्पन्न कुपरिणामों का भी चित्रण इन उपन्यासों में दृष्टिगोचर होता है। वर मूल्य के कारण कन्या शिशु हत्या, आत्महत्या, बेमेल-विवाह, कन्याओं का बेमेल दु:खद वैवाहिक जीवन आदि का चित्रांकन इन महिला लेखिकाओं की उपन्यासों में बखूबी हुआ है। इन लेखिकाओं ने अन्तर्जातीय विवाह को भी प्रोत्साहन दिया है तथा लड़कियों को शिक्षित करने एवं उन्हें आत्मनिर्भर बनाने की चेष्टा की है, जिससे वे जीवन साथी का स्वतन्त्र रूप से चुनाव कर सकें। अधिक दहेज देकर विवाह करने के पश्चात् भी नारी को प्रताड़ना से मुक्ति नहीं मिलती। दहेज के कारण मातापिता का आर्थिक बिखराव, समुचित दहेज न लाने पर वधू पर वर तथा वर पक्ष द्वारा किये गये अत्याचार, पिता द्वारा दहेज एकत्र न कर पाने के कारण कन्या द्वारा आत्महत्या, तथा कम शैक्षणिक योग्यता वाले लड़के से विवाह आदि का चित्रण इन उपन्यासों में सफलता पूर्वक हुआ है।

विवाह के अवसर पर दहेज का प्रचलन कन्या पक्ष के लिये दुर्दान्त विडम्बना है। दहेज की राशि वर की शिक्षा-दीक्षा एवं स्तर पर निर्भर करती है ''नावें'' शीर्षक उपन्यास की लेखिका शशिप्रभा शास्त्री ने इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

''चाहते हैं कि जितना धन इन्होंने अपने लड़के की पढ़ाई पर खर्च किया है, वह सूद समेत वसूल हो जाए और आगे जब तक पढ़ें, वह खर्चे भी. और साथ ही दो चार साल उसके न कमाने से जो हरजाना होगा, उसकी पूर्ति भी हम कर दें।''[1]

---

1. नावे'' शशिप्रभा शास्त्री पृ० 117.

इन उपन्यासों में दहेज के कारण टूटती हुई और बिखरती हुई नारी की स्थिति का वर्णन किया गया है। आज के परिवर्तित होते सामाजिक परिवेश में दहेज प्रथा का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है। आज का युवावर्ग भी इस प्रथा का हिमायती होता जा रहा है। यही कारण है कि इस कुरीति ने मध्यमवर्गीय युवतियों को नौकरी करने के लिए विवश किया है। आज की उच्च शिक्षित कन्यायें विवाह के इन्तजार में घर में बन्द नहीं रहना चाहती ''क्योंकि'' उपन्यास में लेखिका ने इस समस्या पर लिखा है—

'' फादर नहीं है, इसलिए मैं भी नौकरी कर रही हूँ। शादी नहीं कर रही, बहुत टक्करें खा चुकी हूँ।''[1]

भारतीय नारी की यह कैसी दु:खद स्थिति है कि अर्थाभाव के कारण वह शादी नहीं कर पाती और शादी हो भी जाती है तो समुचित दहेज न लाने के कारण ससुराल पक्ष मे उपेक्षित, उत्पीड़ित एवं शोषित होती है। शशि प्रभा शास्त्री इस सम्बन्ध में लिखतीं हैं—

''शक्ल सूरत से टॉलरे बिलयल होने के बाद भी मेरी शादी क्यों नहीं हो पाई, आज तो सिर्फ इतना ही जान लो कि पैसे की कमी के कारण शादी होना मुश्किल हो गया। फादर थे नहीं, भैया छोटा था, माँ ने जो भी रिश्ते देखे, वे सब किसी न किसी रूप में अपनी बड़ी-बड़ी माँगे लेकर सामने आते रहे। माँ के लिए पूरा करना मुश्किल था।''[2]

वर्तमान समय में जहाँ एक ओर दहेज उन्मूलन की बातें की जा रहीं हैं, वहीं दूसरी ओर दहेज की माँगे भी निरन्तर बढ़ती जा रहीं हैं। तीव्र नारों एवं विरोधी स्वरों में अन्तर मात्र इतना है कि अब लेने-देने के ढंग बदल गए हैं। यही कारण है कि आज के समय में विवाह एक सौदा मात्र बन कर रह गया है। ''स्वामी'' उपन्यास में इस तथ्य को उभारा गया

---

1. ''क्योंकि'' शशि प्रभा शास्त्री पृ०-33.
2. ''क्योंकि'' शशिप्रभा शास्त्री, पृष्ठ-33.

है। उपन्यास की स्त्री पात्र टुकी देखने में थोड़ी मोटी है, इसलिए लड़के वाले अधिक दहेज की माँग करते हैं और दहेज का बहाना कर के विवाह से इन्कार करना चाहते हैं। घनश्याम कहता है-" वे लोग कहते हैं लड़की हमको बिलकुल पसन्द नहीं है, मोटी है, सोचों, माँ यह कोई तरीका है, सच बोलने का फिर ऊपर से कहते हैं— "पच्चीस हजार रूपये दे दो तो हम लड़के को राजी करने की कोशिश कर सकते हैं। छी, छी छी, ऐसी सौदेबाजी इतना घटियापन"।[1]

आज विवाह अनिवार्य नहीं —

आज नारी प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ कदम मिलाकर अपने अस्तित्व को प्रमाणित कर रही है। एक समय था जब एक निश्चित वय तक विवाह न होने पर समाज की उँगलियाँ उठने लगतीं थीं, किन्तु अब विवाह अनिवार्य नहीं रहा। कृष्णा सोबती ने "सूरजमुखी अंधेरे के" उपन्यास में इस परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत किया है। उपन्यास की नायिका रत्ती कई पुरुषों के साथ मित्रता के पश्चात भी उनसे विवाह नहीं करती है और अविवाहित रहने का फैसला करती हुई कहती है कि—

"मैं बाहर नहीं हूँ, क्योंकि मैं अन्दर नहीं हूँ दिवाकर। प्रीति वर्षों तुममे रहती रही। उसे बाहर ला खड़ा करना....... नहीं मैंने हथियार डाल दिए हैं और मैं वहीं खड़ी हूँ जहाँ पहले खड़ी थी"[2]

इस सन्दर्भ में पुरुष की मान्यताएँ भी आज बदल रही हैं। आज वह भी यह स्वीकार करने को तैयार हैं कि जिन्दगी का दूसरा नाम शादी नहीं।[3]

---

1. स्वामी- मन्नू भण्डारी, पृष्ठ - 81.
2. सूरजमुखी अंधेरे के- कृष्णा सोबती, पृष्ठ - 133.
3. कुमारिकायें - डा० कृष्णा आग्निहोत्री, पृष्ठ-188.

आज के समाज में अनेक ऐसी युवतियाँ मिल जायेंगी जो अविवाहित हैं और अविवाहित रहना चाहतीं हैं। उषा प्रियंवदा के उपन्यास ''पचपन खम्भे लाल दीवारें'' की नायिका सुषमा विवाह करके अपने परिवार को निराधार नहीं छोड़ना चाहती अतः वह आजीवन अविवाहित रहने का फैसला करती है और कहती है—

''जीवन में बहुत महत्वपूर्ण कार्य हैं, सिर्फ विवाह ही तो नहीं। और देशों में देखिए, बिना शादी किए ही औरतें कैसे मजे में रहतीं है।''[1]

वैवाहिक समस्याएँ :

वैवाहिक जीवन :

वैवाहिक जीवन स्त्री पुरुष दोनों के सामन्जस्य से चलता है। स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं विवाह के माध्यम से कुछ सीमा रेखाएँ उनके मध्य खिंची होतीं हैं, जिनके आधार पर वे अपने जीवन की गाड़ी चलाते हैं। किन्तु वर्तमान युग में वैवाहिक जीवन के सन्दर्भ में भी स्त्री एवं पुरुष के दृष्टिकोण एवं मान्यताओं में परिवर्तन आया है। जहाँ पहले पति-पत्नी के मध्य किसी भी कार्य को करने के लिये या कोई भी निर्णय लेने के लिए परस्पर एक दूसरे के सहयोग एवं स्वीकृति की आवश्यकता थी, वहीं आज के आधुनिक युग में इस सम्बन्ध में स्त्रीपुरुष की सोच बदल रही है और उनके विचार स्वतन्त्र हो रहे हैं। वे अपने कार्यों के लिए एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। यही कारण है कि कभी-कभी इनमें से किसी एक को ऐसे कार्य करने पड़ जाते हैं, जो दूसरे की रुचि के विपरीत होते हैं। इस संदर्भ में ''उसके हिस्से की धूप' उपन्यास की स्त्री पात्र मनीषा के शब्दों में मृदुला गर्ग ने कहा है कि—

---

1. 'पचपन खंभे लाल दीवारें'—उषा प्रियंवदा, पृष्ठ - 10.

''यह वैवाहिक जीवन भी अजीब चीज है, जो करो एक साथ करो। साथ बैठो साथ करो चाहे बोलने को कुछ हो, चाहे नहीं। साथ घूमों साथ दोस्त बनाओं, चाहे एक का दोस्त दूसरे को कितना ही नामुराद क्यों न लगे।''[1]

इसी स्वतन्त्रता की आकांक्षा अधिकांश महिला उपन्यास लेखिकाओं की रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है। शशिप्रभा शास्त्री की उपन्यास ''परछाइयों के पीछे'' तथा नासिरा शर्मा की उपन्यास ''शाल्मली'' में ये विचार स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। इन उपन्यासों की नारिकाएँ यद्यपि शिक्षित हैं और आत्मनिर्भर भी, फिर भी वे अपने वैवाहिक जीवन में अपने जीवन साथी के विरोधों को सहती हुई उनके साथ जीवन व्यतीत करती हैं। कृष्णा सोबती के लेखन में स्त्री के स्वतन्त्र जीवन शैली की झलक मिलती है। उनका लेखन नारीदृष्टि से परिपूर्ण है और उनकी नायिकाएँ समाज के आरोपित बन्धनों को तोड़ने का साहस रखतीं हैं तथा उन्हें तोड़ती भी हैं।

वैवाहिक जीवन की सामान्य परिणति :

महिला लेखिकाओं ने वैवाहिक जीवन की परिणति का भी चित्रण अपने लेखन में प्रस्तुत किया है। वैवाहिक जीवन की सफलता स्त्री-पुरुष के मध्य परस्पर प्रेम एवं सामन्जस्य में है। इसके अभाव में पति-पत्नी का जीवन घुटन, संत्रास एवं उत्पीड़न के अतिरिक्त और कुछ नहीं। विवाह के सम्बन्ध में यह समस्या भी उठाई गई है कि विवाह यदि इच्छा के विरुद्ध हो जाए तो वैवाहिक जीवन एक समस्या बन जाता है। सुश्री निरुपमा सेवती ने ''पतझड़ की आवाजें'' उपन्यास में वैवाहिक जीवन को लेकर अनेक प्रश्न चिन्ह अंकित किए हैं। जहाँ कृष्णा सोबती के ''डार से बिछुड़ी'' उपन्यास के पाशो का जीवन अनमेल विवाह के कारण यातनायुक्त हो कर नष्ट हो जाता है, वहीं उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'शेष

---

1. उसके हिस्से की धूप-मृदुला गर्ग पृष्ठ - 20.

यात्रा' की नायिका प्रणव एवं अनु का वैवाहिक जीवन भी परस्पर सामन्जस्य के अभाव में नरक बन जाता है।

शैक्षणिक असमानता —

पति-पत्नी के मध्य शैक्षणिक असमानता का चित्रण भी इन उपन्यासों में हुआ है। समान मानसिक स्तर न होना भी पति-पत्नी में असामन्जस्य उत्पन्न करता है परिणाम स्वरूप शैक्षणिक असमानता आज के समाज में एक मुख्य समस्या बनती जा रही है। जहाँ प्रभा सक्सेना के उपन्यास ''टुकड़ों में बँटा इन्द्रधनुष'' में शैक्षणिक असमानता के कारण शिरीष हीन भावना से ग्रसित हो जाता है और उसका दाम्पत्य जीवन विखण्डित हो जाता है, वहीं ''समर्पण का सुख'' उपन्यास की पात्रा गीता कम शैक्षिक योग्यता वाले पुरुष से विवाह बन्धन में बँधकर भी परस्पर प्रेम एवं सामान्जस्य को बनाए रखती है। वे परस्पर प्रसन्नता पूर्वक रहते हैं। गीता कहती है— ''मैंने शादी की है दीदी, डिग्रियों से मुझे कोई मोह नहीं। किसी जादू के जोर से मेरी भी डिग्रियाँ वापस ले ले कोई तो, मैं जी जाऊँ''[1]

पुनर्विवाह :

समाज में कुछ विशेष परिस्थितियों में पुनर्विवाह को मान्यता प्राप्त है। महिला उपन्यासकारों ने भी अपनी रचनाओं में पुनर्विवाह का चित्रण किया है। वैवाहिक जीवन के सफल न होने के कारण, परस्पर प्रेम एवं सामन्जस्य के अभाव के कारण तथा पति की असमय मृत्यु के कारण पुनर्विवाह होतें हैं। यद्यपि समाज में पुनर्विवाह की परम्परा को बहुत मान्यता प्राप्त नहीं है, मगर आज के परिवर्तित होते हुए सामाजिक परिवेश में पुनर्विवाह को मान्यता मिलने लगी है और इस परिवर्तित मानसिकता का प्रभाव महिला उपन्यास लेखिकाओं पर भी पड़ा है परिणाम स्वरूप इनके उपन्यासों में इसका प्रस्तुतीकरण बड़ी ही

---

1. समर्पण का सुख – मालती जोशी, पृ० 120.

कुशलता से किया गया है साथ ही इससे होने वाले लाभ तथा इसके परिणाम का भी सफलता पूर्वक चित्रांकन किया गया है। ''उसके हिस्से की धूप'', ''आपका बन्टी'', ''कोहरे'' आदि उपन्यासों ने पुनः विवाह से उत्पन्न स्थितियों एवं समस्याओं का संवेदन पूर्ण प्रस्तुतीकरण हुआ है। ''उसके हिस्से की धूप'' उपन्यास में मृदुला गर्ग ने मनीषा के माध्यम से इसे अभिव्यक्त किया है। उपन्यास की नायिका अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए पति से विवाह-विच्छेद कर मधुकर से पुनर्विवाह करती है।

''कोहरे'' उपन्यास में नायिका अपने पति का आकर्षक दूसरी युवती इरा में देखकर पति से विवाह-विच्छेद कर लेती है और प्रशान्त से पुनर्विवाह करती है। इसी प्रकार ''आपका बंटी'' उपन्यास की शकुन अकेलेपन के संत्रास से मुक्ति पाने के लिए डा० जोशी से पुनर्विवाह कर लेती है।

अन्तर्जातीय विवाह :

आज के बदलते सामाजिक परिवेश में अन्तर्जातीय विवाहों का प्रलचन बढ़ रहा है। इसका मुख्य कारण पाश्चात्य शिक्षा, सहशिक्षा, समानता की धारणा, राष्ट्रीय आन्दोलन, वैज्ञानिक शिक्षा, औद्योगीकरण, नगरीय संस्कृति, ब्रह्म एवं आर्य समाज का प्रभाव तथा दहेज जैसी कुप्रथा आदि है। अन्तर्जातीय विवाह ने जातिवाद को दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा दहेज समस्या के समाधान में भी सहायक सिद्ध हुई है। योग्यजीवन साथी के चुनाव तथा बाल-विवाह और विधवा-विवाह की समस्या के समाधान में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस प्रकार अन्तर्जातीय विवाह अनेक व्यक्तिगत, सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं के समाधान में कारगर सिद्ध हुआ है। समाज में हुए इस परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रभाव उपन्यास लेखन पर भी पड़ा है। भारतीय परिवार जो अब तक धार्मिक, सांस्कृतिक एवं पारंपरिक बंधनों में जकड़े हुए थे तथा जातीयता की भावना से ग्रस्त थे वे आज इन रुढ़ विचारधाराओं एवं मान्यताओं को त्याग रहे हैं और जिसके परिणामस्वरूप अर्न्तजातीय विवाह को धीरे-धीरे सामाजिक स्वीकृति मिलने लगी है।

'सुरंगमा' उपन्यास के पात्र दिनकर और विनीता अन्तर्जातीय विवाह करते हैं। विनीता के पिता कुछ समय तक नाराज रहते हैं और फिर इसका समर्थन करते हुए पुष्टि करते हैं कि -"ऐसा हीरा दामाद मुझे अपने समाज में जुट सकता था भला न सिगरेट पिये न शराब।"[1] ये पंक्तियाँ अन्तर्जातीय विवाह की सामाजिक स्वीकृति का प्रमाण हैं।

विवाह विच्छेद :

वर्तमान समय में तलाक समस्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। कानूनी एवं सामाजिक रूप से पति पत्नी के मध्य विवाह सम्बन्धों का समाप्त हो जाना ही विवाह-विच्छेद कहलाता है। तलाक के माध्यम से पति-पत्नी अपने बिखरते दाम्पत्य जीवन को तोड़कर अलग-अलग समेट लेते हैं। डा० शीलप्रभा का मानना है कि "पति-पत्नी के वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन में असामंजस्य एवं असफलता का सूचक है विवाह-विच्छेद। हिन्दू समाज में स्त्री के लिए पतिव्रत एवं सतीत्व के पालन की बात कही गई है एतः स्त्री पुरुष को त्यागने की बात भी नहीं कर सकती। ऐसा करना उसके लिए सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से अनुचित माना गया है।"[2]

यद्यपि वैदिक काल में विवाह-विच्छेद के कुछ उदाहरण मिलते हैं। मनु, नारद, पराशर एवं वृहस्पति ने कुछ स्थितियों में विवाह-विच्छेद की स्वीकृति दी है। वैदिक संस्कृति में पति के दुष्चरित्र, दुराचारी अथवा क्रूर होने की स्थिति में स्त्री को विवाह विच्छेद कर लेने की अनुमति दी जाती थी। मनु के अनुसार- "पति नपुंसक हो, पतित हो अथवा उसने सन्यास ले लिया हो तो उसकी पत्नी उससे विवाह विच्छेद कर सकती है।"[3]

---

1. सुरंगमा-शिवानी, पृष्ठ 171.
2. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक सन्दर्भ -डा० शीलप्रभा वर्मा, पृष्ठ - ६९.
3. पत्यों प्रव्रजिते क्लीव थः पतिते मृते।

हिंदू धर्म में विवाह को अटूट संस्कार माना गया है इसमें विवाह-विच्छेद की अनुमति विशेष स्थिति में दी गई है मगर व्यवहार में ये बहुत कम पाया जाता है और नारी के पतिव्रत धर्म को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है।

वर्तमान भारतीय समाज में परिवर्तित परिस्थितियों के कारण स्त्रियों की समस्याओं ने भी नवीन रूप ले लिया है अत: विवाह के सम्बन्ध में विचार परिवर्तन अनिवार्य हो गया है।

छठे एवं सातवें दशक की उपन्यासों में विवाह-विच्छेद की समस्याओं का प्रभाव पूर्ण प्रस्तुतीकरण हुआ है। विवाह-विच्छेद के कारण तथा इसके बाद उत्पन्न समस्याओं का भी प्रस्तुतीकरण इन उपन्यासों में सफलता पूर्वक हुआ है।

विवाह-विच्छेद आज की परिवर्तित होती मानसिकता, वैयक्तिक विघटन, अकेलेपन एवं संत्रास का परिणाम है। आज के परिवर्तित होते सामाजिक संदर्भ के अन्तर्गत स्त्री वैवाहिक जीवन से उत्पन्न होने वाली यातनाओं को सहन करने के लिए तैयार नहीं है। कभी-कभी स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तिगत के विकास के लिए विवाह-विच्छेद अनिवार्य बन जाता है। आज की स्त्री का शिक्षित होना और उसकी वैचारिक स्थिति का विकास होना भी विवाह विच्छेद का मुख्य कारण है। आज की नारी पूर्व युग एवं पुराने पारंपरिक मूल्यों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत नहीं करना चाहती वह परस्पर धिक्कार एवं तिरस्कार को भी बर्दाश्त नहीं करती है और तलाक को अपना लेती है। ''जहाँ परस्पर स्नेह के स्थान पर धिक्कार एवं तिरस्कार की भावना जड़ जमा चुकी हों, जहाँ सुखी दाम्पत्य जीवन के स्थान पर दु:ख की ज्वाला ही धधकती हो, वहाँ स्त्री पुरुष को विवाह की जंजीरों में क्यों बांधकर रखा जाए और इस समस्या का निराकर विवाह-विच्छेद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है।''[1]

पंचस्वायत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ मनुस्मृत॥ 12,99.

1. भारतीय महिलाओं का समाज शास्त्र- डा० एम० एम० लवानिया पृष्ठ-53.

'उसके हिस्से की धूप' उपन्यास की नायिका इन्ही विडम्बनाओं के कारण अपने पति से विवाह विच्छेद कर लेती है और दीप्ति खण्डेलवाल के उपन्यास ''कोहरे'' की नायिका सिमी पति द्वारा उपेक्षित होने के कारण विवाह-विच्छेद कर के पुनर्विवाह कर लेती है। इस समस्या को मन्नू भण्डारी ने अपने उपन्यास ''आपका बंटी'' में बड़े ही संवेदनापूर्ण एवं मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है और साथ ही विवाह-विच्छेद के पश्चात् किन-किन समस्याओं और किस प्रकार की मानसिक उलझनों का सामना करना पड़ता है, उनका भी बड़ा ही मनोवैज्ञानिक एवं सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किया है। ''आपका बंटी'' उपन्यास के पात्र अजय एवं शकुन आपसी तनाव से मुक्ति पाने के लिए विवाह-विच्छेद कर लेते हैं। मगर इसके पश्चात् भी उसे पूर्ण सन्तुष्टि नहीं मिलती है और वह कहती है-

''आज जैसे एकाएक वह अन्तिम छोर पर आ गई है। पर आप पहुँचने का संतोष भी नहीं है। ढकेल दिए जाने की विवश कचोट भर है। पर कैसा है अहंकार ? न प्रकाश न वह खुलापन न मुक्ति का अहसास लगता है जैसे इस सुरंग ने उसे दूसरी सुरंग के मुहाने पर छोड़ दिया हो, फिर एक और यात्रा वैसा ही अन्धकार वैसा ही अकेलापन।''[1]

स्पष्ट है की अपरिहार्य कारणों से स्त्री विवाह-विच्छेद को अपनाती तो है मगर ''आन्तरिक रूप से वह बिखर जाती है टूट जाती है। पुरुष पुन: परिवार का सृजन कर लेता है, किन्तु भारतीय नारी संस्कृति, रूढ़ियों एवं परम्पराओं से प्रभावित एवं प्रताड़ित होकर कठोर साधनामय जीवन व्यतीत करने को विवश होती है।''[2]

विधवा समस्या : नवीन दृष्टिकोण -

भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही विधवाओं की स्थिति बड़ी दयनीय एवं उपेक्षणीय रही है। पुरुष प्रधान समाज में पुरुष से अलग होते ही नारी का जीवन यातनामय एवं कष्टमय

---

1. आपका बंटी - मन्नू भण्डारी - पृष्ठ 37. 39.

2. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में वैचारिकता- डा0 शशि जैकब पृष्ठ-55.

हो जाता है। विधवा होने के कारण उसे समस्त सुखों से वंचित रखा जाता है। हिन्दू समाज में विधवा के लिए सामान्य वस्त्र श्रृंगार एवं अनेक स्थानों पर सिर के बाल तक से वंचित रखा जाता है। 1937 तक के पहले तक विधवा को अपने पति की सम्पत्ति में से हिस्सा प्राप्त करने का भी अधिकार प्राप्त नहीं था वैधव्य को पूर्वजन्म के पाप का फल माना जाता था।[1]

पहले विधवा नारी पर अमानवीय अत्याचार होते थे क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वह पुरुष की आश्रिता थी तथा पति की मृत्यु के पश्चात् उस परिवार की अश्रिता बन जाती थी, किन्तु आज की स्थितियाँ बदल गईं हैं नारी के अन्दर भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने की भावना जागृत हो रही है और वह शिक्षित होकर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो रही है। उसके बौद्धिक सोच में निरन्तर परिवर्तन आ रहा है यही कारण है की आज की नारी समाज के संस्कारों एवं परम्पराओं का तो निर्वहन कर रही है मगर समाज की कुरीतियों एवं रूढ़ियों के प्रति उसमें अस्वीकार एवं आक्रोश की भावना जागृत हुई है और ये भावना इन उपन्यासों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। आज की नारी यह सोचती है कि जब विधुर पुरुष पुनर्विवाह करके समाज में सम्मान जनक जीवन व्यतीत कर सकता है तो नारी ही क्यों बन्धनों में जकड़ी रहे। वह पुनर्विवाह करे अथवा नहीं सुखपूर्वक जीवन जीने का अधिकार तो उसे मिलना ही चाहिए।

डा० शशिप्रभा शास्त्री के उपन्यास 'अमलतास' में इसी परिवर्तित दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है। 'अमलतास' की स्त्रीपात्र बेला विधवा होने पर अपने हिस्से की सम्पत्ति प्राप्त करती है और सुखमय जीवन व्यतीत करती है वैधव्य का कोई चिन्ह उसके शरीर पर दृष्टिगोचार नहीं होता। वह सोचती है कि जीवन की दुर्घटनाओं को लेकर दु:खी रहने से क्या फायदा ? आधुनिक समाज की परिवर्तित होती परिस्थितियों में स्त्री की स्थिति को दर्शाती हुई लेखिका की निम्न पक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं—

---

1. आदिपर्व 112, 26.

" सुन्दर सुघड़ माथे पर नन्हीं सी बैजनी रंग की बिन्दी लगी थी। हल्की बैजनी रंग की ही फूलों वाली सिल्कन साड़ी उसकी देह पर थी...... जूड़े पर मोंगरे की वेणी लपटी हुई थी, हाँ माँग में सिन्दूर अलबत्ता नहीं था हल्के हल्के चमकीले गहने उसके हर अंग पर झिलमिला रहे थे।"[1]

विधवा विवाह :

भारतीय धर्मशास्त्र में अथर्ववेद में सर्वप्रथम विधवा विवाह के संकेत मिलते हैं। इसमें उल्लिखित है कि किसी स्त्री का पहले क्षत्रिय या वैश्य पति हो और उसकी मृत्यु के उपरान्त वह किसी ब्राह्मण से विवाह कर ले तो वही उसका वास्तविक पति हो जायेगा।[2] अत: वेदयुगीन विधवाएँ यातनामय जीवन नहीं जीतीं थीं। पुनर्विवाह समाज में आदरणीय दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु ई. पू. 300 से 200 ई. तक विधवा विवाह का प्रचलन कम होने लगा और उसे बुरी दृष्टि से देखा जाने लगा।

मनु का मानना है कि अपने पति के पश्चात् विधवा को पुनर्विवाह के बारे में सोचना ही नहीं चाहिए।[3]

समाज में विधवा विवाह के विरोध के कारण सतीप्रथा, अनैतिकता, वैश्यावृत्ति, पारिवारिक कलह आदि विभिन्न समस्याएं एवं कुरीतियाँ उत्पन्न होने लगीं तथा विधवाओं का जीवन कष्टप्रद एवं यातनामय हो गया। इस प्रकार विधवा का जीवन एक साधना का जीवन होता गया, इस जीवन में इच्छा, उमंग, उल्लास का कोई स्थान नहीं होता, अगर होता भी है तो केवल व्यथा का। आजीवन गहरी मानसिक पीड़ा में डूबे रहना ही विधवा नारी की

---

1. अमलतास - शशिप्रभा शास्त्री - पृष्ठ-129.
2. अथर्ववेद - 5/17/8-9.
3. मनुस्मृति - 5/157.

नियति है। मगर आधुनिकता के परिणाम स्वरूप विधवा स्त्री की इस स्थिति में एवं उसके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण एवं मानसिकता में निरन्तर परिवर्तन आ रहा है और इस परिवर्तन की सार्थक अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में हुई है। जैसे—

''तत्सम्'', ''प्रतिध्वनियाँ'', ''कोरजा'', ''अमलतास'', ''उसकी पंटपटी'', ''नया घर'' आदि उपन्यासों में विधवाओं की विभिन्न समस्याओं का प्रस्तुतीकरण हुआ है और इस समस्या के समाधान की कोशिश भी की गई है।

आधुनिक युग में बाल-विधवा के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदला है और समाज के नवयुवकों से भी आह्वान किया गया है कि वे विधवा विवाह कर के समाज में अपना आदर्श प्रस्तुत करें। ''उसकी पंचवटी'' का पात्र वीरेन कहता है—''उसकी थोड़ी सी उम्र किसी दूसरे के साथ कटी उसकी पत्नी बन कर वह जीती रही। अब वह इन्सान नहीं रहा, वह उसकी पत्नी नहीं रही, तो क्या वह दूसरों की पत्नी बनने के हक से वंचित रह जायेगी......। जब पुरुष दूसरा विवाह करता है और पत्नी बिना किसी मनमुटाव के उसको और उसके बच्चे को हृदय से स्वीकार करती है तो पुरुष जाति का भी फर्ज बनता है कि उसको उसी तरह स्वीकार करे, उसके बच्चों को स्वीकार करे।''[1]

आज समाज में विधवाओं के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण बदल रहा है इनके प्रति समाज का दृष्टिकोण उदार एवं सहानुभूति पूर्ण हो रहीं हैं तथा उनके श्रेष्ठ जीवन के लिए विभिन्न प्रयास भी किये जा रहे हैं। कानूनों का भी निर्माण हो रहा है और विधवाओं की स्थिति पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी एवं सुदृढ़ हो रही है। आज उन्हें इतनी सहायता मिल रही है कि वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो रहीं हैं तथा समाज में सम्मान पूर्वक जीवन व्यतीत करने की अधिकारणी भी। इनके लिए चलाए गए विभिन्न आन्दोलनों एवं

---

1. उसकी पंचवटी-कुसुम अंसल - पृष्ठ - 85.

इनकी आत्मनिर्भरता के लिये चलाई गई विभिन्न औद्योगिक संस्थाएँ आदि समाज के परिवर्तित दृष्टिकोण का ही परिणाम हैं।

बदलते सामाजिक मूल्यः

परिवर्तन सृष्टि का नियम है, परिवर्तन की प्रक्रिया हर क्षण चलती रहती है व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन होते रहतें हैं आज के परिवततिंत परिवेश में जैसे-जैसे जीवन प्रणाली में परिवर्तन हो रहे हैं, वैसे-वैसे सामाजिक मूल्य भी परिवर्तित हो रहे हैं। आज स्त्रियों के सम्बन्ध में, स्त्री-पुरुष सम्वन्धों के सन्दर्भ में, पुत्र एवं पुत्री का परिवार में स्थान के सन्दर्भ में समाज की मानसिकता एवं सामाजिक मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। आज के समाज में स्त्रियों की दशा में जो सुधार हो रहा है उसके अन्तर्गत पुत्र की भाँति पुत्री को भी समान सुविधाएँ प्रदान की जा रहीं हैं तथा पति-पत्नी के सम्बन्धों में भी जो स्वच्छन्दता आई है उसके मूल में इन परिवर्तित दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक एवं पारिवारिक मूल्यों के बदलने के कारण, व्यक्ति के द्वारा पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण के कारण, बढ़ती हुई भौतिकतावादी मानसिकता तथा आधुनिकता के कारण व्यक्ति एक दूसरे से दौड़ में आगे जाना चाहता है। पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण के कारण व्यक्ति स्वतः अपने अस्तित्व की सार्थकता प्राप्त नहीं कर पा रहा है फलस्वरूप मानवता का ह्रास होता जा रहा है। व्यक्ति नितान्त यथार्थवादी होता जा रहा है और कुण्ठा, अकेलेपन एवं विखण्डन के फलस्वरूप सामाजिक मूल्य विघटित होते जा रहे हैं। इन्हीं परिस्थितियों के कारण आज का व्यक्ति संवेदनाहीन होता जा रहा है। जिन भौतिक आकर्षण एवं वैज्ञानिक साधनों की उपलब्धता ने व्यक्ति को यन्त्र बना दिया है, उन परिवर्तित परिवेश एवं परिस्थितियों का इन उपन्यासों में विशद चित्र प्रस्तुत किया गया है। "पचपन खम्भे लाल दीवारें", "रुकोगी नहीं राधिका", "डार से बिछुड़ी", "मित्रों मरजानी", "सूरजमुखी अंधेरे के", "आपका बंटी", "दहकन के पार", "नावें" आदि उपन्यासों में इन बदलते हुए सामाजिक मूल्यों को बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया

गया है। निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में व्यक्ति के विचारों में तो स्वच्छन्दता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उन विचारों ने वाम मार्ग पर जा कर दूसरा मार्ग अपना लिया है और हर व्यक्ति स्वार्थी ईर्ष्यालु, अहंकारी एवं अशांत हो गया है। परम्परागत सामाजिक मूल्य निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं। फलस्वरूप व्यक्ति मूल्यों के साथ संघर्ष कर रहा है।

परिवर्तित परिवारिक संदर्भ एवं स्त्री विमर्श :

परिवार समाज की प्रारम्भिक इकाई है। आज के नवीन युग में परिवर्तित परिस्थितियों एवं बदलते समय के कारण मानव विकास के साथ-साथ पारंपरिक पारिवारिक जीवन में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे हैं। आज के नवीन संदर्भों, आवश्यकताओं, एवं सामाजिक सम्बन्धों का प्रभाव परिवार पर पड़ा है। आज जीवन मूल्यों में परिवर्तन आने के कारण परिवार में नवीन परम्पराओं एवं प्रथाओं का समावेश हो रहा है, स्त्रियों में भी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता के कारण परिवार में आर्थिक विषमता कुछ हद तक दूर हो रही है। परिवार के सभी सदस्यों में आत्मनिर्भरता की भावना का विकास हो रहा है साथ ही धार्मिक अनुष्ठानों एवं अन्धविश्वासों के प्रति व्यक्ति विमुख हो रहा है। शिक्षा का स्तर बढ़ने के फलस्वरूप आत्मनिर्भरता एवं आर्थिक निर्भरता से स्त्रियों में स्वभिमान की भावना का विकास हुआ है। वे जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रहीं है। आज बाल विवाह भी कम हो रहे हैं इसके प्रति भी लोगों में जागरूकता आई है।

परन्तु आज के परिवर्तित परिवेश में पारिवारिक मूल्यों में परिवर्तन के कारण जहाँ पारिवारिक स्थिति में सुधार आया है वहीं प्राचीन मूल्यों एवं परम्पराओं के टूटने से परिवार में विघटन, कुण्ठा, तलाक, टूटन व विखराव में वृद्धि हुई है तथा बेरोजगारी एवं मंहगाई जैसी नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो रहीं हैं आज व्यक्ति के जीवन में तीव्र गति एवं प्रतिस्पर्धा की भावना बढ़ रही है और व्यक्ति के अस्तित्व एवं अस्मिता का संकट गहराता जा रहा है।

1960 से 1980 के दशक के उपन्यासों में इन विषमताओं और समम्याओं का बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुतीकरण हुआ है —

संयुक्त परिवार :

आज समाज में संयुक्त परिवार विघटित होते जा रहे हैं। आज व्यक्ति अपने परिवार के चारों ओर एक लक्ष्मण रेखा खींच कर उसी के मध्य जी रहा है। आज का व्यक्ति संवेदनहीन होता जा रहा है और स्वयं में संकुचित भी। वह अपने ही सुख-दुःख में निमग्न है। उसके हृदय में न कोई दयाभाव है और न ही स्नेह का कोई महत्व। ग्रामीण जीवन भी नगरीय सभ्यता से प्रभावित हुआ है। आज ग्राम्य वातावरण भी पहले जैसा नहीं रहा है उनमें भी प्रेम, स्नेह, निस्वार्थ त्याग एवं निश्छलता की भावना ध्वस्त होती नजर आ रही है। उनके जीवन मूल्यों में भी निरन्तर परिवर्तन हो रहा है और उनकी सामाजिक इकाइयाँ भी निरन्तर खण्डित होतीं जा रहीं हैं।

संयुक्त परिवार के विघटन की समस्या वर्तमान युग की एक भीषण समम्या है। संयुक्त परिवार में विघटन का कारण सदस्यों के मध्य नित्य प्रति घुटन तथा ईर्ष्या एवं द्वेष का भाव उत्पन्न होना है। निरन्तर गृह कलह और सदस्यों के मध्य संघर्ष होने के कारण आज व्यक्ति का जामाजिक जीवन अभिशप्त होता जा रहा है परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण व्यक्ति की इच्छाएँ एवं आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पा रहीं हैं और उसका जीवन कुण्ठित होता जा रहा है। इन उपन्यासों में इन स्थितियों का व्यापक रूप में प्रस्तुतीकरण हुआ है।

पूर्वकाल में संयुक्त परिवार का प्रचलन था। सामान्यतया संयुक्त परिवार संयुक्त संगठन के आधार पर निकट के नाते रिश्तेदारों की एक सहयोगी व्यवस्था है। इस के माध्यम से वृद्धों, अनाथों एवं विधवाओं को सहारा मिलता है। यह मात्र व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं होता, अपितु यह सभी परिवारिक सदस्यों के सामान्य हितों की रक्षा भी करता है। इस

रूप में संयुक्त परिवार एक पीढ़ी की परम्पराओं, रीति रिवाजों, सामाजिक आधार प्रथाओं एवं उसके नियम दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का महत्वपूर्ण कार्य भी करता है।

आधुनिक युग में संयुक्त परिवार निरन्तर विघटित होते जा रहें हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक असन्तुलन व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, भौतिकतावादी दृष्टिकोण आदि के कारण संयुक्त परिवार निरन्तर विघटित होते जा रहे हैं।

महिलाओं उपन्यासकारों ने परिवार की इन स्थितियों के देखा और वहन किया है अतः उनके लेखन में इन परिस्थितियों में नारी की स्थिति का यथार्थ चित्रण दृष्टिगोचर होता है। आज के युग में संयुक्त परिवार कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होते हैं अतः आधुनिक उपन्यासों में संयुक्त परिवार का चित्रण कहीं-कहीं ही हुआ है इस दृष्टि से श्रीमती मेहरून्निसा परवेज का उपन्यास ''कोरजा'' महत्वपूर्ण है। इसमें संयुक्त परिवार की विसंगतियों, कलह, तथा पुरुष की विलासी प्रवृत्ति का बड़ा ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

परिवर्तित मूल्य एवं परिवार —

स्वातन्त्र्योत्तर काल में संयुक्त परिवार का विघटन और एकांगी परिवार का अस्तित्व दिखाई देता है। आज जीवन के मूल्य दिन पर दिन परिवर्तित होते जा रहे हैं। भौतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण समाज एवं व्यक्ति के मूल्यों में परिवर्तन आवश्यक हो गया है। मनुष्य मनुष्य रह कर यन्त्रवत होता जा रहा है। सभी नवीन मूल्यों ने सामाजिक संगठनों एवं व्यवस्थाओं को प्रभावित किया है।

इन परिवर्तित मूल्यों का पारिवारिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। ऊषा प्रियंवदा के उपन्यास ''रुकोगी नहीं राधिका'' में पारिवारिक जीवन के नवीन मूल्यों पर प्रकाश डाला गया है। लेखिका ने इसमें भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता को महत्व दिया है। आज परिवार में हर बात बौद्धिकता की कसौटी पर तौली एवं परखी जाने लगी है। इस उपन्यास

में लेखिका ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आधुनिक शिक्षा मे पारिवारिक मान्यताओं में बहुत परिवर्तन आया है। आधुनिक शिक्षा के प्रभाव के कारण राधिका ने शिष्ट जीवन की परम्परा पाई है, जिसे उसने अपने जीवन में उतार लिया है। उसका शील और विवेक परम्परागत पारिवारिक मूल्यों के अनुरूप नहीं है राधिका व्यक्ति निष्ठ है, वह पापा और विद्या (विमाता) के मध्य सामन्जस्य नहीं कर पाती साथ ही उसमें पारिवारिक मूल्यों के प्रति नवीन चेतना है। उसकी वैवाहिक मान्यता नवीनता की सूचक है वह कहती है–

''किसी अनजान पुरुष से सप्तपदी की रस्म पूरी करवा कर पत्नी बनना वह पसन्द नहीं करेगी।''[1]

आज के युग में स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। यही कारण है कि आज की स्त्री उत्पीड़ित होने पर प्रतिशोध करती है एवं आवश्यकता पड़ने पर उचित निर्णय लेकर अपने अस्तित्व की सुरक्षा भी कर सकती है। उसकी शिक्षा ने नवीन जीवन मूल्यों का विकास किया है। आज स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा में भी अन्तर आया है। महिला उपन्यास लेखिकाओं ने नारी की इस चेतना का विशेष समर्थन किया है और ये चेतना ''पचपन खम्भे लाल दीवारें'', ''रुकोगी नहीं राधिका'' आदि उपन्यासों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। ''पचपन खम्भे लाल दीवारें'' की नायिका सुषमा परम्परागत रूढ़ियों का विरोध करती हुई और नवीन मान्यताओं की स्थापना करती हुई कहती है–

'' मैं किसी की परवाह नहीं करती हूँ .... मैं अपना काम ठीक से करती हूँ, मुझसे किसी को शिकायत नहीं है, फिर मेरे व्यक्तिगत जीवन में किसी को दखल देने का क्या हक है।''[2]

---

1. रूकोगी नहीं राधिका- ऊषा प्रियंवदा - पृष्ठ 43.
2. पचपन खम्भे लाल दीवारें' - ऊषा प्रियंवदा पृष्ठ - 50.

पति-पत्नी सम्बन्ध :

परिवार में पति-पत्नी सम्बन्ध महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि पारिवारिक जीवन का मूलआधार दाम्पत्य जीवन है। पति-पत्नी का पारस्परिक स्नेह एवं प्रेम ही दाम्पत्य जीवन में स्थाइत्व प्रदान करता है। ये सम्बन्ध परिवार को आदर्श एवं विकास के पथ पर ले जाने में सहायक होते हैं।

वैदिक युग में दाम्पत्य जीवन की पवित्रता अक्षुण्ण थी। महाभारत में भी यह क्रम प्राप्त होता है। आदि पर्व में गृहकार्य में तत्पर सत्यवती एवं पतिव्रता नारी को आदर्श भार्या की संज्ञा दी गई है-

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या च प्रजावती।

सा भार्या या पति प्राणा, सा भार्या सा पतिव्रता॥[1]

स्पष्ट है कि धर्म, अर्थ एवं काम तीनों का समन्वय सफल दाम्पत्य जीवन के लिए आवश्यक हैं और ये तभी सम्भव है जब पति-पत्नी एक दूसरे की इच्छाओं का आदर एवं सम्मान करें।

महिला लेखिकाओं ने अपनी दृष्टि मूलतः दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन पर ही केन्द्रित की है। वर्तमान समय में भौतिकतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता होने के कारण पति-पत्नी सम्बन्धों में भी तनाव व्याप्त हो गया है, जिसका विवेचन आज के कथासाहित्य का प्रधान विषय बन गया है। ग्रामीण परिवेश के उपन्यासों में यह तनाव कम है मगर नगरीय परिवेश के उपन्यासों में यह तनाव, तलाक या विवाह-विच्छेद की सीमा तक पहुँच जाता है। पति-पत्नी सम्बन्धों में आए परिवर्तन का एक मुख्य कारण आर्थिक संकट भी है।

---

1. शन्ति 347,10/ आदि 68-39.

आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के कारण नारी की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आया है और फलस्वरूप पति के एकाधिकार की समाप्ति हुई और साथ ही परम्परागत मूल्यों में भी परिवर्तन आया।

आज घर में पत्नी मात्र परम्पराओं एवं आदर्शों का ही पालन नहीं करती उसके लिए संघर्ष ही यथार्थ है और पति की इच्छा भी निरन्तर आगे बढ़ने की है अतः येन केन प्रकारेण धनोपार्जन की प्रवृत्ति भी आज पति-पत्नी के मध्य बिखड़ते, टूटते, लड़खड़ाते सम्बन्धों के लिए उत्तरदायी है। आर्थिक संकट से त्रस्त आज का पुरूष स्वयं यह चाहता है कि पत्नी अर्थोपार्जन में परस्पर सहयोग करे।

आज की परिवर्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप पति-पत्नी सम्बन्धों में तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति से भी जटिलता आयी है और जिसके फलस्वरूप परिवार में टूटन एवं तनावकी स्थिति आई है। मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप में' इस टूटन का बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुतीकरण किया है। उपन्यास की नायिका अपने प्रेमी के साथ विवाहेतर सम्बन्धों के बारे में अपने पति से बताती है और विवाह-विच्छेद की अनुमति माँगती हुई कहती है—

"हर आदमी को दिन और महीने के हिसाब से नहीं जाना जाता। उसे मैं दो सप्ताह में ही इतना जान गई थी जितना तुम्हें दो वर्ष में भी नहीं जान पाई।"[1]

अधिकांश उपन्यासकारों ने मध्यम वर्ग एवं निम्न मध्यम वर्ग को ही अपनी उपन्यासों का विषय बनाया है और इन्हीं वर्गों के पति-पत्नी संबन्धों की विवेचना की है। आज की नारी आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र, भावात्मक रूप से परिपक्व और बौद्धिक रूप से सजग है एवं आज पति-पत्नी सम्बन्धों के अन्तर्गत वह विवाह बंधनों के जरिए मिलने वाले मान्यता प्राप्त

---

1. उसके हिस्से की धूप - मृदुला गर्ग, पृष्ठ - 146.

सुख की जगह बंधन मुक्त बौद्धिक-भौतिक जीवन जीना चाहती है। यही कारण है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में पति-पत्नी के सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य मे परम्परागत मान्यताओं में गम्भीर परिवर्तन आया है। उपन्यासों में पति-पत्नी सम्बन्धों को जिस दृष्टिकोण से देखा एवं परखा जा रहा है उसके मूल में आधुनिक परिवेश में बदलते जीवन का यथार्थ है, जो संक्रन्ति युग की माँग भी है और देन भी। इस सम्बन्ध में उमा शुक्ल का दृष्टिकोण है कि—

'' आज स्त्री-पुरुष दो अनामिल इकाइयाँ, पर परस्पर सम्बद्ध दो अलग-अलग बिन्दु जो सरल रेखा भी नहीं, एक वृत्त भी नहीं, त्रिभुज बनाते हैं। विकर्षण होते हुए भी आकर्पित होते हैं...... टूटने पर भी जुड़ते हैं और जुड़कर फिर टूटते हैं। अनवरत यह चलता रहा है। ये चिपके हुए सम्बन्ध हैं उपजे हुए नहीं यही त्रादसी आज के सम्बन्धों की है।''[1] अत: अधुनातन चिन्तन एवं वैज्ञानिक दृष्टि ने मानवीय सम्वन्धों में दरार उत्पन्न कर दी है। स्वातन्त्र्योत्तर युग ऐसा संक्रमण-युग रहा है, जहाँ नवीनता के प्रति आकर्षण और परंपरागत मूल्यों के प्रति मोह की भावना रही है यही कारण है कि स्त्री-पुरुष अर्थात् पति-पत्नी के सम्बन्धों में पर्याप्त नवीनता आई है। शिक्षित वर्ग को स्त्री-पुरुष का परम्परागत आदर्श स्वरूप मान्य नहीं है, क्योंकि शिक्षा के कारण ये अधिकाधिक 'व्यक्ति' होते जा रहे हैं। पति-पत्नी के मध्य परंपरागत पतिव्रत्य और सतीत्व की भावना में भी अन्तर आया है- ''पति और प्रेमी दो पृथक व्यक्ति हैं, आवश्यक नहीं कि, जिससे प्रेम हो, उसी से विवाह भी और जिससे विवाह हो उससे प्रेम भी। प्रेम के अर्थ और संदर्भ बदल गए हैं।''[2] इस प्रकार पति-पत्नी के मध्य तनाव कहीं अर्थ के कारण है, तो कहीं अति आधुनिक होने के कारण और कहीं उनके बीच तीसरे व्यक्ति के प्रवेश के कारण है।

---

1. भारतीय नारी अस्मिता की पहचान, उमा शुक्ल- पृष्ठ-40.

2. बदलते जीवन मूल्यों में संदर्भों की पहचान, डा० ज्ञान अस्थाना, संवेतना - 49.

इस प्रकार पति-पत्नी सम्बन्धों में नवीन यथार्थ को पहचान कर नई भावमूलक स्थितियों तथा समस्या दोनों का सन्तुलन साठोत्तरी महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में रूपायित हुआ है। पति-पत्नी के सम्बन्धों में आए परिवर्तन के कारण उनके पारस्परिक सम्बन्धों के मध्य जो दर्जे, अस्तित्व, अस्मिता और स्वतन्त्रता आदि के प्रश्न उपस्थित हुए हैं और जिसके परिणाम स्वरूप तनाव, कटुता, झगड़े और अन्ततः सम्बन्ध विच्छेद आदि तक की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं हैं उनसे ये महिला उपन्यास लेखिकायें बहुत हद तक प्रभावित हुईं हैं और इसका विशद चित्रण एवं विश्लेषण इनकी उपन्यासों में हुआ है।

एकांगी परिवार :

बदलते पारिवारिक संदर्भ में संयुक्त परिवार का विघटन और फलस्वरूप एकांगी परिवारों का जन्म महत्वपूर्ण है। एकांगी परिवार के अस्तित्व का मुख्य कारण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है, साथ ही औद्योगीकरण, काम की तलाश में शहर की ओर पलायन, आवास की कठिनाई तथा मुख्य रूप से पुरानी और नवीन पीढ़ी के मध्य विचारों की टकराहट, एकांद्वह परिवार के अस्तित्व में आने का मुख्य कारण है। यही कारण है कि संयुक्त परिवार का अस्तित्व प्रायः समाप्त होता जा रहा है और एकांगी परिवारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। स्वातन्त्र्योत्तर महिला लेखिकाओं की उपन्यासों में अधिकाशतः एकांगी परिवार का ही चित्रण हुआ है। उषा प्रियंवदा, मृदुलागर्ग, शशिप्रभा शास्त्री आदि उपन्यास लेखिकाओं ने अपने अधिकांश उपन्यासों में एकांगी परिवार के अकेलेपन, कुण्ठा, त्रादसी एवं स्त्री समस्याओं का बखूबी प्रस्तुतीकरण किया है—

''नावें'' उपन्यास में शशि प्रभाशास्त्री ने एकांगी परिवार का चित्रण किया है। उपन्यास की नायिका मालती नौकरी करती है, जिससे घर का खर्च चलता है जब वह कलकत्ता से वापस आती है तो उसके पिता कहते हैं—

''बेटी तेरे बिना तो मैं बिल्कुल अपाहिज हो गया। अपाहिज तो पहले ही था अब तो बिलकुल टूट गया।''[1]

---

1. नावें - शशिप्रभा शास्त्री - पृष्ठ 29.

एकांगी परिवार की यह भी समस्या है कि घर का मुखिया यदि किसी कारण से यदि आर्थिक रूप से कमजोर हो जाए तो सारा उत्तरदायित्व परिवार के बच्चों पर आ जाता है। घर में नौकरी करने वाली यदि बड़ी पुत्री हो, पिता वृद्ध या बीमार हो तो पुत्री के विवाह की बात पर यह आशंका भी घर कर लेती है कि पुत्री के चले जाने पर घर का खर्च कैसे चलेगा। आज के बदलते सन्दर्भ में पारिवारिक जीवन का यह कटु सत्य है। इस कटु यथार्थ का वास्तविक चित्रण आज की महिला उपन्यास लेखिकाओं की उपन्यासों में बड़े ही मार्मिक एवं प्रभावशाली ढंग से हुआ है। उषा प्रियंवदा के उपन्यास ''पचपन खम्भे लाल दीवारें'' में नायिका की माँ कहती है—

''तुमसे हमेशा कहा कि नीरू की शादी का बंदोबस्त करना है। तुमने कभी ध्यान ही नहीं दिया मेरे पास आज दस हजार रुपये होते तो खट से नीरू की शादी हो जाती।''[1] इस उत्तरदायित्व को निभाने में उसे कितनी संघर्ष करना पड़ता है नायिका की मामी के शब्दों में उसका मार्मिक चित्रण है—

''मैं तो कहूँगी कि एक लड़की का गला काट कर दूसरी का ब्याह रचाकर बड़ी बीबी ने अच्छा नहीं किया। सुषमा के कन्धे पर छः हजार रुपये का बोझ डालना कहाँ का न्याय है।''[2]

एकांगी परिवार के अस्तित्व एवं उससे उत्पन्न समस्याओं का चित्रण मृदुलागर्ग ने अपने उपन्यास 'इसके हिस्से की धूप' में किया है। जहाँ अकेलापन अनुभव करने की समस्या उपन्यास की नायिका की मूल समस्या है जो एकांगी परिवार के कारण ही उत्पन्न होती है, वहीं एकांगी परिवार स्त्री पुरुष को स्वच्छन्द वातावरण भी प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में जयश्री बरहट्टे ने लिखा है कि—

---

1. पचपन खम्भे लाल दीवारें - उषा प्रियंवदा - पृष्ठ - 78.

2. वही - पृष्ठ - 106.

''एकांगी परिवार में व्यक्ति के मन का स्वच्छन्द विकास होता हुआ हमें दिखाई देता है, साथ ही परिवार का नैतिक पतन भी दृष्टिगोचर होता है।[1] परिणाम स्वरूप व्यक्ति की प्रवृत्ति परिवर्तित हो रही है और आज ''किसी को किसी से मतलब नहीं, कोई वास्ता नहीं वे अपने ही सुख-दुख में अन्धे है।''[2]

नि:सन्देह आज के भारतीय परिवार में समयानुकूल अनेक परिवर्तन आ चुके हैं। परिणाम स्वरूप परिवार के आकार में, उसके सहयोगी आधार में, पति-पत्नी संदर्भ में पारिवार के व्यक्तियों की स्थिति व अधिकारों में तथा परिवार के कार्यों में अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीन मूल्य एवं मान्यताएँ तीव्रगति से परिवर्तित हो कर धीरे-धीरे विलुप्त हो रही हैं तथा कुण्ठा, बिखराव एवं विवाह-विच्छेद की समस्याएँ उत्पन्न हो रहीं हैं और परिणाम स्वरूप व्यक्ति स्वकेन्द्रित होता जा रहा है। आज व्यक्ति का ''जीवन अपना है, भविष्य अपना है, जिसके निर्माण में उसका अपना निर्णय ही अधिक महत्व रखता है।''[3] इन सभी दृष्टिकोणों से महिला उपन्यासकारों ने परिवार में स्त्री की स्थिति का विश्लेषण करके उसका अपनी रचनाओं में प्रसंगानुकूल चित्रण प्रस्तुत किया है। आज जीवन जिस प्रकार से विघिटति होता जा रहा है निकट भविष्य में वह और भी खण्डित होगा, इन उपन्यासों में इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

नवीन धार्मिक संदर्भ :

स्त्री-विमर्श को उपन्यास साहित्य में धर्म के विशेष संदर्भ में रखकर प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। धर्म के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है, वस्तुतः मनुष्यता ही

---

1. हिन्दी उपन्यास : सातवाँ दशक: डा० जयश्री वरहट्टे पृ० 21.
2. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में वैचारिकता- डा० शशि जेकब पृ-62.
3. स्वान्त्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, डा० स्वर्णलता-पृष्ठ-54.

मनुष्य का प्राकृत धर्म है अगर मनुष्य के हृदय से मनुष्यता समाप्त हो जाती है तो उसमें पशुत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता। 'धर्म' शब्द हमेशा इसी रूप में प्रयुक्त नहीं होता अपितु इस शब्द में असीम व्यापकता है। धर्म वह उपकरण है जिसके माध्यम से भारतीय संस्कृति सत्ताशील रही है। ये मानव जीवन को पशुत्व से पृथक-कर मानवत्व की श्रेणी में लाता है।

सामान्यतया वैदिक, बौद्ध, जैन, इसाई, इस्लाम एवं पारसी आदि धर्म 'धर्म' के अन्तर्गत आते हैं। देश और जाति के आधार पर भी धर्म का विभाजन हुआ है यथा-हिन्दू धर्म, क्षत्रिय धर्म, आदि। विभिन्न वर्गों वर्णों एवं व्यवसायों के आधार पर भी इसकी कोटियां निर्मित होती रहती हैं। यथा प्रणाधर्म, राजधर्म, कुल धर्म, जाति धर्म, मित्र धर्म इत्यादि।

धर्म शब्द संस्कृत के 'धृ' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है धारण करना। वस्तुत: लोकमंगल की कामना से ही विधि निषेध, कर्माकर्म, धर्माधर्म, पुण्य-पाप की व्याख्याएं की गई हैं। भर्तहरि ने इस सम्बन्ध में नीतिशतक में लिखा है—

''जो अपने लाभ स्वार्थ का त्याग कर दूसरों का हित साधन करते हैं, वे ही यथार्थत: वास्तविक एवं सत्-पुरुष हैं। जो निजी स्वार्थ की रक्षा करते हुए लोकहित के लिए प्रयत्न करते हैं, वे सामान्य व्यक्ति हैं, जो अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए दूसरों का अहित करते हैं, वे मनुष्य नहीं मानवाकृति राक्षस हैं।''

धर्म के संबन्ध में 'अहिंसा सत्यमस्तेय' इत्यादि दस लक्षणों की चर्चा प्राय: होती रही है, परन्तु ऐसा कोई आधार नहीं जो सदा सर्वत्र एवं सबके लिए समानरूप से कल्याणकारी है। जैसे-यह सही है कि सत्य मानव धर्म है, किन्तु जीवन में ऐसे प्रसंग भी आते हैं जब असत्य भाषण ही कर्तव्य धर्म हो जाता है।

धर्म व्यक्ति को पतित नहीं होने देता इसलिए साहित्य में धर्म प्रतिष्ठापना उसे सदैव ऊँचा उठाती है। आज के परिवर्तित संदर्भ में महिला उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में धर्म के बदलते हुए दृष्टिकोण की स्त्री की स्थिति के संदर्भ में व्यापक व्याख्या की है। आज धर्म

के यर्थाथ रूप का निरन्तर ह्रास हो रहा है और इसके स्थान पर समाज में जो विभिन्न धार्मिक अन्धविश्वास, अनैतिक कर्म एवं व्यापार हो रहे हैं, उनका चित्रांकन इन उपन्यासकारों ने विशद ढंग से किया है। महिला उपन्यासकारों ने धर्म को पारम्परिक रूप में स्वीकार नहीं किया है। इन्होंने जीवन अनुभव तर्क एवं सामाजिक स्थितियों एवं परिवेश के माध्यम से धर्म को नवीन रूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। इनकी दृष्टि में आज धर्म रूढ़ नहीं रहा, उसमें गतिशीलता आ गया है। निरूपमा सेवती एवं मेहरुन्निसा परवेज सदृश्य उपन्यास लेखिकाओं ने इस दिशा में पर्याप्त विचार प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में धर्म मनुष्य से जुड़ा है और व्यक्ति ने इसका दूसरा रूप स्वीकार कर लिया है धर्म के प्रति स्त्रियों की बदलती मानसिकता एवं धर्म के यथार्थ रूप को निरूपना सेवती ने तुषार के माध्यम में व्यक्त किया है—

''हाँ धर्म तो सब में ही है, यह इन्सान के भीतर का कान्शसनेस है।[1]

आज के समाज में ईश्वर के सम्बन्ध में परिवर्तित होती हुई मान्यताओं का प्रभाव महिला उपन्यास लेखिकाओं के उपन्यास पर भी पड़ा है। इन लेखिकाओं ने नारी मन की विभिन्न धार्मिक भावनाओं का चित्रण किया है यथा- धार्मिक परम्पराओं, रूढियों, धार्मिक रीति-रिवाजों, पूजा-पाठ आदि के प्रति आज की शिक्षित युवतियों के मन में ईश्वर के प्रति बदलती मान्यताओं का चित्रण भी उपन्यासों में प्रस्तुत किया गया है। मधुर जैसी शिक्षित युवतियों के विचार ईश्वर के सम्बन्ध में परम्पराओं से हट कर है। ईश्वर के सम्बन्ध में वह कहती हैं-

''भगवान तो कुछ भी नहीं है, सुरेखा एक आइडिया है एक विचार है, जिसे हमने अपने देखे हुए सपने के हिसाब से एक शरीर का नाम दे दिया है। मैं छलावों में किसी झूठी

---

1. दहकन के पार - निरूपमा सेवती - पृष्ठ -100.

कल्पना और लोगों की बकवास में विश्वास नहीं करती।''[1] स्पष्ट है कि सामाजिक, पारिवारिक एवं युगीन परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ साथ व्यक्ति के विश्वास में भी परिवर्तन होता जा रहा है। आज जहाँ ईश्वर पर आस्था रखने वाले अंधविश्वासी हैं, वहीं दूसरी ओर ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने वालों की भी कमी नहीं है। यही कारण है कि महिला लेखिकाओं ने धर्म के संदर्भ में अपनी विशेष स्त्री दृष्टि प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इन महिला उपन्यास लेखिकाओं ने ईश्वर एवं धर्म के संदर्भ में विवेचन एवं विश्लेषण कर उसका प्रस्तुतीकरण अपनी कृतियों में कहीं स्थितियों के माध्यम से और कहीं विभिन्न पात्रों के माध्यम से किया है। धर्म के नाम पर स्त्रियों में जो अन्धविश्वास व्याप्त है और इसका आश्रय लेकर साधु सन्त जिस प्रकार से स्त्रियों का शोषण करते हैं साथ ही पढ़ी-लिखी स्त्रियों में इन धार्मिक नीतियों के प्रति जो अस्वीकार एवं संघर्ष हैं उसका भी चित्रण इन उपन्यासों में हुआ है। आज पत्नी धर्म, मातृधर्म, स्त्री धर्म सभी में विचार एवं सोच के स्तर पर परिवर्तन आया है आज धर्म के नाम पर रूढ़िवादिता नहीं है। ''आँखों की दहलीज'' उपन्यास की लेखिका का मानना हैकि -

''धर्म चाहे कुछ हो, खुदा या भगवान चाहे हो या न हो पर इतना जरूर है कि आदमी अगर उसे मानने लगे तो बुराई से बच सकता है।''[2]

आज के बदलते परिवेश में धर्म अपना यथार्थ रूप खो चुका है आज अनीति, असत्य, अकृत्य आदि का बोलबाला है और ये सारे कुकृत्य धर्म की आड़ में बड़ी ही सरलता से कार्य रूप में परिणत होते हैं। धार्मिक अंधविश्वासों का स्थान स्त्रियों में

---

1. अपनी अपनी यात्रा - कुसुम अंसल पृ0 40
2. आँखों की दहलीज - मेहरून्निसा परवेज पृ0 15

सर्वाधिक है। धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार हो रहें हैं। धर्म के ठेकेदारों के छलावे में आकर अनेक स्त्रियाँ उत्पीड़ित हो रही हैं। धर्मोन्माद कहीं युद्ध का रूप ले रहा है और कहीं दंगों का और कहीं क्रूरतम कृत्यों का और इसका सबसे अधिक प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है। आज की शिक्षित नारी धर्म के परिर्तित रूप को स्वीकार करती हुई कहती है-

''इस्लाम का असली अर्थ शान्ति का धर्म है ओर शान्ति न अपने में है और न मोहल्ले में। और पिता जी को ही मालूम है क्या द्विज होने का अर्थ? और अपनी जाति पर नाज कितना है उन्हें? द्विज तो वह हैं जो इसी जन्म में नये जन्म जैसी चेतना पा ले, वह अपने अस्तित्व का सही अर्थ पा ले'' [1]

साहित्य में धर्म के प्रति विशेष विचार विमर्श किया जा रहा है और इसे परम्परा से हट कर नवीन दृष्टिकोण से देखा एवं प्रस्तुत किया जा रहा है।

नवीन राजनैतिक संदर्भ :

साहित्य एवं समाज तथा युग स्थिति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि साहित्य एवं राजनीति भी परस्पर सम्बन्धित है। भारतीय साहित्य पर धार्मिक प्रभाव तो पड़ा ही है साथ ही समय एवं परिस्थितियों के अनुसार वह राजनीतिक प्रभाव से भी वंचित नहीं रह सका है।

वर्तमान भारतीय प्रजातंत्रात्मक प्रणाली में राज्य के शासन में जनता की अप्रत्यक्ष रूप से भागीदारी होती है। यही कारण है कि जीवन की विकासात्मक प्रक्रिया में राजनीति का महत्वपूर्ण स्थान है। आज के राजनीतिक सन्दर्भ परिवर्तित हो रहे हैं राष्ट्रीयता का स्थान विश्व राष्ट्रीयता ने ले लिया है। राष्ट्रीय एकता की जगह अन्तर्राष्ट्रीय एकता ने ले लिया है

---

1. दहकन के पार - निरूपमा सोबती - पृ0 119

मानवता की जगह विश्व मानवता ने ले लिया है। आज राजनीति का क्षेत्र सीमित न होकर अत्यन्त ही व्यापक हो गया है। इतना सब होने के बाद भी निरन्तर युद्ध की विभीषिका बनी रहती और सैद्धान्तिक राजनीति का व्यवहारिक राजनीति में कोई महत्व नहीं रह गया है। जगह-जगह अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन हो रहा है। यही कारण है कि आज का मनुष्य जहाँ एक ओर सुखद भविष्य के निर्माण की आशा से अनुप्राणित है वहीं दूसरी ओर वह विनाश की आशंका से त्रसित एवं भयभीत भी है।

साहित्य में भी राजनीतिक घटनाक्रमों एवं परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है । उपन्यास मानव जीवन की गाथा है और मानव स्वयं को राजनीति से अलग नहीं कर सकता यही कारण है कि उपन्यास साहित्य में बदलते राजनीतिक संदर्भ का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है। स्वतन्त्र्योत्तर उपन्यास साहित्य में राजनीतिक संदर्भ में स्त्री की स्थिति के विवेचन एवं विश्लेषण को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद साहित्यकारों ने राजनीतिक परिस्थितियों का गहन निरीक्षण किया और तत्पश्चात् बदलते हुए राजनीतिक मूल्यों एवं प्रतिमानों को अपनी औपन्यासिक कृतियों में अभिव्यक्त प्रदान की। समय के साथ साथ राजनीतिक मूल्यों में जो परिवर्तन आया है उसे अनेक उपन्याम लेखिकाओं ने देखा है, पहचाना है, स्वीकारा है और फिर उसकी अभिव्यक्ति अपनी औपन्यासिक कृतियों में की है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय राजनीति दो विचारधाराओं से प्रभावित थी। भारतीय राजनीति पर सबसे ज्यादा प्रभाव गाँधी एवं नेहरू का पड़ा था बाकी राजनीतिक व्यक्ति या तो गाँधी के समर्थक थे या नेहरू के। जो इनकी नीतियों के विरुद्ध थे वे गाँधी और नेहरू की लोकप्रियता के समक्ष कुछ कर नहीं सके, यही कारण है कि स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति राष्ट्र की अपेक्षा व्यक्ति राजनीति में परिवर्तित हो चुकी थी। नेहरू जी ने अपने राजनीतिक जीवन में कुछ आत्मनिर्णयात्मक समझौते किये जिससे राष्ट्रीय चेतना को व्यापक आघात पहुँचा और आत्म निर्णय तथा आत्मसंकल्प की क्षमता समाप्त होकर उदासीनता में

परिवर्तित हो गई जैसे- रणयुद्ध की जगह शीत युद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, चीन को तुष्टीकरण के लिए तिब्बत दिया गया, काश्मीर का एक विस्तृत भू-भाग पाकिस्तान के आधिपत्य में चला गया और भारत इसके लिए कुछ न कर सका। इस सबके फलम्वरूप भारतीय राजनीतिक मूल्यों में व्यापक परिवर्तन आया और अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर राष्ट्रीय हितों को निरन्तर धक्का पहुँचता रहा । अतः देश में आर्थिक विषमता, सामाजिक अव्यवस्था, विदेशी ऋण ग्रस्तता, तथा सांस्कृतिक अजनबीपन की समस्या उत्पन्न हुई और व्यक्ति राजनीति में स्वयं को बंधा हुआ महसूस करने लगा।

हिन्दी के अनेक उपन्यास लेखक एवं लेखिकाओं ने उपरोक्त तत्कालीन राजनीति का चित्रांकन अपनी औपन्यासिक कृतियों में किया है एवं स्थिति एवं प्रसंगानुसार अनेक संदर्भो में अपने विचार भी व्यक्त किए हैं।

महिला उपन्यास लेखिकाओं में मृदुला गर्ग, निरूपमा सेवती, शशि प्रभा शास्त्री, मन्नू भण्डारी प्रभृति ऐसी लेखिकाएं हैं, जिनके उपन्यासों में राजनीति के सन्दर्भ में स्त्रियों की स्थिति पर खुल कर विचार व्यक्त हुए हैं। मृदुला गर्ग द्वारा रचित 'अनित्य' उपन्यास में राजनीतिक विसंगतियों का चित्रण बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से किया गया है। इस उपन्यास में पूरे राष्ट्र के उत्थान पतन की कथा सन्निहित है । इसमें मृदुला गर्ग ने गाँधी के अहिंसात्मक आन्दोलन एवं भगतसिंह के क्रान्तिकारी आन्दोलन का विश्लेषण करके विगत वर्षों के ह्रासोन्मुख समाज की कहानी प्रस्तुत की है। उपन्यास के माध्यम से इस बात को बड़े ही सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है, कि स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों ने अपने प्राण-प्रण से तथा त्याग एवं बलिदान से जिस स्वराज्य की प्राप्ति की उसकी प्राप्ति के पश्चात वे स्वयं ही कुण्ठित, हताश, निराश एवं आहत हो गए तथा अकेलेपन एवं व्यर्थता बोध की असत्य यंत्रणा में स्वयं को डूबा हुआ पाते हैं। इसमें क्रान्तिकारियों के नवीन रूप को प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में डा0 विवेकी राय का मत है कि -

"भारतीय स्वराज्य के भटक जाने तथा प्राप्ति के साथ रूग्ण हो जाने का तथ्य तो सर्वविदित है, परन्तु इतिहास की गहराई में छिपे, राष्ट्रीय स्थिति के ठीक-ठीक उस बिन्दु का अन्वेषण जब स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी भटक कर चूक जाते हैं, इस कृति की अंतरंग सार्थकता है।"[1]

'अनित्य' के स्त्री पात्र भी राजनीतिक जागरूकता से संपृक्त हैं। 'अनित्य' उपन्यास की स्त्री पात्र काजल में राजनीतिक चेतना प्रखर है वह भगत सिंह की क्रान्ति पर विश्वास एवं आशा रखती है और भगत सिंह के कार्यों को पूरा करने का संकल्प भी करती है - "प्रोपेगन्डा बाई डेथ" साधन और सत्ता पर कब्जा कर उस पर आम लोगों की हुकूमत कायम करना किसी एक गाँव की भूमिहीन किसानों द्वारा अपने गाँव की जमीन पर कब्जा कर लेना और अपनी सरकार बना लेना।"[2] इसमें लेखिका ने आधुनिक राजनीति के संदर्भ में स्त्री की नवीन दृष्टि को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में मृदुला जी ने इतिहास एवं राजनीतिक गतिविधियों को जन-जन की चेतना का अंग बनाना चाहा है वे कहती हैं कि -

" पारम्परिक दृष्टि से 'अनित्य' ऐतिहासिक या राजनैतिक उपन्यास नहीं है, यानी इतिहास की घटनाएं इसमें नाटक की तरह नहीं घटती पर इतिहास का घटंनाक्रम राजनीतिक बोध और सामाजिक बोध मेरे पात्रों के चेतना प्रवाह के प्रमुख अंग हैं इससे इतिहास या राजनीति का महत्व कम नहीं होता बढ़ जाता है।[3] इस प्रकार. अनित्य उपन्यास क्रान्ति की शाश्वत चेतना का प्रतीक है।

---

1. धर्मयुग - 25 जनवरी 1981 - डा0 विवेकी राय का निबन्ध 'अनित्य' राजनीतिक विसंगतियों का सशक्त चित्रण पृ0 31
2. अनित्य : मृदुला गर्ग - पृ0 200
3. धर्म युग 22 मार्च 1981 शहीद भगत सिंह और उपन्यास अनित्य एक आत्म कथा : मृदुला. गर्ग. पृ0 30

मन्नू भण्डारी कृत उपन्यास 'महाभोज' में समकालीन राजनीतिक बोध तथा उससे प्रभावित विभिन्न वर्गों की मानसिकता को दिखाया गया है। इस उपन्यास में राजनीतिक घटनाओं को जीवन में उतारने का प्रशंसनीय प्रयास दृष्टिगोचर होता है साथ ही राजनीतिक प्रभाव से निर्मित परिस्थितियों एवं राजनीतिक शक्तियों के खोखले पन को भी प्रस्तुत किया गया है। 'महाभोज' उपन्यास में मुख्यतया गाँधी वादी दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस उपन्यास के मुख्य पात्र ''दा साहब'' गाँधीवादी विचारों वाले हैं उनका कहना है -

''पद के प्रलोभन से इतने अविवेकी मत बनो। कर्मचारियों को इस तरह के आदेश देना उनके अधिकार में हस्तक्षेप करना है। मुझसे यह सब होगा नहीं भाई। मैं तो चाहता हूँ सबको अपने अधिकार सौंप कर अपने अधिकारों को शून्य में बदल दूँ।''[1]

श्रीमती मृदुला गर्ग के उपन्यास वंशज में भी राजनीतिक विवेचना प्रस्तुत की गई है। अंग्रेजी शासन के समय सर्वाधिक आलोचना का शिकार नौकरशाही वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र शुक्ला के चरित्र का उद्घाटन लेखक ने इन शब्दों में किया है- ''शुक्ला भी अंग्रेजी शासन के कायल थे। 1942 का जमाना था स्वराज्य की बू सब ओर फैली हुई थी। अंग्रेजों के जाते ही हर प्रकार की शालीनता नष्ट हो जाने का डर, अकेले उनके मन में नहीं, सभी ऊँचे अफसरों के दिल में समाया हुआ था।''[2]

आजादी के बाद देश की राजनीतिक स्थिति एवं विसंगति का का वर्णन लेखिका ने बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से किया है - ''कहने को हिन्दुस्तान आजाद हो गया, पर बेइन्साफी के काले चोंगों में लिपटे आजादी के पुराने दुश्मन अब भी इन्साफ के सरपरस्त बने,

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी = पृ0 24 राधकृष्ण प्रकाशन दरियागंज दिल्ली

2. वंशज-मृदुला गर्ग - दिल्ली - 1978 पृ0 14

अदालती कुर्सियों पर विराजमान थे । बेइन्साफी से कानून को लाठियों और बन्दूकों से लागू करने वाले वहसी हुक्मरान, अब नई हुकूमत के पहरेदार बने।''[1]

निरूपमा सेवती के उपन्यास 'दहकन के पार' में भी अपराधोन्मुखी राजनीति का चित्रण करते हुए कहा गया है कि - ''राजनीति का काम गुण्डागर्दी बन गया है अब देखो न वह हमारे इलाके का लीडर, बीच में तो वह मन्त्री पद पर भी रहा था, इतना पैसा कम्पनियों से खाकर अन्दर भर लिया है और जिंदगी भर के लिए सुख जैन जुटा गरीबों का लीडर बन गया है''[2]

स्वतंत्रता के पश्चात देश की गरीबी में और अधिक वृद्धि हुई है। जिस गरीबी और अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए अनेक देश भक्तों ने अपना सर्वस्व बलिदान कर के देश को आजाद कराया आज वहीं अन्याय, भ्रष्टाचार, गरीबी, अत्याचार में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस स्थिति के लिए सत्ता लोलुप नेता उत्तरदायी हैं। आज राष्ट्रहित की बात कोई नहीं सोचता है। मानवतावादी दृष्टिकोण विलुप्त हो चुका है। सत्ता की इस भ्रष्ट स्थिति के विरुद्ध उपन्यास लेखिकाओं के स्त्री पात्रों के मन में तीव्र आक्रोश एवं प्रतिकार उत्पन्न हुआ है। इस संदर्भ में निरूपमा सेवती की उपन्यास ''दहकन के पार'' की नायिका के ये विचार दृष्टव्य है -

''युगों से चली आयी सामाजिक तहों की छानबीन करते हुए तुषार भी अपने बच्चे में जिस नयी मनुष्यता को देखती है, वह पहले सही मनुष्य होने की है ---- और यह बात भी दिल को बेहद कचोटती रहती है कि सत्ता लोलुप राजनीति ने आर्थिक, सामाजिक तो क्या- ''धार्मिक तल '' पर भी मनुष्य का सुख आनन्द कितना छीना है । धर्म जैसे परम मुक्त अनुभव को भी राजनीतिक घेरों में कैद करना चाहा है।''[3]

---

1. वहीं - पृ0 31

2. दहकन के पार - निरूपमा सेवती पृ0 45

3. दहकन के पार - निरूपमा सेवती पृ0 6

स्पष्ट है कि प्रजातांत्रिक देश में मानवता नष्ट हो रही और प्रमुख राजनीतिज्ञ शासन को हाथ में लिए अंधे कानून की बात करते हैं, जिसे आज प्रमाण की जरूरत है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि महिला उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में राजनीतिक विचारों को बड़ी गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत किया है। राजनीतिक जीवन के विभिन्न रूपों एवं उपादानों के संदर्भ में राजनीतिक मान्यताओं, सिद्धान्तों एवं दलों के संदर्भ में ये उपन्यास लेखिकाएं अधिक तटस्थ एवं सन्तुलित हैं। चुनावी प्रक्रिया की विभिन्नता उपन्यास लोखिकाओं की रचनाओं में प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रित हुई है। आज के नेता व्यक्ति को सही दिशा निर्देश क्या देंगे वे तो स्वयं ही पथभ्रष्ट हैं इस की व्यंजना इन उपन्यासों में दृष्टिगोचर होती है। सत्ता में जो जोड़ तोड़ की राजनीति चल रही है, उसका वर्णन भी इन उपन्यासों में हुआ है। समाज द्वारा भी राजनीति में स्त्रियों की भागीदारी को प्रोत्साहन मिल रहा है और राजनीति में उनकी स्थिति को सम्मानजनक दृष्टि से देखा जाता है। जिसके परिणामस्वरुप राजर्नीति के क्षेत्र में भी महिलायें आगे आ रही हैं और पुरुषों के कदम से कदम मिला कर आगे बढ़ रहीं हैं।

जहाँ पहले राजनीति में स्त्रियों की भागीदारी न के बराबर थी और राजनीति का क्षेत्र महिलाओं के लिए सम्माननीय नहीं माना जाता था, वहीं आज के नवीन बदलते संदर्भ में राजनीति को स्त्रियों ने सम्मान की दृष्टि से देखा है और उसमें उनकी सक्रिय भागीदारी बढ़ती ही जा रही है। उनके राजनीतिक विचार अत्यधिक प्रखर हैं तथा उनमें राजनीतिक जागरूकता का विस्तार हो रहा है। उनमें देश ओर समाज के बारे में नवीन विचार एवं सोच का प्रादुर्भाव हुआ है और इस सोच और विचार को महिला उपन्यासकारों ने अपनी औपन्यासिक कृतियों के माध्यम से व्यक्त किया है। आज वे राजनीतिक तथा सरकारी नीतियों के संदर्भ में अपने विचार प्रकट करती हैं तथा अपने राजनीतिक अस्तिव के लिए मजबूती के साथ प्रयत्न शील हैं। वहीं दूसरी ओर स्त्री आज के परिवर्तित राजनीतिक संदर्भ में कुत्सित राजनीति का शिकार भी हो रही है। इसके विरुद्ध तीखी प्रक्रिया उपन्यास

लेखिकाओं की कृतियों में व्यक्त हुई है। राजनीति में स्त्रियों की स्थिति पर इन उपन्यासों में विहंगम दृष्टि डाली गई है। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'चाक' इसका प्रमाण है। राजनीतिक लाभ के लिए विभिन्न नेताओं द्वारा अपराध किये जा रहे हैं जैसे साम्प्रदायिक हिंसा को भड़काना, हत्या आदि। इन्हीं अपराधों में से एक अपराध नारी शोषण एवं उत्पीड़न का भी है। आज वर्ग विशेष का शोषण राजनीतिक लाभ के लिए हो रहा है और इस शोषण में मुख्य रूप से स्त्रियाँ ही उत्पीड़ित होती हैं। इन परिवर्तित स्थितियों का यथातथ्य आकलन महिला उपन्यास लेखिकाओं ने बड़ी ही तटस्थता एवं जागरूकता के साथ अपनी उपन्यासों में किया हैं चाहे वह मृदुला गर्ग का 'अनित्य' एवं 'वंशज' उपन्यास हो या मन्नू भण्डारी कृत ' महाभोज' हो या मैत्रीयी पुष्पा कृत ' चाक' हो अथवा निरूपमा सेवती कृत उपन्यास 'दहकन के पार हो' । इन सभी औपन्यासिक कृतियों में इस आकलन की सफल अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। आज की उपन्यासों में राजनीति के यथार्थ स्वरूप एवं जनता के महत्व को भी स्वीकृति मिली है और राजनीतिक अर्थहीनता का भी चित्रांकन हुआ है। राजनीति में ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, अहम, जनता के प्रति विश्वासघात आदि का सफल चित्रण इन उपन्यासों में हुआ है।

अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि महिला उपन्यास लेखिकाओं ने अपनी कृतियों के माध्यम से राजनीति के बदलते संदर्भ में स्त्रियों की स्थिति को अधिक विश्वसनीयता एवं प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

नवीन आर्थिक संदर्भ

आज का युग अर्थ प्रधान युग है यही कारण है कि सामाजिक मूल्यों के साथ-साथ राजनैतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं नैतिक मूल्य भी अर्थ संस्कृति से प्रभावित होते रहे हैं। आधुनिक युग में अर्थोपार्जन एवं भौतिक सुखसुविधाओं की प्राप्ति ही व्यक्ति का चरम् लक्ष्य बन गया है और आर्थिक मूल्यों का प्रश्न सम्पूर्ण मानव संस्कृति का प्रश्न बन गया है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् आई आर्थिक मन्दी ने न केवल राजनीतिज्ञों अपितु विचारकों एवं उपन्यासकारों के विचार एवं सोच को भी प्रभावित किया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् आर्थिक दृष्टि से देश की स्थिति में काफी परिवर्तन आया है, जिसका प्रभाव साहित्य और विशेष रूप से उपन्यास साहित्य पर पड़ रहा है। भारत में समाजवादी मूल्यों की विफलता के फल स्वरूप समाजवाद की नींव क्रमशः क्षीण होती जा रही है, और मूल्यों में अनवरत वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि को रोकने के प्रयासों की विफलता के परिणामस्वरूप उसका प्रतिरोध करना साहित्यकारों के लिये स्वभाविक हो गया। अत: जहाँ उपन्यास मनोरंजन के लिये लिखी जाती थी और उनमें कल्पना का प्राचुर्य होता था वहीं अब उसमें यथार्थ बोध एवं जागरूकता का समावेश होने लगा। आर्थिक विषमता, कुण्ठा आदि के विश्लेषण के साथ आज के उपन्यास बहुत कुछ आर्थिक समस्याओं को उजागर कर रहे हैं। सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज पर आए आर्थिक संकट एवं अर्थ के प्रभाव की अभिव्यक्ति साठोत्तरी औपन्यासिक कृतियों में दृष्टिगोचर होती है। आर्थिक विषमता के चक्रव्यूह में फँसे मानव जीवन का यथार्थ प्रस्तुतीकरण इन उपन्यासों में हुआ है।

1960 से 1980 के दशक में लिखे उपन्यासों की पृष्ठभूमि अधिकांशतः मध्यवर्गीय परिवेश रहा है और अधिकांश उपन्यासकार भी मध्यमवर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं अत: आर्थिक विपन्नता और आर्थिक विषमता का अनुभव इनका वैयक्तिक अनुभव भी रहा है। अर्थ प्रधान युग की विषमताओं से साहित्यकार भी अछूता न रहा और परिणामस्वरूप आर्थिक विषमता से आहत हृदय की सफल अभिव्यक्ति इनकी उपन्यासों में हुई है। तथा इन आर्थिक विषमताओं से उत्पम्न समस्याओं को लक्ष्य करते हुए उसका समाधान प्रस्तुत करके उन्हें समाप्त करने का आह्वान भी उपन्यासकारों ने किया है।

भारत वर्ष में पूँजीवादी सभ्यता दिनपर दिन बढ़ती जा रही है, यही कारण है कि कथा लेखिकाओं ने अपने उपन्यास में समाज के आर्थिक पक्ष का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया है और अपने अनुभव के आधार पर इसका प्रस्तुतीकरण किया है। आज अर्थ के लिए

कितना संघर्ष करना पड़ता है और सम्पूर्ण जीवन इसी को समर्पित करना पड़ता है फिर भी यह समस्या और अधिक विकराल रूप ग्रहण करती जा रही है। अर्थाभाव से व्यक्ति के सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में जिस प्रकार की विसंगतियाँ उत्पन्न होती जा रहीं हैं उनका प्रस्तुतीकरण भी इन उपन्यास लेखिकाओं की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता हैं। इन महिला उपन्यास लेखिकाओं ने अपनी कृतियों में मध्यवर्ग, जिसका वे स्वयं प्रतिनिधित्व करती हैं; की आर्थिक स्थितियों का वर्णन किया है और बदलते आर्थिक संदर्भ में महिलाओं की स्थिति के वर्णन को प्राथमिकता प्रदान की है। इनके विषय क्षेत्र विशेषरूप से परिवार व समाज तक ही सीमित हैं। आज पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है साथ ही आर्थिक विषमताएँ एवं असमानताएँ भी बढ़ रही हैं; जिससे सम्पूर्ण सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन प्रभावित हो रहा है इस संदर्भ में डा० जयश्री बर्‌हाटे का मत है कि —

''आर्थिक विषमता मानव जीवन को विकीर्ण किए देती है, क्योंकि शिक्षा, संस्कार, आधिकार, चेतना आदि आर्थिक दशा पर निर्भर हैं। इसके अभाव में समाज में अनेक बुराइयाँ, जातिगत द्वेष, पूँजीवाद, वर्ग-संघर्ष, अनमेल-विवाह, बाल-विवाह आदि फैलते हैं। सातवें दशक के उपन्यासों ने इस आर्थिक विषमता की समस्याओं को लक्ष्य करते हुए उन्हें समाप्त कराने का आह्वान भारतीय जनता से किया है।'' [1]

परिवार व समाज में आर्थिक परेशानियों को विशेष रूप से स्त्रियों को ही झेलना पड़ता है क्योंकि घर के आर्थिक खर्च के संचालन का भार मुख्य रूप से स्त्रियों पर ही होता है एवं घर की आर्थिक विपन्नता का अनुभव भी स्त्रियाँ ही करती हैं। महिला लेखिकाओं ने महिला होने के कारण महिलाओं की इस स्थिति को भँली-भाँति जाना है, अनुभव किया है और तब उसका वर्णन अपनी उपन्यासों में किया है। आज की विषम आर्थिक परिस्थितियों

---

1. हिन्दी उपन्यास : सातवाँ दशक - डा० जयश्री बरहाटे, पृष्ठ 155.

में स्त्री की स्थिति दिन पर दिन दयनीय होती जा रही है। यहाँ तक कि आर्थिक तंगी से छुटकारा पाने के लिए कार्यशील स्त्रियाँ अपना मानसिक एवं शारीरिक शोषण स्वयं भी स्वीकार करने को विवश हैं और यह शोषण की समस्या निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। आज नारी आर्थिक रूप से स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर हुई है परन्तु उसे इसकी बहुत कीमत चुकानी पड़ी है। आर्थिक तंगी के कारण वह नौकरी करती है और नौकरी में उसे अधिकारियों के जिस उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है इस स्थिति का अधिकांश लेखिकाओं ने अपनी उपन्यासों में यथार्थ चित्रण किया है। कहीं-कही आर्थिक विपन्नता मे मुक्ति हेतु स्त्री शोषण को बढ़ावा देने में उसके घर वालों का भी हाथ होता है। इस आर्थिक विषमता से उत्पन्न समाज में स्त्री के शोषण का संवेदनपूर्ण चित्रण महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बखूबी हुआ है। आज की आर्थिक विसंगतियों के अन्तर्गत स्त्री की दयनीय स्थिति को व्यक्त करने वाले उपन्यासों में 'दहकन के पार', 'नावें', 'आंखों की दहलीज', 'पतझड़ की आवाजें', 'कोरजा' तथा 'पचपन खंभे लाल दीवारें' आदि का मुख्य स्थान है। आर्थिक तंगी के कारण आज नीति अनीति के मध्य अन्तर समाप्त होता जा रहा है परिवार की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए तथा घर गृहस्थी का खर्च पूरा करने के लिये पिता अपनी पुत्री से नौकरी करवाता है और उसे स्वतन्त्रता भी देता है 'पतझड़ की आवाज' उपन्यास की लेखिका कहती है—

"बाप ने कहा था कि तीन साल की नौकरी का कन्ट्रेक्ट दे दें और तनख्वाह चार सौ से नीचे की न हो, तो लड़की आठ नौ बजे तक रुकी रह सकती है।"[1] ये विंसगति आर्थिक दुर्बलता के कारण ही है। स्त्री आर्थिक तंगी के कारण पारिवारिक विघटन की समस्याओं में फंसी हुई है। इसका चित्रण उपन्यास लेखिकाओं की रचनाओं में प्रभावपूर्ण एवं संवेदनशील ढंग से हुआ है। आज आर्थिक तंगी से बचने के लिए महिलाएं नौकरी कर

---

1. पतझड़ की आजावे – निरूपमा सेवती – पृष्ठ 53.

रही हैं और नौकरी करने वाली स्त्रियों को पारिवारिक तथा बाह्य विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की नायिका सुषमा एक कॉलेज में प्राध्यापिका है। कॉलेज के कर्तव्यों का पालन करती हुई वह अनुशासन बनाये रखती है तथा दूसरी ओर परिवार का खर्च भी चलाती है और फिर भी स्वयं को उपेक्षित महसूस करती है—

''माँ अब सुषमा की ओर से निश्चिन्त थी, उनका सारा ध्यान अब छोटे बच्चों पर केन्द्रित था। सुषमा प्राय: उपेक्षित सा अनुभव करने लगी थी।''[1]

प्राय: सभी महिला लेखिकाओं ने अपने अनुभव की पृष्ठ भूमि में अपनी उपन्यासों में समाज के आर्थिक पक्ष का विश्लेषण किया है और इन विश्लेपण में समाज की ऐसी स्त्रियों का वर्णन है, जो नौकरी करने के लिए विवश हैं और कुछ ऐसी भी स्त्रियों का वर्णन है जो नौकरी के लिए संघर्षरत हैं। आज के आर्थिक अभाव का चित्रण इन उपन्यासों में बड़ी ही सजीव एवं मर्मिक ढंग से हुआ है। इन उपन्यासों में अधिकारी वर्ग की रुप रेखाएँ हैं और कामकाजी दीन-हीन नारियों की मन: स्थितियों का भी चित्रण है। निरुपमा सेवती, मृदुला गर्ग, चित्रा मुदगला, कुसुम अंसल आदि उपन्यास लेखिकाओं ने अपनी उपन्यासों में आर्थिक समस्याओं में जकड़ी नारी की मन: स्थिति का चित्रण बड़े ही प्रभावशाली ढंग से किया है। मृदुला जी ने पूँजी के महत्व को प्रस्तुत किया है। पूँजी ही मनुष्य की प्रगति का प्रतीक है। 'चित्तकोबरा' में मदुला जी ने मार्क्स वादी विचारधारा को प्रस्तुत किया है— ''मार्क्स का कहना था ''पूंजीवाद और यन्त्रीकरण, इतिहास कीअपरिहार्य और निष्ठुर तर्क-युक्ति के अंश हैं। ....यन्त्रीकरण के दबाव में घुटे-पिसे कामगारों का विद्रोह भी ऐतिहासिक नियति का अनिवार्य अंग है। मार्क्स के लिए इतिहास की क्रूर नियति से बच निकलना असंभव था।

---

1. पचपन खम्भे लाल दीवारें - उषा प्रियंवदा - पृष्ठ 11.

विद्रोह अनिवार्य था, विद्रोह का रूप भी निश्चित था- कम्युनिज्म या साम्यवाद। पर उससे पहले उतना ही निश्चित था पूँजीवाद उससे उत्पन्न यंत्रीकरण और कामगारों का शोषण।"[1]

महिला उपन्यास लेखिकाओं ने अपनी उपन्यासों में मात्र प्रेम परिवार एवं समाज के संदर्भ का ही चित्रण प्रस्तुत नहीं किया है अपितु इन्होंने राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं का भी चित्रण किया है। आज पूँजीवादी व्यवस्था की विकृतियों में जनसाधारण का जीवन व्यतीत हो रहा है सर्वहारा वर्ग निरन्तर पूंजीपति वर्ग द्वारा शोषित हो रहा है। इन उपन्यासों में जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने की निर्भीक चेष्ठा है। आर्थिक समस्याओं का गूढ़ विश्लेषण इन उपन्यासों में दृष्टिगोचर होता है साठ एवं सत्तर के दशक में महिला लेखिकाओं की उपयन्यासों में इस क्षेत्र का पूर्ण रूप से चित्रण हुआ है साथ चित्रित समस्या का कारण एवं समाधान भी प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास हुआ है। यही महिला लेखिकाओं की इस क्षेत्र में महान उपलब्धि है।

नवीन मनोवौज्ञानिक संदर्भ :

स्वतन्त्रता के पश्चात् द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं के अतिरिक्त एक नवीन समस्या का भी उद्‌भव हुआ वह समस्या थी वैयक्तिक विघटन, अलगाववाद, अहं एवं आजनबी पन की। फलस्वरूप एवं नवीन मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का जन्म हुआ। छठे एवं सातवें दशक के कथासाहित्य में इस मनोविश्लेषण वादी विचारधारा को विशेष स्थान मिला है।

साहित्य मुख्यत: भाव, विचार, मन, संकल्प एवं प्रतिभा आदि मानसिक क्रियाओं से सम्बन्धित होता है और भाषा के माध्यम से साहित्यकार इन सब की अभिव्यक्ति करता है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानव की मानसिक क्रियाओं एवं भावों का अध्ययन किया जाता है

---

1. चित्तकोबरा, मृदुला गर्ग - पृष्ठ 71.

और यही कारण है कि साहित्य एवं मनोविज्ञान का गहरा सम्बन्ध है। साहित्यकार की विचारधारा एवं व्यक्तित्व की छाप उसके साहित्य में भी व्यक्ति होती है और यही कारण हैं कि स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास साहित्य पर भी उस समय की निराशा, अलगाव, स्वयं के अस्तित्व एवं अजनबी पन का प्रभाव पड़ा है। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में मानव जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने के लिए लेखकों द्वारा मनोविश्लेषणात्मक शैली को अपनाया गया है और मनोवैज्ञानिक एवं आस्तित्व वादी पक्ष को उजागर किया गया है। अज्ञेय की उपन्यासों में जहाँ मनोविश्लेषणात्मक एवं अस्तित्व वाद का चित्रण हुआ है वहीं इलाचन्द जोशी व जैनेन्द्र आदि की उपन्यासों में मानव मन के अर्न्द्वन्द्वों का चित्रण किया गया है।

छठें एवं साँतवें दशक की महिला लेखिकाओं जैसे - कृष्णासोबती, निरुपमा सेवती, उषा प्रियंवदा एवं मृदुला गर्ग आदि की उपन्यासों में भी मनोवैज्ञानिक विचारधारा को मुख्य स्थान मिला है इन महिला उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में स्त्रीमन का, उसके मानसिकत संत्रास, अकेलेपन, भय एवं दमन का चित्रण बड़े ही प्रभावशाली एवं मार्मिक ढंग से किया है। इन उपन्यास लेखिकाओं ने अपनी उपन्यास के मुख्य पात्र में अपनी संवेदनाओं को व्यक्ति किया है। इनके पात्र आत्मकेन्द्रित हैं और इन पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्दों एवं घात-प्रतिघातों का विश्लेषण इनमें हुआ है। इन उपन्यासों के पात्र समष्टिगत न होकर व्यष्टिगत हैं अत: वे अपनी विराटता की अपेक्षा लघुता में जीना चाहते हैं।

नई पीढ़ी की उपन्यास लेखिकाओं ने मानव चरित्र के स्थान पर कुण्ठा ग्रस्त व्यक्तित्व, अर्न्द्वन्द्व एवं मानसिक स्थिति का विश्लेषण किया है।'' ऐसे उपन्यासों के केन्द्रीय पात्रों के कुण्ठाग्रस्त व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले तत्वों, घटनाओं, एवं स्थितियों का सम्यक ज्ञान पा लेना ही नई पीढ़ी के पाठकों की एक जटिल लेकिन अनिवार्य समस्या है। इन लेखिकाओं के उपन्यासों का पाठक पात्रों की बदलती रुचियों, घटानानुकूल परिवर्तित

मनोग्रन्थियों तथा उसके द्वन्द्वात्मक मनोजगत की स्थितियों की सही जानकारी पाना चाहता है।''1

हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखन पश्चिमी साहित्य से प्रभावित रहा है अत: उस पर फ्रायड, युंग आदि विद्वानों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इन उपन्यासकारों ने स्त्री पात्रों के द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति को आत्म संवाद के माध्यम से बड़ी ही सहजता से अभिव्यक्त किया है। ये पात्र आज के बदलते हुए संदर्भ में नारी की परिवर्तित होती हुई मानसिकता का परिचय देते हैं। इन उपन्यासों के अधिकांश पात्र इस रूप में प्रस्तुत किए गए हैं जो किसी काम-कुण्ठा अथवा ग्रन्थि के शिकार हों। इन पात्रों का व्यक्तित्व अहं, कुंठा, छटपटाहट एवं ऊहापोह से भरा हुआ है, जिसकी सफल अभिव्यक्ति मन्नू भण्डारी के उपन्यास 'आपका बंटी' में दृष्टिगोचर होती है। इसमें लेखिका ने पात्रों के अन्तर्मन में झांकने का प्रयास किया गया है और उनकी मन: स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उपन्यास की नायिका शकुन में अहम् की प्रवृत्ति है ये प्रवृत्ति हर एक व्यक्ति में पाई जाती है, पर जब तक यह मानववृत्ति स्वाभिमान के स्तर तक रहती है तब तक तो उचित है, परन्तु जैसे ही यह अहंकार की श्रेणी में आती है वहीं से विघटन की प्रवृत्ति शुरू हो जाती है ये एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है और इस तथ्य के सार्थक चित्रण का सराहनीय प्रयास मन्नू भण्डारी कृत उपन्यास 'आपका बंटी' में हुआ है। उपन्यास की नायिका शकुन का अहम् भाव उसके दाम्पत्य जीवन के टूटन अथवा विघटन का कारण बनता है और उसका अहं भाव ही वस्तुत: उसके जीवन का अभिशाप भी सिद्ध होता है। अहं भाव से कुण्ठित नारी मन के अन्तर्द्वन्द को प्रकट करती शकुन की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य है—

''नहीं, अजय से कुछ पा सकने का दंश यह नहीं है, बल्कि दंश शायद इस बात का है कि किसी और ने अजय से वह सब कुछ क्यों पाया, जो उसका प्राप्य था। ....सच पूछा

---

1. हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नारी चरित्र-डा० राम विनोद सिंह, पृष्ठ 23.

जाए तो अजय के साथ न रह पाने का दंश नहीं है यह वरन अजय को हरा न पाने की चुभन है यह, जो उसे उठते बैठते सालती रहती है"[1] स्त्री जब अपने जीवन में किसी से पराजित हो जाती है तो अपने प्रतिद्वन्द्वी को किसी न किसी प्रकार से नीचा दिखाने की कोशिश करती है, उसे दुखी करना चाहती है, यही स्थिति उपन्यास की नायिका शकुन की भी है। उसकी मानसिक स्थिति को व्यक्त करते हुए लेखिका कहती है- "सामने वाले को पराजित करने के लिए जैसा सायास और सन्नद्ध जीवन उसे जीना पड़ा है, उसने उसे खुद ही पराजित कर दिया है। सामने वाला व्यक्ति तो पता नहीं कब परिदृश्य से हट भी गया और वह आज तक उसी मुद्रा में उसी स्थिति में खड़ी है। सांस रोके, दम साधे, घुटी-घुटी और कृतिम।"[2]

शकुन के मन की आतृप्ति, असन्तोष छटपटाहट एवं घुटन कुण्ठा का कारण बनती है और उसका मन निरन्तर मानसिक अर्न्द्वन्द्व में डूबा रहता है। एक विचित्र प्रकार का संघर्ष उसके भीतर चलता रहता है—"मन न इस बात को मानता है और न उस बात को। सही गलत की बात भी वह नहीं जानती, जानना भी नहीं चाहती..... आज अगर उसे किसी बात का अफसोस है तो केवल इसी बात का कि यह निर्णय उसने बहुत पहले क्यों नहीं लिया।"[3]

संस्कार बद्ध समाज में स्त्री जो यातना एवं तनाव की स्थिति झेल रही है उसका सजीव चित्रण महिला लेखिकाओं की उपन्यासों में स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य में हुआ है स्त्री मन की गुत्थियों का सूक्ष्म विश्लेषण इन उपन्यासों में प्रस्तुत किया गया है। मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, चित्रा मुद्‌गल एवं मृदुला गर्ग आदि महिला उपन्यास लेखिकाओं ने

---

1. आपका बंटी-मन्नू भण्डारी , पृष्ठ 39.
2. आपका बंटी-मन्नू भण्डारी अक्षर प्रकाशन - पृष्ठ-41
3. वही, पृष्ठ - 120

नारी मन की समस्याओं को तथा नारी मनोविज्ञान को नारी की दृष्टि से देखा है, जांचा है और परखा भी है। यही कारण है कि इनका प्रस्तुतीकरण अत्यन्त ही प्रभावकारी बन गया है। कृष्णासोबती के उपन्यास ",सूरजमुखी अँधेरे के" की स्त्री पात्र रत्ती में मानसिक ग्रन्थि बन गई है और वह उस मानसिक कुण्ठा से बुरी तरह से जकड़ी हुई है; यही कारण है कि वह कभी भी सम्पूर्ण स्त्री नहीं बन पाती और उसका व्यवहार एवं आचरण असामान्य बन गया है। कामजनित कुण्ठा के कारण वह कभी सन्तुष्ट नहीं हो पाती और बदला लेने की उत्तेजना के फलस्वरूप वह प्रतिक्रिया वादी बन जाती है। कृष्णा सोबती ने अपने उपयान्म 'मित्रो मरजानी' की नायिका को भी कामजनित कुण्ठा की शिकार स्त्री के रूप में प्रस्तुत किया है और यही कुण्ठा उसे पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों का विरोध करने के लिए प्रेरित करती है। मित्रो की रचना प्रक्रिया के बारे में लेखिका ने स्वयं ही कहा है कि - "पुरानी नीवों- शहतीरों को हिलाने वाला मित्रों का सा जलजला उठ ही आए तो आप ही बन जाती है मित्रों मरजानी की-सी कहानी।"[1] 'डार से बिछुड़ी' उपन्यास में भी सोबती जी ने एक स्त्री की स्थिति , यातनाओं संघर्षों एवं अन्तर्द्वन्दों का चित्रण बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उपन्यास की नायिका आत्ममंथन करती है और आत्म संवाद के माध्यम से अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को प्रगट करती हुई कहती है— "नानी झूठ नहीं कहती थी संभल कर री, इकबार का थिरका पाँव जिंदगानी धूल में मिला देगा।"[2] वह सोचती है कि उसकी जिंदगी डार से बिछुड़ गई है। डार से बिछुड़ कर जैसे पुनः डार (समाज) से जुड़ना संभव नहीं होता और समाज सुरक्षा न देकर उसकी उपेक्षा ही करता है। वह उपेक्षिता एवं अन्या बन कर ही रह जाती है।

उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यासों में स्त्री के अस्तित्ववादी मनोविज्ञान का उद्घाटन किया है। उनके उपन्यास 'रुकोगी नहीं राधिका' की नायिका अपने अस्तित्व के लिए

---

1. कृष्णासोबती - सोबती एक सोहबत, मित्रों मरजानी पृष्ठ-388.

2. कृष्णा सोबती-डार से बिछुड़ी, पृ०-101.

आद्यान्त प्रयत्नशील रहतीहै। स्वयं लेखिका के शब्दों में ''राधिका ने अपने घर में जो अकेलापन झेला है अमेरिका पहुँच कर उसकी भयावता और सघन हो उठती है। वह स्वयं को एक सांस्कृतिक शून्य में पाती है..........उसका अजनवीपन बढ़ता जाता है वह लौटना चाहती है अपने घर परिवार अपने देश अपने पिता के पास जिनसे उसे गहरा अनुराग है। वह लौटती भी है लेकिन अंशत: उसका व्यक्तित्व विभाजित हो चुका है।'' इसमें एक ऐसी स्त्री पात्र का मनोविज्ञान प्रस्तुत हैं जो स्वयं में उलझ गई है और निरन्तर अपने आस्तित्व की तलाश में है राधिका के इसी मनोद्वन्द्व को बड़े ही सूक्ष्म ढंग से लेखिका ने चित्रित करने का प्रयास इस उपन्यास में किया है।

उषा प्रियंवदा ने अपनी उपन्यासों में आधुनिक जीवन की ऊब, संत्रास, छटपटाहट और अकेलेपन को अनुभूति के स्तर पर पहचान कर प्रस्तुत किया है। इनका उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' एक भारतीय नारी की सामाजिक, आर्थिक विवशताओं से उत्पन्न मानसिक यन्त्रणा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है। उपन्यास की नायिका सुषमा छात्रावास में रहकर निरन्तर ऊब एवं घुटन का अहसास करती रहती है फिर भी उससे उसे मुक्ति नहीं मिलती और वह उनसे मुक्त पाना भी नहीं चाहती उन परिस्थितियों के मध्य जीवन व्ययतीत करना उसकी नियतिबन गई है। आधुनिक जीवन की इस विडम्बना को उषा जी ने बड़े ही सहज एवं मार्मिक ढंग से इस उपन्यास में व्यक्ति किया है कि आज के परिवेश में मन जो नहीं करना चाहता है वही करने के लिए विवश है, या विवश कर दिया जाता है। उपन्यास की नायिका इसी विडम्बना को अपनी नियति समझती है और उपन्यास के नायक नील से कहती है कि—

''नहीं नील, नहीं,'' सुषमा ने मुटिठयाँ बन्द कर सीने से भींच लीं।'' यह कालेज, ये खंभे, मेरी डेस्टिनी हैं, मुझे यहीं छोड़ दो।''[1] इस प्रकार इस उपन्यास में लेखिका ने फ्रायड

---

1. 'पचपन खम्भे लाल दीवारें'— उषा प्रियंवदा- पृष्ठ 104

के चिन्तन से प्रभावित एक अध्यापिका के संत्रस्त जीवन की अनुभूतियों का मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत किया है और इस स्थिति को उभारने का भी प्रयत्न किया है कि परिवार की दयनीय स्थिति के कारण आज की युवा चेतना अपनी आकांक्षाओं और कोमल स्वप्नों का विसर्जन कर कुण्ठित हो जाती है।

महिला उपन्यासकारों ने अपने उपसन्यासों में यथा अवसर विभिन्न सहज प्रवृत्तियों एवम् भावों का विवेचन भी किया है। उनके अनुसार काम एक सहज वृत्ति है और कामुकता उसका सम्बद्ध भाव है। मृदुला जी ने अपनी उपन्यास 'चित्तकोबरा' की भूमिका में इस संदर्भ में लिखा है—

''प्रेम के चैतन्य मन: समागम के अनुभव से गुजरते हुए दोनों पात्रों का जो आत्मोत्सर्ग होता है, उनके भाव बोध में जो सूक्ष्मता, व्यापकता और गहनता आती है, उनकी संवेदना शक्ति जिस प्रकार प्रगाढ़ होती है.....वही प्रेम का कथ्य है''[1] वे आगे कहतीं हैं कि ''शरीर सम्बन्ध के माध्यम से ही वह एकात्म मिलन प्राप्त होता है जिसमे पुन: शरीर सम्बन्ध स्थापित करने की लिप्सा स्वत: लुप्त हो जाती है। शरीर का आतंक पूरी तरह मिट जाता है। जो लोग समाज या मान-मर्यादा के डर से शरीर को जबरदस्ती मारते हैं, उसकी सहज मृत्यु या मोक्ष से कराते हैं, वे सदा के लिए प्रेम को शरीरी बनाए रखते हैं।''[2]

स्पष्ट है कि वर्तमान संदर्भ में नारी की परिवर्तित मानसिकता का परिचय मिलता है। आज की उपन्यासों के स्त्री पात्र पूर्णतया स्वतन्त्र है। उनकी समस्या वैयक्तिक है इन पर समाज का कोई बन्धन नहीं है। ये स्त्रीपात्र सामाजिक वर्जनाओं से मुक्त है तथा अपना निर्णय स्वयं लेते हैं और स्वतन्त्र सम्बन्धों को महत्व देते हैं। सम्बन्धों की एक निष्ठता को

---

1. चित्तकोबरा - मृदुला गर्ग :- पृष्ठ -6.
2. चित्तकोबरा - मृदुला गर्ग :- पृष्ठ-8-9.

इन्होंने अस्वीकारा है। इनकी मनोवृत्ति परिवर्तित हो चुकी है वह पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल रही है और आत्मनिर्भर भी है। यही कारण है कि वह पुरुष की अहंवृत्ति का शिकार नहीं होना चाहती है। इन प्रवृत्तियों का यथातथ्य वर्णन आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रभावपूर्ण ढंग से हुआ है। इस प्रकार

मनुष्य मन की सहज प्रवृत्तियों से प्रभावित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नारी मनोविज्ञान का प्रभावशाली ढंग से चित्रण हुआ है। 'चित्तकोबरा' की मनु प्रत्यक्षत: अतृप्त है और 'सूरजमुखी अंधेरे के' की नायिका कामजनित कुण्ठा का शिकार है तथा मानसिक ग्रन्थि से ग्रसित है। इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर महिला उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में मानवीय ग्रन्थि से उत्पन्न दु:ख, अमर्ष, भय, घृणा, क्रोध को यथास्थान व्यक्त किया है।

मनोवैज्ञानिक पात्रों की अवधारणा में लेखिकाओं ने सफल मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना की है। कृष्णासोबती, उषाप्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, मृदुलागर्ग, निरुपमा सेवती आदि की उपन्यासों के चरित्र ऐसे हैं जिनका निर्माण मनोवैज्ञानिक धरातल पर हुआ है। और इसमें इनके चरित्र का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रांकन भी हुआ है।

इस प्रकार स्वतन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में मध्यमवर्गीय मानव के संघर्ष, कुण्ठा एवं मानसिक द्वन्द्व का सफलतापूर्वक चित्रांकन हुआ है। इसमें जीवन को समग्रता से प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि आज के संदर्भ में जीवन सहज एवं सरल नहीं रह गया है, यही कारण है कि "स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में आधुनिक जीवन का असन्तोष, निराशा, कसमसाहट, द्वन्द्व तथा जटिलतम् स्थितियों एवं समस्याओं का व्यापक रुप अभिव्यक्त हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर स्थितियों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन लक्षित हुआ है तथा स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास में बदलते हुए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का सुन्दर उद्‌घाटन हुआ है।"[1]

---

1. हिन्दी उपन्यास समाज एवं व्यक्ति का द्वन्द्व - डा० मंजुला गुप्ता, पृष्ठ 7.

बदलते हुए जीवन संदर्भ में स्त्री की बदलती हुई मानसिकता को लेकर पूर्ववर्ती दशकों की भांति 60 एवं 70 के दशक में भी पर्याप्त लेखन हुआ है। इस प्रकार जहाँ पूर्ववर्ती लेखन में स्त्री की भावसत्ता की अवहेलना कर के उसके चरित्र को नैतिक परीक्षा के लिए खुला छोड़ दिया गया था, वहीं इन दशकों के उपन्यासों में स्त्री की भावसत्ता एवं सामाजिक वास्तविकता को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक संदर्भ में नारी मात्र देह जीवी नहीं है, अपितु वह भी सामाजिक क्रिया एवं अनुचिन्तन से प्रभावित एवं निर्मित होती है यही कारण है कि इन उपन्यासों में नारी मन एवं उसके अस्तित्व को परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों से संयुक्त कर के देखा गया है।

आज के परिवर्तित परिवेश में स्त्री पुरानी भावुकता से ऊपर उठ चुकी है तथा उसकी नैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक मान्यताओं में भी परिवर्तन आया है। सामाजिक वर्जनाओं और परम्परागत रूढियों के विरुद्ध विद्रोह तथा उसके प्रति नारी का अस्वीकार भी इन उपन्यासों में दृष्टिगोचर होता है।

निकर्षत: यह कहा जा सकता है कि इन उपन्यासों में सामाजिक परिवेश के नवीन मूल्यों, उसके अन्तर्विरोधों, उसकी विवशताओं उसकी नवीन बौद्धिकता से उत्पन्न समस्याओं एवं स्त्री–पुरुष अहं तथा उनके मध्य टकराहट आदि का विशद विश्लेषण एवं वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय - चार

हिन्दी उपन्यास लेखन एवं स्त्री विमर्श

: हिन्दी उपन्यास लेखन एवं स्त्री विमर्श:

उपन्यास साहित्य और पुरुष लेखन :

आधुनिक हिन्दी उपन्यास मूलत: हमारे समाज के मध्य वर्ग की जीवन गाथा पर आधारित है। मध्य वर्ग के जीवन की नींव एक ओर तो उसकी आर्थिक स्थिति पर टिकी है, और दूसरी ओर उसके परिवार की केन्द्र बिन्दु नारी पर। जब मध्य वर्ग पुराने एवं नवीन आदर्शों को छोड़कर, घर और बाहर के संघर्ष में आया तो हिन्दी उपन्यासों में भी एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ । यह चेतना थी-स्त्री को देखने की, उसको समझने की, उसका मूल्यांकन करने की और उसके प्रति नयी दृष्टि एवं नवीन प्रतिमानों को बनाने की। उपन्यासकारों ने जीवन गत बाह्य व्यापारों की विवेचना का सहारा लेकर नारी-चित्रण को अपने उपन्यासो में सम्पूर्णता से उभारा है । इनमें स्त्री के प्रति किए गए सामाजिक अन्यायों का विरोध खुल कर किया गया है और उन्हीं के परिपेक्ष्य में नारी के उत्थान पतन को आँका गया है।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि "हिन्दी उपन्यास का आरम्भ 'स्त्री विमर्श' से हुआ तथा आजादी -पूर्व के उपन्यासों में किसानों के बाद स्त्री की समस्याओं को ही प्रमुख स्थान मिला। इसका कारण मुख्य रूप से उपन्यासकारों का नवजागरण आन्दोलन एवं नवजागरण की चेतना से प्रभावित होना था। परन्तु तत्कालीन पुरुप उपन्यासकारों ने परम्परागत नारी संहिता अथवा पितृक प्रतिमानों के अन्तर्गत ही स्त्री के 'उद्धार' की बात की । स्त्री के पास उन पितृक प्रतिमानों को तोड़ने का कोई उपाय नहीं था। उसके पास नारी संहिता के घेरे से बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं था।"[1] परन्तु आजादी मिलने और भारतीय संविधान लागू होने के पश्चात भारतीय समाज में नारी की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। इसे

---

1. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - गोपालराय, पृ0 419

नारी सम्बन्धी नवजागरण का दूसरा चरण कहा जा सकता है। सातवें एवं आठवें दशक में स्त्री शिक्षा के प्रति अभूतपूर्व जागरूकता तो उत्पन्न हुई ही, परन्तु सबसे बड़ी घटना 'हिन्दू कोड बिल' के पारित होने के रूप में घटित हुई। इस कानून ने भारतीय नारी को सदियों से चले आ रहे अनेक आर्थिक सामाजिक और नैतिक पक्षपातों से मुक्त कर दिया। यद्यपि 'हिन्दू कोड बिल' पारित होने मात्र से समाज में नारी की स्थिति में अचानक कोई परिर्वन नहीं आया परन्तु नारी मुक्ति चेतना के विकास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है और यदि इसे 'नारी मुक्ति का प्रथम शंखनाद'' कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। इससे सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा और कालान्तर में नारी के प्रति पुरुष वर्ग की मानसिकता में पर्याप्त परिवर्तन आया और साथ ही नारी में भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता में वृद्धि हुई। फलस्वरूप आज स्त्री निरन्तर अपने अधिकारों के प्रति सजग एवं संघर्षरत है और इस प्रकार समाज में नारी की स्थिति में जिस प्रकार अनेक मोड़ आए उसी प्रकार साहित्य में भी स्त्री की स्थिति में अनेक परिवर्तन आए हैं। आज नारी का अपने अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष जारी है और इस संघर्ष में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

समाज में नारी अपने अस्तित्व अधिकारों एवं अस्मिता के लिए जो संघर्ष कर रही है उसकी प्रभावशाली एवं सजग अभिव्यक्ति हिन्दी उपन्यास साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य के विश्लेषण से नारी की स्थिति में आया परिवर्तन बड़े ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आजादी के बाद के दशकों में प्रबुद्ध उपन्यासकारों द्वारा नारी की पीड़ा एवं उसके अन्तर्मन का विश्लेषण अत्यन्त ही संवेदनपूर्ण ढंग से किया गया है। यशपाल ने अपने उपन्यास 'मनुष्य के रूप' (1949) में पुरुष प्रधान समाज में नारी के भोग्या रूप की नियति का संवेदनशील चित्रण किया है। 'झूठा सच' (1958-60) में भी उन्होंने स्त्री की विवशता को बड़े ही सशक्त ढंग से वर्णित किया है। यशपाल ने अपनी उपन्यासों में नारी की समस्या को प्रमुखता से उठाया है। इन्होंने नारी

समस्या को व्यवस्था और पुरुष प्रधान समाज के शोषण के विरुद्ध राजनीति से सम्बद्ध कर व्यवस्था की असमान विनिमय प्रणाली तथा खोखले ढाँचे को गिराने के लिए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है और आन्दोलन को प्रेरित किया है तथा सामाजिक कार्यों में स्त्री के समानाधिकार और आर्थिक स्वतंत्रता की मांग की है। नारी समस्या को उठाते हुए वे कहते हैं - "पूँजीवादी और सामन्ती समाज में नारी भोग विलास की वस्तु हैं, जिस पर पुरुष का पूरा आधिपत्य है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व और गौरव नहीं है। उसका अस्तित्व किसी की पुत्री, श्रीमती और माता बनने में है।"[1] परिवार पर पुरुष का अधिकार औरआर्थिक पराधीनता के कारण ही नारी शोषित है अत: उपन्यास के स्त्रीपात्र दिव्या, तारा आदि ऐसी नायिकाएं हैं जो अपने अधिकार और स्वतंत्रता के लिए पुरुष प्रधान समाज एवं व्यवस्था दोनों से ही संघर्ष करतीं हैं।

इस दशक के उपन्यासों में नारी के अंतर्मन के विश्लेषण का कार्य प्रमुख रूप से हुआ है। इन उपन्यासकारों ने नारी स्वरूप के अंकन में मनोविज्ञान के महत्वपूर्ण अन्तश्चेतनावादी दृष्टिकोण का सहारा लिया है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, एवं अज्ञेय के उपन्यासों में नारी मनोविज्ञान का सूक्ष्म अंकन हुआ है। इन उपन्यासकारों के स्त्रीपात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि "ये नारियाँ स्वाभाविक रूप से वास्तविक जीवन के निकट हैं तथा ये स्त्रीपात्र परिस्थिति एवं नैतिक धैर्य के कारण सामान्य से असामान्य नारियाँ बन गईं हैं। धैर्य एवं साहस के साथ वास्तविक जीवन को इन्होंने स्वीकारा है और उसे अशेष भाव के साथ प्रकट किया है।"[2] स्त्री विमर्श का पूर्ण रूप से मूल्यांकन करने के लिए इन नारीपात्रों का समग्र रूप से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है।

---

1. बात-बात में बात - यशपाल, पृ0 55

2. हिन्दी उपन्यासों में नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण - डा0 विमल सहस्त्रबुद्धे आमुख से

जैनेन्द्र, जोशी और अज्ञेय युगीन कलाकार हैं। जिन्होंने नारी की मानसिक और बौद्धिक शक्ति का परिचय दिया है। इनके उपन्यासों में नारी के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण को दूर करके उसके बदले हुए मानसिक भावों को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रकट किया गया है। इनके उपन्यासों में नारी विवाह बन्धन के भीतर रहकर अपनी प्रेममयी प्रवृत्ति को कुण्ठित करने के लिए तैयार नहीं है। ये स्त्रीपात्र अपने स्वरूप पर विचार करने वाले हैं और ये नारियाँ अपनी समस्याओं का समाधान आत्मघात या हत्या में नहीं, अपितु समस्त सामाजिक रूढ़ियों को ठुकरा कर करती हैं। इन उपन्यासकारों की उपन्यासों में नारी के बाह्य की अपेक्षा उसके अंतरंग को परिलक्षित किया गया है। इन उपन्यासों में नारी का अन्तर्जगत, उसकी आन्तरिक वृत्ति, उसका अवचेतन मन, उसकी प्रेमाभिव्यक्ति एवं उसकी कुण्ठा आदि को बड़ी ही सहजता के साथ मनोवैज्ञानिक ढंग से उभारा गया है। ये नारीपात्र अपने यथार्थ रूप को पहचान कर नैतिक-अनैतिक सामाजिक बन्धन एवं संस्कृति आदि के नाम पर जटिल सीमाओं को ठुकराकर नवीन चेतना के, सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकारों के प्रति विचारशील और प्रयत्नशील रहे हैं। यही कारण है कि जैनेन्द्र के नारी पात्रों का स्वरूप प्रेमी और पति, प्रेम और कर्तव्य, नैतिक स्वतंत्रता और वैवाहिक बन्धन के मध्य संघर्ष करता रहता है।

इलाचन्द्र जोशी ने अपनी उपन्यासों में सहनशील, आत्मपीड़न से पूर्ण त्यागमयी नारी के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। अज्ञेय के उपन्यासों में नारी स्वभावत: प्रेम के प्रति भावातुर है, कोमल हृदया और उदार है। उसके अन्तर्मुखी बन जाने का यह भी एक प्रमुख कारण है कि उसे आर्थिक एवं सामाजिक रूढ़ियों की चिन्ता नहीं है।

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' (1948) 'बलचनमा', 'नयी पौध' आदि उपन्यासों में जीवित रहते हुए भी मृत प्राय जीवन जीने की पीड़ा सहन करती हुई विधवाओं, अशक्त बूढ़ों के साथ विवाह-बन्धन में बाँध दी जाने वाली आठ, दस वर्ष की बालिकाओं और कौलीन्य के नाम पर किसी भी उम्र के पुरुष के साथ विवाह-बन्धन में बाँध दी जाने वाली

अनेक बालिकाओं के जीवन से जुड़ी नियति का अंकन अत्यन्त ही मार्मिक एवं संवेदन पूर्ण ढंग से किया है। भैरव प्रसाद गुप्त ने भी ' गंगा मैया', 'सत्ती मैया का चौरा' आदि उपन्यासों में सामंती व्यवस्था के अंतर्विरोधों के मध्य नारी की नियति तथा सभी वर्गों में समान रूप से नारकीय स्थितियों से गुजरती स्त्री के नियति चक्र की कथा प्रस्तुत की है।

छठे दशक में रेणु ने अपने उपन्यास 'मैला आंचन', में लक्ष्मी के चरित्र के रूप में मठों में महन्तों द्वारा स्त्री के देह-शोषण का अंकन किया है । इसमें गनेश की नानी के रूप में किसी असहाय स्त्री को 'डायन' घोषित कर उस पर किए जाने वाले अमानवीय अत्याचार का भी अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है। मिथिलेश्वर ने भी अपने उपन्यास ''युद्ध स्थल'' में अन्धविश्वास के कारण स्त्री को डायन घोषित कर उसे जीने के अधिकार से वंचित कर दिए जाने का संवेदनापूर्ण अंकन कर इस समस्या को विस्तृत फलक प्रदान किया है। अमृत लाल नागर के उपन्यास ''बूँद और समुद्र '' ''अमृत और विष'' में भी स्त्री विमर्श को नवीन दृष्टि मिली है। इनमें सामन्ती मूल्यों में जकड़ी नारी की विवशता, संत्रास, कुण्ठा, घुटन, उत्पीड़न, शोषण और उससे मुक्ति के लिए उसके संघर्ष का प्रस्तुतीकरण हुआ है। उन्हीं के उपन्यास ''नाच्यो बहुत गोपाल'' में स्त्री के शारीरिक उत्पीड़न और दलित स्त्री की नारकीय जीवन का चित्रण वड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है।

सातवें दशक में कुछ उपन्यासकारों ने समाज में स्त्री के प्रति होने वाले अत्याचार और उत्पीड़न का गहरी संवेदनशीलता के साथ वर्णन किया है। राजेन्द्र यादव ने ''सारा आकाश'' में मध्यवर्गीय परिवारों में नववधुओं को दी जाने वाली यातना का चित्रण प्रभावशाली ढंग से किया है। नरेश मेहता ने भी अपने उपन्यास ''यह पथ बन्धु था'' एवं ''उत्तर कथा'' में सरो और दुर्गा की संघर्षपूर्ण जीवन गाथा के रूप में मध्यवर्गीय परिवारों मे असहाय एवं विवश जीवन व्यतीत करने वाली भारतीय स्त्री के पारिवारिक शोषण, अत्याचार और उत्पीड़न का हृदयान्दोलित कर देने वाला मार्मिक चित्रण किया है, साथ ही भारतीय नारी में नारी मुक्ति चेतना एवं नारी जागरण के फलस्वरूप आ रहे परिवर्तन की

झाँकी भी इन स्त्री पात्रों के चरित्र में परिलक्षित होती है। जीवन संघर्ष में पराजित हो जाने वाली सरो से भिन्न दुर्गा विश्वास, धैर्य सहनशीलता, सदाशयता और चट्टानी दृढ़ता की सजीव मूर्ति के रूप में पाठकों के समक्ष आती है।

सातवें दशक में ही शैलेश मटियानी ने 'चिट्ठीरसैन', 'चौथी मुट्ठी', 'मुख सरोवर के हंस', 'एक मूठ सरसों' आदि उपन्यासों में पहाड़ी अंचल की स्त्री की पीड़ा को अत्यन्त मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है। मटियानी ने नारी की अभिशप्त नियति का बहुत ही मार्मिक अंकन किया है और अपने उपन्यास के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि स्त्री का शारीरिक उत्पीड़न केवल पति ही नहीं, अपितु धर्म-रक्षा के ठेकेदार और असामाजिक तत्व भी करते हैं। पंकज विष्ट के 'उस चिड़िया का नाम' और क्षितिज शर्मा के 'उकाव' उपन्यास में पहाड़ की स्त्रियों के दयनीय जीवन और पुरुष समाज द्वारा उसके शोषण का चित्रण किया गया है। 'उकाव' की नायिका श्यामा का अपनी मुक्ति के लिए परिस्थितियों से संघर्ष, उसकी दुर्धर्ष जीवनी शक्ति और अपने लक्ष्य पर पहुँचने की आकांक्षा आज की उभरती नारी चेतना का परिचायक है।

स्त्री शिक्षा के प्रचार और प्रसार के फलस्वरूप पढ़ी लिखी स्त्रियों के स्वावलम्बी होने को प्रक्रिया के साथ उनके जीवन में जो अनेक नयी समस्याएं आईं हैं उनका भी इन उपन्यासों में व्यापक रूप से वर्णन हुआ है। पहले लड़कियों के विवाह की कोई समस्या नहीं थी। जैसे तैसे माता पिता उनका विवाह कर ही देते थे, चाहे बाद में उनके भाग्य में जो हो। परन्तु शिक्षा और नौकरी द्वारा आर्थिक रूप से स्वावलम्बन के कारण लड़कियाँ अधिक वय तक अविवाहित रहने लगीं हैं। विवाह पूर्व प्रेम और काम-सम्बन्ध की स्थितियाँ भी उत्पन्न होने लगीं हैं और साथ ही समाज के संस्कार, जाति-धर्म से सम्बद्ध रूढ़ियाँ और मान्यताएं, तिलक-दहेज की प्रथा और परम्परागत नारी आचरण के पितृक प्रतिमान ज्यों के त्यों विद्यमान रहे । पढ़ी-लिखी नौकरी पेशा स्त्रियों के समक्ष भी अनेक समस्याएं आईं। इन परस्पर विरोधी स्थितियों के द्वन्द्व से ग्रस्त उच्च शिक्षित कन्याओं की मानसिकता एवं आन्तरिक अंतर्द्वन्द्व का अंकन सातवें दशक के उपन्यासों में प्रभावपूर्ण ढंग से हुआ है।

मोहन राकेश का उपन्यास 'अंधेरे बन्द कमरे' में आधुनिक परिस्थितियों में पति-पत्नी की समस्या को एक नये कोण से उभारने की कोशिश की गई है। इस उपन्यास में परम्परागत हिन्दू समाज में पति का चेतन मन पत्नी को कुछ बनाने के लिए प्रयत्न शील है किन्तु अहंवादी मन में बैठे हुए पुराने संस्कार उसे रोकतें हैं। औसत पति आज भी पत्नी पर अपना पूरा अधिकार मानता है और पत्नी अपने पति की अनुगता होना अपना धर्म मानती है। दाम्पत्य जीवन का यह सन्तुलन तब बिगड़ता है, जब स्त्री अपने पति की तुलना में अधिक या उसके समान योग्य हो जाती है। मोहन राकेश ने इन्हीं परिस्थितियों में 'अंधेरे बन्द कमरे' उपन्यास में नीलिमा और हरबंश के दाम्पत्य जीवन की कड़ुवाहट, घुटन एवं उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का अंकन किया है। गिरिराज किशोर ने 'तीसरी सत्ता' उपन्यास में स्त्री के शिक्षा सम्पन्न और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने पर दाम्पत्य सम्बन्ध में आने वाली उन जटिलताओं का चित्रण किया है, जहाँ पति पत्नी को अपनी 'वस्तु' समझता है और उसके चरित्र पर शक करना तथा उसे शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित करना अपना अधिकार समझता है। कमलेश्वर के उपन्यास 'डाकबंगला' में भी उपन्यास की नायिका इरा का जीवन विमल के शक के कारण ही त्रासदी पूर्ण हो जाता है। लक्ष्मी कान्त वर्मा ने अपने उपन्यास 'टेराकोटा' में नारी जीवन की विसंगतियों का मार्मिक अंकन किया है। "प्रस्तुत उपन्यास आधुनिक शिक्षित नारी की अभिशप्त नियति को सारी तिक्तता के साथ उभार सका है। उषा प्रियंवदा कृत 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा जहाँ पूर्णतया टूटी हुई प्रतीत होती है, वहाँ मिति भीतर से टूटी है, परन्तु साथ ही अनेकों को बनाने का अहसास उसके व्यक्तित्व को दृढ़ आधार प्रदान करता है।"[1]

सातवें दशक से ही हिन्दी उपन्यास में आधुनिक स्त्री के नैतिक संकट, दाम्पत्य जीवन में सामंजस्य की समस्या आदि का चित्रण किया गया है। इस दशक के उपन्यासों में

---

1. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा० पारूकान्त देसाई पृष्ठ 51

ऐसी स्त्री का चित्रण होने लगता है जो शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने पर भी पुरुष की संस्कार जन्य कुण्ठाओं की शिकार होती है पुरुष उसे अपनी वस्तु समझता है और उसके चरित्र पर शक करता है। यह स्त्री शिक्षा के विकास और संस्कारजन्य मूल्यों के संघर्ष का अनिवार्य परिणाम था क्योंकि उच्चतर शिक्षा ने स्त्रियों को न केवल स्वावलम्बी बनाया है, अपितु उन्हें अपनी अस्मिता और अधिकारों के प्रति जागरूक भी बनाया है। यही कारण है कि उनमें परंपरागत नारी संहिता और संस्कारों के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न हुआ है राजेन्द्र यादव के प्रायः सभी लघु उपन्यासों में प्रेमऔर दाम्पत्य जीवन का द्वन्द्व किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'तुम्हारी रोशनी' में, स्त्री की अस्मिता से जुड़े प्रश्नों को गम्भीर संवेदनशीलता और तर्क के साथ प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास की स्त्री पात्र सुवर्णा जीवन को खुशी का पर्याय मानती है और इस खुशी को प्राप्त करने के लिए वह परंपरागत दाम्पत्य मूल्यों की भी परवाह नहीं करती। मिथिलेश्वर का उपन्यास 'यह अंत नहीं' स्त्री विमर्श को नयी दृष्टि प्रदान करता है। उपन्यास की केन्द्रीय चरित्र चुनिया है जो अत्यन्त साहसिक एवं नवीन तेवर से युक्त स्त्री है और विद्रोह एवं प्रतिकार का प्रतीक भी। उसमें शक्ति है, स्वाभिमान है, और अन्याय का जमकर मुकाबला करने एवं संघर्ष करने का साहस भी। वह समझदार है और अवसर आने पर दुश्मन को दबोचकर बदला लेने का अचूक हौसला भी रखती है। वह किसी असामाजिक ताकत को अपने ऊपर अत्याचार नहीं करने देती । वह स्त्री होकर किसी के हाथ का खिलौना नहीं बनना चाहती। वह स्त्री होकर पूर्ण मानवी बनती है और स्त्री विमर्श का नये मूल्यों एवं नये प्रतिमानों के साथ नवीन आयाम प्रस्तुत करती है।

आठवें दशक के समाप्त होते-होते स्त्री विमर्श हिन्दी उपन्यास का एक प्रमुख विषय बनता दृष्टिगोचर होता है। पुरुष उपन्यासकारों ने तो इस विषय को बड़ी ही संजीदगी के साथ उठाया ही है साथ ही महिला उपन्यास लेखन में भी इस कथ्य को यथार्थ वाणी मिली है तथा इस विषय को केन्द्र में रखा गया है। ''विष्णु प्रभाकर के उपन्यासों में नारी

नियति की त्रासदी का बड़े ही सशक्त ढंग से अभिव्यक्तिकरण हुआ है। उनके उपन्यासों में नारी कहीं परित्यक्ता होने की, कहीं विधवा होने की, कहीं तिलक-दहेज की प्रथा के कारण मनोनुकूल पति न पाने की कहीं बचपन में हुए शारीरिक उत्पीड़न एवं बालात्कार से उत्पन्न शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा झेलने की और कहीं विवाह के पश्चात असामाजिक तत्वों के अत्याचार का शिकार हो जाने पर पूरें समाज की घृणा का पात्र बनने की पीड़ा को झेलती हुई अपनी ही मानसिक कुण्ठा से ग्रस्त हो जाती हैं। वह पति के मन में गाँठ पड़ जाने की त्रासदी, उत्पीड़न और उपेक्षा की शिकार हो निरन्तर मानसिक एवं शारीरिक उत्पीड़न वहन करती है।''[1] स्त्री विमर्श के मूल्यांकन की दृष्टि से विष्णु प्रभाकर का '' कोई तो'' तथा ''अर्धनारीश्वर'' उपन्यास प्रमुख है इसमें नारी उत्पीड़न की समस्या को उठाया है। अपने उपन्यास ''कोई तो'' में उन्होंने नारी नियति के प्रश्नों को गम्भीरता से उठाया है। इस उपन्यास की नायिका मध्यवर्गीय परिवार की है, जो धर्म, जाति, यौन शुचिता, पुरुष की अनुदार और भोगवादी दृष्टि, स्त्री की शारीरिक कमजोरी गर्भ धारण की विवशता आदि से नियन्त्रित एवं नारी संहिता से परिचालित होती है। इस उपन्यास में लेखक ने स्त्री विमर्श के अन्तर्गत नारी स्वातन्त्र्य एवं नारी मुक्ति चेतना को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया है और जागरूकता उत्पन्न करते हुए यह संदेश देने की कोशिश की है कि ''आधुनिक नारी में पारंपरिक नारी संहिता को नकारने, आर्थिक स्वावलम्बन के साथ स्वतंत्र जीवन जीने, अपना जीवन साथी स्वयं चुनने या अविवाहित जीवन व्यतीत करने तथा पुरुष मानसिकता को चुनौती देने का साहस होना चाहिए।[2] ''अर्धनारीश्वर'' उपन्यास में विष्णु प्रभाकर ने अत्याचार की शिकार स्त्री की सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक समस्याओं तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जटिलता का संवेदनात्मक अंकन किया है साथ ही इस उपन्यास में पितृक

---

1. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय, पृ० 424
2. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय, पृ0 424

प्रतिमानों यथा- पितृक मूल्यों, अवधारणाओं, सीमाओं, नैतिकताओं एवं मर्यादाओं से परिचालित सम्पूर्ण नारी नियति का विश्लेषण करने का भी प्रयास किया गया है।

उपन्यासकारों ने आधुनिक युग में नारी के प्रति समाज के परिवर्तित दृष्टिकोण को भी अपनी उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है। स्त्री स्वयं अपने अस्तित्व, अपनी अस्मिता एवं अपने अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्षरत है। जीवन के प्रत्येक मोड़ पर वह अपने उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करती दिखाई देती है। समाज के पुराने पड़ चुके मूल्यों, रूढ़ियों एवं परम्पराओं को उसने अस्वीकारा है और कुछ नया करने के लिए वह निरन्तर प्रयासरत भी है। आज की नारी अपनी लड़ाई लड़ने के लिए संकल्प शक्ति से युक्त हो रही है, किन्तु अभी भी यह लड़ाई व जागरूकता आम्भिक दौर में ही है और आज भी उसका उत्पीड़न एवं शोषण हो रहा है बस उसके रूप बदल गए हैं।

आठवें दशक के बाद की उपन्यासों में स्त्री विमर्श का उत्तरोत्तर विकास होता गया और इनमें स्त्री विमर्श को एक नवीन दृष्टि एवं नवीन आयाम प्रदान किया गया है। यद्यपि ये उपन्यास विवेच्य कालावधि के बाद के हैं परन्तु स्त्री विमर्श को पूर्ण रूप से विश्लेषित करने के लिए इनका संक्षेप में विश्लेषण करना मैं अत्यन्त आवश्यक समझती हूँ। राजकिशोर द्वारा लिखा उपन्यास ''तुम्हार सुख'' आधुनिक नारी की त्रासदी और उसके संकल्प का एक प्रमाणिक दस्तावेज है। इसमें लेखक ने एक ऐसी नारी की नियति का चित्रण अपनी सशक्त भाषा एवं संवेदनशील शैली में किया है जो एक रूढ़ समाज से टकराते हुए और स्वयं को भावात्मक स्तर पर लहूलुहान करते हुए अपने अस्तित्व को नये सिरे से परिभाषित करती है। इस दशक के उपन्यासों में स्त्री विमर्श को एक नवीन आयाम प्रदान करते हुए यह विवेचित करने का प्रयास किया गया है कि विवाह, पति और संतान से अलग भी औरत का अस्तित्व है। स्त्री का जीवन सिर्फ ''पुरुष की तलाश'' नहीं है उसकी स्वयं की भी सार्थकता है। अरुण प्रकाश के उपन्यास ''कोपल कथा'' में दहेज समस्या की त्रासदी को उजागर किया गया है तथा समाज की तमाम परिस्थितियों को उनकी जटिलता और पेचीदगियों के साथ उठाया गया है।

सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास ''मुझे चाँद चाहिए'' स्त्री विमर्श को एक नया क्षितिज प्रदान करता है इसमें स्त्री पात्र वर्षा के संघर्ष की कथा गंभीर पीड़ा बोध संजीदगी और कलात्मक संयम के साथ प्रस्तुत की गई है। यह उपन्यास मुख्य पात्र मध्यवर्गीय रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार की एक लड़की के, 'यशोदा पाण्डेय' से वर्षा वशिष्ट तक की यात्रा तथा स्त्री के संघर्ष औरविद्रोह का असाधारण उदाहरण प्रस्तुत करती है। उपन्यास की नायिका एक महत्वाकांक्षी लड़की है जो परंपरागत व्यवस्था के आचरण सम्बन्धी सम्पूर्ण मान्यताओं को अस्वीकार करती हुई और बाधाओं से संघर्ष करती हुई, आर्थिक आत्मनिर्भरता और शक्ति अर्जित करती है। उसका संघर्ष जितना बाह्य और व्यवस्था विरोधी है उतना ही निजी और आन्तरिक भी है। अनब्याही माँ के दायित्व को वह जिस गर्व के साथ स्वीकार करती है, वह अनोखा है। 'यशोदा पाण्डेय' का वर्षा वशिष्ठ में रूपान्तरण मध्यवर्गीय भारतीय नारी के अत्याधुनिक नारी में रूपान्तरण की विश्वसनीय कथा है।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में स्त्री के तीन रूप दिखाई पड़ते हैं अपने पहले रूप में वह सदियों से चलती आ रहे शोषण और अत्याचार की शिकार है, दूसरे रूप में वह नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न हुई समस्याओं से संघर्षरत दिखाई देती है और तीसरे रूप में वह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने, परंपरागत नारी संहिता की जकड़न को चुनौती देने और राजनीतिक दृष्टि से सबलीकरण की दिशा में अग्रसर होने के लिए संघर्ष रत है। इन उपन्यासों में पाठकों का साक्षात्कार ऐसे स्त्री पात्रों से होता है जो अपने समक्ष उपस्थित चुनौतियों को दृढ़ता के साथ स्वीकार करतीं हैं और अपने किसी निर्णय के लिए पुरुष की आश्रित नहीं हैं प्रश्न चाहे जीवनसाथी चुनने का हो या कार्यक्षेत्र चुनने का, वे अपना निर्णय खुद लेतीं हैं। सजग आत्मचेतना और अत्मनिर्णय से युक्त हो कर वे न केवल सामन्ती परिवेश और रूढ़-मर्यादाओं के गढ़ को तोड़तीं हैं, बल्कि सकारत्मक ढंग से अपने व्यक्तित्व की रचना भी करतीं हैं।

उपन्यास साहित्य एवं महिला लेखन :

स्वातन्त्र्योत्तर महिला उपन्यास लेखन के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता के बाद का सम्पूर्ण स्त्री लेखन स्त्री-मुक्ति और अस्मिता के पहचान के संघर्ष की महागाथा है। वास्तव में महिला लेखन एक व्यापक व्यक्ति चेतना और सामाजिक चेतना के रूप में विकसित हुआ जिसमें उनके जीवन का साक्ष्य है। स्त्री लेखन में कलाकर्म की अपनी विशिष्टताएं, विलक्षणताएं, चुनौतियाँ, संघर्ष, अनुभव और कल्पनाएं होती हैं जो पुरुष संसार से भिन्न होती हैं। गुणवत्ता एवं परिणाम दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी की महिला उपन्यासकारों का उपन्यास साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध है। इसमें उसके जीवन यथार्थ के अनेक रूपों का उदघाटन हुआ है। महिला लेखन में स्त्रियों ने स्वयं को ढूँढने के प्रयास में अपने जीवन के अंधेरे कोने और जटिलाओं का साहित्य लिखा, जिसके कारण स्त्री लेखन को विडम्बनाओं, अंतर्विरोधों और पितृक समाज की चुनौतियों का भी सामना करना पड़ा और इसे "दोयम दर्जे का सतही लेखन" जैसी आलोचना का भी शिकार होना पड़ा। मगर इसके बावजूद स्त्री लेखिकाएं पूरी निर्भीकता साहस एवं प्रखरता के साथ अपने यथार्थ एवं अनुभवों को वाणी देती हुईं स्त्री लेखन को विशिष्ट एवं विलक्षणता प्रदान कर रहीं हैं।

स्त्री लेखन अपनी निर्भीकता एवं पितृसत्तात्मक समाज के अंतर्विरोधों, विडम्बनाओं एवं दोहरे नैतिक मूल्यों को सामने लाने के कारण आलोचनाओं का शिकार होता रहा है। इतना ही नहीं बहुत सी ऐसी महिला लेखिकाएं हैं जो स्वयं भी पितृसत्तात्मक नैतिक मूल्यों का समर्थन करती हुई उसका विरोध करने का साहस नहीं कर पातीं। स्त्री विमर्श को समुचित आयाम प्रदान करने वाले कृष्णा सोबती के लेखन को पढ़ कर यद्यपि वास्तविकता का अहसास तो होता है मगर उनके द्वारा उठाये गये प्रश्न, चुनौतियाँ, संघर्ष एवं साहस को जीवन में उतारने में बहुत ही कठिनाई का अनुभव होता है। कृष्णा सोबती की प्रशंसा करना और बात है, उनकी विचारधारा को सही कहना भी और बात है; लेकिन उन रास्तों पर चलना, संघर्ष करना, अमानवीय शक्तियों के विरूद्ध डट कर खड़े होना, जोखिम उठाना

बड़ा ही कठिन कार्य है। उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श को विस्तृत आयाम प्रदान करने वाली लेखिकाओं में कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी आदि ऐसी उपन्यास लेखिकाएं हैं जिनके लेखन में सही स्त्री दृष्टि, स्त्री–संघर्ष, चुनौतियाँ एवं विडम्बनाएं व्यक्त हुईं हैं । इन महिला कथा लेखिकाओं ने केवल सम्बन्धों का ही चित्रण नहीं किया है, अपितु स्त्री की स्थिति, दशा, भूमिका एवं संघर्ष का भी प्रस्तुतीकरण प्रभावपूर्ण ढंग से किया है। स्त्री लेखन में स्त्री के भोगे हुए यथार्थ का चित्रण हुआ है यही कारण है कि स्त्री लेखन में पुरुष लेखन की अपेक्षा भोगे हुए अनुभव की गहराई दृष्टिगोचर होती है। आज का स्त्री विमर्श तीसरे चौथे दशक के महादेवी वर्मा के उस चिंतन से प्रभावित दिखाई देता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्री लेखन में स्त्री विमर्श की यथार्थ एवं मौलिक अभिव्यक्ति हुई है। उनका मानना है कि– ''पुरुष के द्वारा स्त्री का चरित्र अधिक आदर्शवादी बन सकता है, परन्तु अधिक सत्य नहीं; विकृति के अधिक निकट पहुंच सकता है, यथार्थ के अधिक समीप नहीं, पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परन्तु नारी के लिए अनुभव । अतः वह अपने जीवन का जैसा सजीव चित्रबद्ध हमें दे सकेगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरांत ही शायद दे सके।''[1] महिला लेखन के क्रम में कृष्णा सोबती की उपन्यास 'मित्रो मरजानी' से स्त्री चेतना की कहानी शुरू हुई तथा एक नवीन चेतना का विकास हुआ और मन के उद्वेग, हलचल एवं रिश्तों के तोड़–फोड़ का साहित्य रचा गया। आर्थिक स्वावलम्बन से भी वह अपने अस्तित्व एवं अस्मिता की स्थापना करने में समर्थ न हो सकी और उसकी समझ में यह आ गया कि परंपरागत नारी संहिता के अन्तर्गत दी गई भूमिका के इतर किसी भी भूमिका को निभाने में उसकी ऊर्जा अवरोधों को लाँघने में ही समाप्त हो जाती है। इसी समय जीवन यथार्थ से स्त्री की एक नवीन छवि निर्मित हुई। एक तरफ राष्ट्रीय स्तर पर परिवर्तित होती राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना और दूसरी ओर इस परिवर्तित होती स्थितियों से

1. श्रृंखला की कड़िया – महादेवी वर्मा : पृ0 85

उत्पन्न दबाव। यथार्थ अनेक स्तरों पर विकसित हुआ और गाँव व नगर की, परिवार एवं समाज की सीमाएं टूटीं। विकास के क्रम में परिवर्तित मान्यताओं और मूल्यों के दो ध्रुवों पर खड़ी स्त्री का अन्तर्विभाजन उसके लेखन और समाज की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति है । स्त्री लेखन परिस्थितियों में बदलाव और उससे उत्पन्न जीवन यथार्थ के विकट प्रश्नों से संघर्ष करता है।

सातवें आठवें दशक में जीवन की गति में जो तीव्रता आई, स्थितियों में जो परिवर्तन आया तथा परंपरा और ऐतिहासिक छवियों के टूटने और टूटने की वेदना से निर्मित जो भाव दृष्टि बंनी; उसकी अभिव्यक्ति स्त्री लेखन में अत्यन्त ही प्रभावपूर्ण ढंग से हुई है। मानवीय रिश्ते भावात्मक दलदल से बाहर निकले, नैतिकता की धुंध छंटी तथा महिला लेखन द्वारा पुरुषों की श्रेष्ठता एवं वर्चस्व को चुनौती दी गई । अपने स्वतंत्र अस्तित्व की तलाश में स्त्रियों ने विवाह की अवधारणा पति-पत्नी संबंधों और स्त्री-पुरुष के रिश्तों को पुन: परिभाषित करना प्रारम्भ किया। पश्चिमी जीवन शैली के अनुकरण के कारण समाज में जो मिश्रित सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना विकसित हुई उसने स्त्री मानस एवं स्त्री लेखन को सर्वाधिक प्रभावित किया।

स्वतंत्रता के पश्चात कृष्णा सोबती, शशि प्रभा शास्त्री, मन्नू भण्डारी, निरुपमा सेवती उषा प्रियंवदा, मालती जोशी, राजी सेठ, इन्दु जैन इत्यादि के बाद की पीढ़ी जिनका जन्म स्वतंत्रता के आस पास हुआ, इसमें सुधा अरोड़ा, मृदुला गर्ग, मंजुल भगत, सुनीता जैन, अर्चना वर्मा, कुसुम अंसल, मेहरुन्निसा परवेज, मैत्रेयी पुष्पा प्रभा खेतान इत्यादि लेखिकाएं हैं। इसके बाद की पीढ़ी अनामिका क्षमा शर्मा, कात्यायनी, तेजी ग्रोवर, अलका सारावगी इत्यादि लेखिकाओं का प्रतिनिधित्व करती है। कृष्णा सोबती की उपन्यास ''ऐ लड़की'' के माध्यम से इस समय दो ही नहीं अपितु तीन पीढ़ियाँ आमने सामने हैं। आज का स्त्री लेखन नये विचार और नयी जीवन दृष्टि को ग्रहण करता है। इसमें स्वायत्तता प्राप्त प्रखर और प्रबुद्ध नारी पात्रों की सृष्टि हुई है, जो अपने निर्णय स्वयं लेने की क्षमता रखतीं हैं। जो अपने

सुख और इच्छा को वर्जनामुक्त होकर स्वीकार करती हैं। इनकी स्त्रियाँ अवसाद और द्वन्द्व से विरत नवीन चेतना से युक्त मानवी मात्र हैं । ये स्त्री पात्र अति साधारण परन्तु सामंतवादी मानसिकता के विरोध में ख़ड़ी होकर अपनी स्वतंत्रता को अपने ढंग से परिभाषित करते हैं।

सातवें एवं आठवें दशकों में स्त्रियों द्वारा लिखे गये उपन्यास जहाँ त्रस्त्र और त्रासद जीवन का एवं प्रताड़ित और पीड़ित जीवन का यथार्थ हैं वहीं उनमें भावी जीवन के विविध रूपों और सत्यों का भी उद्घाटन हुआ है। इन उपन्यासों में परम्परावादी पितृक समाज में स्त्री जीवन के गहरे अनुभवों और समाज के कुचक्रों तथा षडयन्त्रों में जकड़ी नारी की व्यथा का वर्णन है। इनमें स्त्री मन की जटिल ज्यामिति और परंपरागत सामाजिक संरचना में स्त्री जीवन की विसंगतियों को उदघाटित किया गया है यथा- समाज में स्त्री को ''सुखीभव'' का आर्शीवाद तो दिया जाता है परन्तु घर के समस्त सुख और वैभव के मध्य उसका अपना सुख शामिल नहीं होता । मेहरुन्निसा परवेज, कुसुम अंसल, निरुपमा सेवती के उपन्यासों में ऐसी ही स्त्री के संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है ।

मेहरुन्निससा परवेज का उपन्यास ''कोरजा'' और ''उसका घर'' तथा निरुपमा सेवती का उपन्यास ''पतझड़ की आवाजें'' में नारी होने की सार्वभौम छटपटाती वेदना का मनोविश्लेषणात्मक एवं सामाजिक चिन्तन है। पति की मृत्यु के पश्चात उसे भुलाने की पीड़ा सहती हुई जीवनोन्मुखता की ओर जाती ''तत्-सम'', की वसुधा को राजी सेठ ने विवेक के स्थान पर आनन्द को चुनने का भावनापरक एवं तर्कसम्मत अवसर दिया। इन उपन्यास लेखिकाओं ने दूसरों द्वारा चुने हुए एवं थोपे हुए जीवन साथी के साथ विवाह का निर्वाह करने की लाचारी को समाप्त करने का विचार पूरी दृढ़ता के साथ अपनी रचनाओं में स्थापित किया है। अपने वरण के बाद भी दाम्पत्य जीवन में सामन्जस्य स्थापित न होने पर तलाक लेने की छूट का औचित्य भी महिला लेखन में सामने आया है। भावुकता को छोड़कर तलाक के बाद, बच्ची तक को पति को सौंप देने का तटस्थ निर्णय कान्ता भारती

के उपन्यास 'रेत की मछली' की नायिका कुंतल ने आठवें दशक में ही ले लिया था। नारी लेखन की सजगता का प्रमाण यह है कि मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यास ''उसके हिस्से की धूप'' में स्त्री का वह पक्ष भी दिखाया, जिसमें उसके ''पति को छोड़कर प्रेमी और उसे छोड़ कर पुनः पूर्व पति के पास आने की मनीषा की उतावली भरी अपरिपक्वता भी आई। इस प्रकार नारी स्वतंत्रता के दुरूपयोग से बचने की चेतावनी वाली चेतना भी नारी लेखन में स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है।''[1] मृदुला गर्ग के सभी उपन्यासों में आधुनिक नारी की जटिल मानसिकता और अस्मिता का संधर्ष देखा जा सकता है।

महिला लेखिकाओं द्वारा अपने ''स्व'' से अलग होकर वृहद सामाजिक एवं राजनीतिक उपन्यासें भी लिखी गईं हैं। मन्नू भण्डारी के उपन्यास 'महाभोज' में राजनीतिक सत्ता के षडयन्त्र, वोट प्राप्त करने की वीभत्स राजनीति, पुलिस गुण्डागर्दी और निरंकुशता तथा भ्रष्ट व्यवस्था का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। मृदुला गर्ग का उपन्यास ''अनित्य'' स्वाधीनता आन्दोलन की एक नयी व्यवस्था करता है।

इस प्रकार स्वतंत्रता के पश्चात पूरे काल खण्ड में महिला-लेखन में एक विलक्षण सृजनात्मक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसमें काव्य और शिल्प दोनों स्तरों पर नये मुहावरे की तलाश हुई है। स्त्री की नयी सोच, नयी जीवन दृष्टि , नये मूल्य और नये भाव बोध इस साहित्य की पहचान बने।

महिला लेखन के द्वारा हिन्दी उपन्यास साहित्य में नवीन दिशाओं एवं चिन्तन का विकास हुआ है। सर्व प्रथम यह विकास मातृत्व की दिशा में दृष्टिगोचर होता है। मातृत्व जिसे अब तक स्त्री की गरिमा, उसके स्त्रीत्व की पहचान और साथ ही उसकी विवशता बनाकर चित्रित किया गया था, आज स्त्री ने मातृत्व के लिए विवाह की संस्था को

---

1. हिन्दी उपन्यास : समकालीन विमर्श, डा0 सत्यदेव त्रिपाठी, पृ0 24

अस्वीकार करके अपने मातृत्व की क्रान्तिकारी स्थापना की है। वह इसे पश्चिमी संस्कार नहीं मानती, अपितु इसे महाभारत के स्त्री पात्रों की सोच की ही परम्परा में अनुमोदित करती है। उसने देह ही नहीं विमर्श को भी अपना गुण माना । इसी भाव से अनुप्राणित हो कर उसने सामाजिक वर्जनाओं से मुक्ति का साहित्य रचा। आज स्त्रियों ने अपने साहित्य में सदियों की चुप्पी को तोड़ा है। लोक साहित्य की तेजी, ईमानदारी और तीखे गम्भीर तेवर साहित्य में भी दृष्टिगोचर होते हैं। स्त्री का अनुभव मात्र विचार की आँच में तप कर विमर्श तक नहीं पहुँचा है अपितु उसके भीतर की हलचल ने समाज की सतह पर भी कंपन किया है। महिला लेखन में दी गई निश्चित भूमिका, दाम्पत्य, मातृत्व, घर और पति से अलग जीवन को भी अर्थ प्रदान किया गया है।

महिला लेखन एक तरह से स्त्री की अस्मिता की खोज का लेखन कहा जा सकता है। आज की आत्मचेता स्त्री ने अपनी रचना धर्मिता द्वारा अपनी अस्मिता को ही स्थापित किया है । महिला लेखन आज आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच से विकसित नयी चेतना का संवाहक है। जिसमें वह स्त्री से व्यक्ति या मांनवी बन सकी है। सामाजिक अस्वीकार और आत्मस्वीकार के दो ध्रुवों के मध्य वह अपने स्त्री होने को नये सिरे से परिभाषित करती है।

सातवें एवं आठवें दशक में स्त्री की छवि एवं भूमिका में जो व्यापक परिवर्तन आया है उसकी सफल अभिव्यक्ति महिला उपन्यास लेखन में हुई है। आज बढ़ते बाजार वाद ने स्त्री को सबसे अधिक प्रभावित किया है। आपसी रिश्तों में संवेदनशीलता का सर्वत्र अभाव दृष्टिगोचर होता है। आज की स्त्री की दुविधाएं बढ़ रहीं हैं। जिस इतिहास , संस्कृति, जीवन दृष्टि और जीवन शैली को वह नकारती है, साहित्य उन्हीं के बीच में रचा जाता है। उसने पुराने मिथकों ''सीता'', ''अहिल्या'' आदि को तोड़ा है एवं ''द्रोपदी'' के मिथक के समीप स्वयं को पहचाना है। व्यक्ति वादी चेतना, अहं और महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने की दौड़ में वह शामिल हो गई है। महिला उपन्यासकारों ने ऐसे स्त्री पात्रों की सृष्टि

की है जो अपने सुख और स्वार्थ तथा इच्छा और अनच्छिा की शर्तों पर जीवन जीतीं हैं। महिला लेखन में अकेलेपन और निर्वासन की पीड़ा को झेलती हुई स्त्री की स्थिति का भी चित्रण हुआ है एवं सामाजिक उपेक्षा ग्रस्त उलझे रिश्तों में जीने की व्यथा को भी अभिव्यक्ति मिली है। जीवन में ऊँचे पद पर पहुँच कर भी परिवार एवं समाज की अवहेलना सहने को विवश नारी जीवन का चित्रण इस समय की उपन्यासों में बड़े ही संवेदन शील ढंग से हुआ है।

महिला उपन्यास लेखन में अनेक ऐसे स्त्री पात्रों का सृजन हुआ है जो अपना निर्णय स्वयं लेती हैं। अनचाहे पति से तलाक लेती हैं । दूसरे पुरुषों से सम्वन्ध बनाती हैं अपनी इच्छा से गर्भ धारण करती हैं और बच्चे को जन्म देती हैं तथा उसके पालन पोषण का अकेले उत्तरदायित्व भी संभालती हैं। ''दहकन के पार'', ''पतझड़ की आवाजें'', ''मित्रोमरजानी'', ''उसके हिस्से की धूप'' आदि उपन्यासें इसका उदाहरण हैं।

आज के महिला लेखन का यही सांस्कृतिक संक्रमण अपनी धुरी पर स्थिर रहकर सामाजिक शक्तियों से लड़ने एवं बदलने के अपने आकांक्षाओं को स्त्री पात्रों में पूरा करता हैं। महिला लेखन स्त्री के विमर्श शील जीवन का उद्घोष है । उपन्यास साहित्य में स्त्री लेखन द्वारा यह प्रश्न भी उठाया गया है, कि स्त्री स्वयं नये विचार, संस्कार एवं मिश्रित संस्कृति से कितनी लाभान्वित हुई है। क्या उसके विचार विमर्श एवं तर्क वितर्क ने जीवन और लेखन के मध्य की खाई को कम किया है? पति पत्नी के मध्य, परिवार एवं समाज के मध्य नवीन समीकरणों का साहित्य निर्माण कर वह स्वयं कहाँ खड़ी है? यह सत्य है कि रचना धर्मिता ने उसे बनाया है, उसमें नयी स्फूर्ति का संचार किया है, उसे शक्ति एवं स्वायत्तता दी है, परन्तु क्या यह सार्वभौम सत्य है? महिला लेखन जो पितृ सत्ता के विरोध में खड़ा है वह कहाँ तक स्वयं के साथ न्याय कर पा रहा है ? आज की उपभोक्ता वादी संस्कृति का सबसे बड़ा संकट उसी के समक्ष है। शरीर से व्यक्ति वनने के सारे संघर्ष में आज वह फिर से देह बनने को विवश हो रही है, अन्तर सिर्फ इतना है कि पहले इसमें पुरुष की इच्छा प्रमुख थी पर आज उसकी स्वयं की इच्छा प्रमुख है।

इस प्रकार महिला कथा लेखन ''नारी की स्थिति और गति'' पर अधिक केन्द्रित रहते हुए उसमें पर्याप्त गम्भीरता तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों एवं रूपों के चित्रण में एक हद तक व्यापकता ला सका है। विवेच्य कालावधि के बाद भी अर्थात आठवें दशक के बाद के महिला लेखन में भी नवीन तेवर के साथ स्त्री विमर्श को अभिव्यक्त किया गया है। परन्तु इसे अभी भी बहुत से प्रश्नों को सुलझाना है, बहुत सी चुनौतियों का सामना करना है एवं बहुत सी मंजिलें तय करनी हैं। अतः आज का महिला लेखन महत्वपूर्ण तो है ही उपेक्षणीय वह किसी भी काल में नहीं रहा, आज तक जो महिला लेखन हुआ है, वह निश्चित ही बहुत संभावना पूर्ण है।यह लेखन अपेक्षाएं भी जगाता है और उनकी पूर्ति का विश्वास भी दिलाता है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में यह कहना कि ''इस समय तो सारा कथा क्षेत्र प्रायः नारियों के हाथों में है।'' और पंकज विष्ट के शब्दों में कि ''आज के लेखन का मुख्य स्वर आश्चर्य जनक रूप से महिलाएं हैं''। तो अत्युक्ति नहीं होगी।

अध्याय - पाँच

प्रमुख महिला उपन्यासकारों की औपन्यासिक कृतियों में स्त्री विमर्श का मूल्यांकन

: प्रमुख महिला उपन्यासकारों की औपन्यासिक कृतियों में स्त्री विमर्श का मूल्यांकन :

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास विधा को समृद्ध करने में महिला उपन्यास लेखन का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। नारी होने के कारण इन लेखिकाओं ने पुरूषों से भी अधिक सूक्ष्म चित्रांकन अनेक संदर्भों में किया है। महिला उपन्यासकारों ने में नारी की अस्मिता की तलाश बड़ी ही गहराई से की है और स्त्री - अस्मिता को एक नई पहचान देने के साथ-साथ हिन्दी उपन्यास की संवेदना और अनुभव के दायरे को भी बढ़ाया है। नारी के परम्परागत मध्ययुगीन स्वरूप की जगह आधुनिक नारी की सामाजिक स्थिति को महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

उपन्यास साहित्य में महिला उपन्यासकारों ने उपन्यासों के माध्यम से अपनी अस्मिता तथा लेखकीय पहचान स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। ये उपन्यास लेखिकाएं ज्यादा आक्रामक भाव से स्त्री की अलग अस्मिता, स्त्री की पहचान, स्त्री की शक्ति स्त्री के संघर्ष एवं स्त्री से जुड़े हुए अनेक प्रश्नों का विश्लेषण अपनी रचनाओं में करती हैं। इन्होंने 'पुरूष लेखन ' के मुकाबले 'स्त्री लेखन' को अधिक प्रभावशाली और असरदार ठहराने की कोशिश भी की है। उपन्यास साहित्य में उन्नीस सौ साठ के बाद का समय महिला रचनांधर्मिता के विस्फोट के रूप में जाना जाता है। इस दौर में स्त्री कथाकारों ने अत्यन्त शक्तिशाली उपन्यास लिखे हैं जिनमें से बहुतों को 'कालजयी' कहा जाए तो असंगत न होगा। इन उपन्यासकारों की रचनाओं ने बीसवीं शताब्दी के उपन्यास लेखन की निश्चित तस्वीर प्रस्तुत करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

इन महिला लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में स्त्रियों को दुनियाँ के जिन भीतरी - बाहरी तकलीफों और छटपटाहट को अभिव्यक्ति दी है, वैसा इससे पहले न कभी संभव

हुआ था और न कभी सोचा ही गया था। स्त्रियाँ ही सम्भवत: स्त्री जीवन के उन भीतरी अंधेरों में जा सकती थी और ऐसी मार करने वाली भाषा में उनकी यंत्रणाओं और बेड़ियों के बारे में लिख सकती थीं। पुरुष अगर उनके बारे में लिखता, तो शायद उसकी भाषा में उतना जोर, उतनी कशिश न होती।

स्त्रियाँ जिस तरह घर और बाहर विभिन्न क्षेत्रों में अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रही हैं, उनके वे समस्त अनुभवों का पूरी मार्मिकता के साथ उपन्यासों में प्रस्तुतीकरण हुआ है।

इन उपन्यासों में स्त्री संवेदना को एक बनी बनाई लीक को तोड़ने के साथ साथ नई परम्परा का भी निर्माण हुआ है। ये ऐसे उपन्यास हैं, जिसमें स्त्रियों ने अपने हिस्से के दर्द और मुश्किलों के बारे में खुद लिखा है और पूरी तल्खी, तेजी और तेवर के साथ । इसमें स्त्री का संघर्षशील रूप दृष्टिगोचर होता है। अभी तक का महिला लेखन, स्त्री के दुखों का बखान था लेकिन इस समय के लेखन में स्त्री के संघर्ष और विद्रोह की कहानी शुरू हो गयी थी, जिसे पुरुष लेखन उतनी साहसिकता, प्रमाणिकता और तीखेपन के साथ प्रस्तुत नहीं कर सकता था।

चूँकि "उपन्यास का विषय है व्यक्ति। यह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध व्यक्ति के संघर्षों का महाकाव्य है"[1] अत: महिला उपन्यास लेखन में स्त्री जीवन की समस्याओं एवं संघर्षों का व्यापक प्रस्तुतीकरण हुआ है तथा स्त्री मुक्ति चेतना के प्रति नवीन दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया गया है। यहाँ कुछ ऐसे ही महिला उपन्यासकारों की सृजनशीलता से गुजरने का उपक्रम है –

---

1. उपन्यास ओर लोकजीवन , रैल्फ फाक्स –अनुवाद नरोत्तम नागर, पृ0 28

: कृष्णा सोबती :

कृष्णा सोबती हिन्दी की एक ऐसी सशक्त नारीवादी लेखिका हैं जिन्होंने अपने लेखन में स्त्री की बदलती हुई स्थिति, उसकी यातनाओं एवं संघर्षों को स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने उपन्यास लेखन में पूरी प्रमाणिकता, संवेदनशीलता एवं साहस के साथ नारी के एकांत संघर्ष यातना और अस्मिता काा यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है।

''इनके लेखन में स्त्री की एक अलग ही छवि उभर कर सामने आई है। स्त्री की एक ऐसी छवि जो आज तक हाशिए पर ही रही है। --- 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रों मरजानी', 'ऐ लड़की', 'सूरजमुखी अँधेरे के', कृतियों में उनकी नारीवादी चेतना प्रखर रूप में उभर कर सामने आई है --- कृष्णा सोबती के उपन्यासों में औरत कतरा कतरा जिंदगी जीती, पिसती अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करती है'' उसके साथ अमानवीय व्यवहार होता रहा है। स्त्री के प्रति हिंसक, अमानवीय, बर्बरता पूर्ण व्यवहार को कृष्णा सोबती ने अपनी लेखनी में दिखाया है तथा इसके लिए पितृक सत्ता को दोषी ठहराया है जो उसके प्रति हिंसक दृष्टिकोण रखता आया है।[1]''

कृष्णा सोबती के लेखन पर अपना विचार व्यक्त करते हुए राकेश कुमार कहते हैं कि ''कृष्णा सोबती का लेखन स्त्री की यथास्थिति के खिलाफ अपनी मानवीय स्त्रीत्ववादी भूमिका तो निभाता ही है। वह स्त्री को यथास्थितिवाद से बाहर निकालने वाला, उसकी मुक्ति की तलाश करने वाला, उसमें साहस और निर्भीकता पैदा करने वाला, उनकी मुक्ति की कामना करने वाला स्त्रीत्ववादी लेखन है।''[2]

---

1. नारी वादी विमर्श – राकेश कुमार पृ0 206

2. नारीवादी विमर्श – राकेश कुमार – पृ0 208, 209

वस्तुत: कृष्णा सोबती वैयक्तिक मूल्यों की उपन्यास लेखिका हैं इनकी उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का सूक्ष्म विश्लेषण है।

''आज के संदर्भ में बनते बिगड़ते मूल्यों के संघर्ष को कृष्णा सोबती के उपन्यासों में सहज अभिव्यक्ति मिली है। अत्यन्त सशक्त और सार्थक भाषा तथा मौलिक शिल्प प्रयोग के कारण उपन्यासकारों में उनका विशेष स्थान है।[1]

''कृष्णा सोबती बहुत कम लिखती हैं और इसे ही वो अपना साहित्यिक परिचय मानती हैं।''[2]

स्त्री विमर्श की दृष्टि से इनके प्रमुख उपन्यास निम्न हैं :-

डार से बिछुड़ी : 'डार से बिछुड़ी' कृष्णा सोबती का प्रथम उपन्यास है। इसकी नायिका पाशो है। लेखिका के द्वारा ''कई उतार चढ़ाव तथा मोड़ों को पार करते हुए पाशो के जीवन में आये मार्मिक प्रसंगों का चित्रण बड़ी सहजता से प्रस्तुत किया गया है। संभवत: पंजाब की किसी पुरानी लोकगाथा या किंवदन्ती के आधार पर इस आंचलिक उपन्यास की रचना की गई है।''[3] उपन्यास की नयिका पाशो पुराने संस्कारों में जकड़े रहने के कारण स्वयं को परिवेश से कटी हुई पाती है। उपन्यास की नायिका पाशो की माता ने शेख जाति के एक भद्र सज्जन को स्वेच्छा से पति बना लिया है और अपने क्षत्रिय भाइयों के जाति गौरव का अपमान किया हैं, जिसका परिणाम अनेक दु:ख सहकर पाशो को भोगना पड़ता है। पाशो एक जगह से हट कर दूसरी जगह जम नहीं पाती है कि पुरुषों की

---

1. बहुचर्चित उपन्यास और उपन्यासकार - पृ0 27
2. मित्रो मरजानी - कृष्णा सोबती मुख्य पृष्ठ
3. आजकल पत्रिका, मई 1960 पृ0 42

कामुकता का शिकार हो जाती है। उसके जीवन में दीवान जी, बरकत और मंझले, एक के बाद एक आते हैं परन्तु उसे प्यार किसी का भी नहीं मिल पाता । उपन्यास का परिवेश मुसलमानों और फिरंगियों में जंग का है, जिसमें उसका हर मालिक मर जाता है। वह फिरंगियों के शोषण का भी शिकार होती है। अंत में वह अपने परिवार से मिल तो जाती है, पर उसका मान सम्मान, सुख सुहाग यहाँ तक कि बच्चा भी छिन जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में परम्परा में जकड़ी पाशो के दुखमय कथा के माध्यम से स्त्री के यातना युक्त जीवन के सजीव रूप का चित्रांकन हुआ है । इस उपन्यास में स्त्री के निर्मम शोषण को उकेरा गया है कि किस प्रकार स्त्री के लिए परिवार एक खुली दासता है। जहाँ वह नियमों, कानूनों, सिद्धान्तों, रीति रिवाजों परम्पराओं के नाम पर पिसती है। वहाँ कठोर अनुशासन, नियम एवं बन्धन हैं, जिनमें वह बंधी हुई है और जिन्हें वह रीति रिवाजों के नाम पर भोग रही है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने "पाशो के रूप में ऐसी लड़की का मार्मिक चित्रण किया है जो अर्धसामन्तवादी समाज में बार-बार बेची जाती है। अन्त में वही लड़की एक ऐसे परिवार में बेच दी जाती है जहाँ वह 'द्रोपदां' बना दी गई है, अर्थात उस वृद्ध महिला के चार पुत्रों की पत्नी। उसी में वह स्वयं को गहरे अंधेरे कुएं में लटकती 'लज्ज' के समान पाती है जिसे बार-बार उसमें से निकाला, उतारा, चढ़ाया जाता है।"[1] उपन्यास यहाँ आकर पाठकीय संवेदना को हिला एवं झकझोर देता है। उसके करुण वाक्य दिल को दहला देने वाले हैं कि उसका कोई घर नहीं है। वह केवल एक देह है । खरीदने और बेचने की वस्तु की तरह। अस्तित्व हीन, अस्मिताहीन औरत।

---

1. नारीवादी विमर्श - राकेश कुमार - पृ0 211

निःसन्देह उपन्यास के ऐसे अंश बेहद मर्म स्पर्शी, संवेदनशील हैं जिनको स्त्रीत्व वादी परिप्रेक्ष्य से ही पढ़ना संभव है। अब वह एक नये नाम से संबोधित है और उसका वास्तविक नाम भी छीन लिया गया है तथा उसे नया सांस्कृतिक अर्थों से भरा प्रतीकात्मक नाम दे दिया गया है। यह नाम हैं 'द्रोपदां'। यह एक नाम ही नहीं है. अपितु सांस्कृतिक वर्चस्ववाद में पितृसत्तात्मक समाज का चिन्ह, प्रतीक भी है जिसे वहन कराने के लिए उस अनाम स्त्री को 'द्रोपदी' की भूमिका निभाने के लिए तैयार किया गया है। इस नाम करण में लेखिका ने उसकी उत्पीड़ित स्थिति को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है। उसकी स्थिति का बोध उसके आत्म संवाद से हो जाता है—

"नानी झूठ न कहती थी - एक बार का थिरका पाँव जिन्दगानी धूल में मिला देगा। सच होके निकली नानी की वाक्वाणी।"[1] उसे लग रहा था जैसे वह डार से बिछुड़ गयी है । डार से बिछुड़ कर जैसे पुनः डार (समाज) से जुड़ना संभव नहीं होता ठीक उसी प्रकार स्त्री की भी समाज में वही स्थिति है। समाज उसको सुरक्षा न देकर उसकी घनघोर उपेक्षा करता है। वह उसे सीता सावित्री न बनाकर उसे 'द्रोपदी' ही बना डालता है। यह एक सच्चाई है जिसका संकेत लेखिका ने इस उपन्यास में किया है।

मित्रो मरजानी : यह कृष्णा सोबती का दूसरा उपन्यास है। उपन्यास की नायिका सुमित्रावन्ती अर्थात मित्रो मरजानी एक चुनौती के रूप में प्रस्तुत की गई है। मित्रो पंजाब के एक मध्यम वर्गीय सभ्य परिवार में बहू बन कर आती है, पर बहू बने रहने के तौर-तरीके उसे सख्त नापसन्द हैं। उसका उन्मुक्त व्यक्तित्व उन दीवारों से कहीं अधिक ऊँचा और पारदर्शी है, जिन्हें परम्परावादी ईंट गारे से खड़ा किया गया है। वह परम्परा से चले आ रहे नियमों और रूढ़ियों को स्वीकार नहीं कर पाती। कृष्णा सोबती के शब्दों में "मंझली बहू ने

---

1. डार से बिछुड़ी - कृष्णा सोबती, पृ0 117

ऐसा सब कुछ नहीं किया। बड़ी-बड़ी भूरी आँखें घरवाले का सामना किए रहीं।''[1] मित्रो मरजानी के रूप में जो निर्भई और वाचाल किन्तु साथ ही साथ कोमल तथा बेझिझक चरित्र का निर्माण कृष्णा सोबती ने किया है, वह सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास साहित्य में अनूठा है। मित्रों कोमल, वाचाल, बेलौस किन्तु फिर भी स्नेहमयी नारी के रूप में प्रस्तुत की गई है। उसके मानसिक संघर्ष और आन्तरिक द्वन्द्व को लेखिका ने मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। ''यह न तो रवीन्द्र की अश्रुमयी नारी है और न शरत् या जैनेन्द्र की विद्रोहिणी गृहणी। उसे न किसी आदर्श का मोह है और न समाज तथा ईश्वर का भय। उसके लिए किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं है। वह मात्र मांस-मज्जा से बनी एक नारी है जिसमें स्नेह भी है, ममता भी; माँ बनने की हौंस भी और एक अविरल बहती वासना-सरिता भी।''[2]

मित्रो एक ऐसी नारी की कहानी है जिसमें यौवन की अमिट प्यास है ढोंग और पाखण्ड वह नहीं जानती है और न ही उसमें सतियों का सा बल है, वह बेझिझक कह देती है ''सच तो यूँ जेठ जी कि दीन दुनिया विसार मैं मनुष्य की जात से हंस खेल लेती हूँ, झूठ यूँ कि खसम का दिया राजपाट छोड़ मैं कोठे पर तो नहीं जा बैठी।''[3]

मित्रों केवल काम पीड़ित नारी नहीं है। वह अपनी हद तक, हद के दर्जे तक सच्ची है । पाखण्ड से वह सख्त नफरत करती है। परिवार की इज्जत बचाने के नाजुक मौके पर वह घर की मदद करती हुई कहती है- '' यह दमड़ी दान परवान करो, लाल जी! कौन इस नाँवें के बिना मित्रो की बेटी कँवारी रह जायेगी?''[4]

---

1. मित्रों मरजानी - कृष्णा सोबती, पृ0 10-11
2. हिन्दी लघु उपन्यास - घनश्याम मधुप पृ0 172
3. मित्रो मरजानी - कृष्णा सोबती पृ0 39
4. मित्रो मरजानी - कृष्णा सोबती पृ0 53

मित्रो अपने व्यक्तित्व को बिखरने नहीं देती है। उसका प्रेम वासना में परिणत हो जाता है। वह नारी के सभी पुराने बिम्बों को चुनौती देती है । मित्रो में वह सब है जो किसी भी नारी में हो सकता है। फर्क इतना ही है कि मित्रो उसे छिपा नहीं सकती - छिपाना उसे आता नहीं। उसमें उदात्तीकरण भावना के स्तर पर भी नहीं, और भाषा के स्तर पर भी नहीं; इतनी हद तक मित्रो निराली हैं। उसकी ऊँचाई या उदात्तता का बोध तब होता हैं जब बालो और मित्रो की मानसिकताएं एक दूसरे से टकरातीं हैं और टकराकर मित्रो का निरालापन निखर आता हैं। मित्रो की मानसिकता एक झटके के साथ दूसरी दिशा ग्रहण कर लेती है और उसकी प्रवृत्तिगत वासना श्रद्धायुक्त शन्ति की उदात्त लहरों में सम्मिलित हो जाती है और मित्रो मानवी बन जाती है। मित्रो में आया यह परिवर्तन प्रवृत्तियों की राहों से गुजरने के बाद हुआ है इसी लिए यह परिवर्तन स्वाभाविक एवं सार्थक प्रतीत होता है।

उपन्यास के संदर्भ में डा0 पुरूषोत्तम दुबे का कहना है कि ''मित्रो मरजानी वैयक्तिक उपन्यास है। कृष्णा सोबती ने इस कृति में यह दर्शाया है कि 'क़ाम' पुरूष हो या स्त्री दोनों के लिए समान रूप से महत्व पूर्ण समस्या है।''[1] इस प्रकार कृष्णा सोवती ने ''मित्रो के रूप में एक ऐसी नारी हिन्दी उपन्यास साहित्य को दी है जो समर्पित होते हुए भी ग्रहण की आकांक्षा रखती है। मित्रो वास्तव में 'समर्पित' और 'गृहीत्वा' दोनों ही है,''[2] अतः मित्रो मरजानी हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक महत्वपूर्ण आधुनिक उपन्यास हैं।

सूरजमुखी अंधेरे के :

कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' एक बद्धमूलक मानसिक ग्रन्थि का उपन्यास है। इस उपन्यास में कृष्णा सोबती स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की पारम्परिक लीक को

---

1. व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास - डा0 पुरूषोत्तम दुबे पृ0 379

2. आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ डा0 नरेन्द्र मोहन पृ0 130

तोड़ती हुई नजर आती हैं। उपन्यास की नायिका रिक्तिका अर्थात रत्ती का सोचना एवं उसका अन्तर्द्वन्द्व सम्बन्धों के लिए — सम्बन्धों की लोक के बाहर है। प्रेम जैसे रोमेंटिक शब्द का उसके निकट कोई उपयोग नहीं।

लेखिका इस उपन्यास में "एक नवीन शिल्प शैली और कथ्य को लेकर आती है । परम्परागत नारी-मुद्रा के खिलाफ नारी-मन का स्वतन्त्र , कुछ-कुछ स्वच्छन्द सा आलेखन कृष्णा जी के लेखन की एक पहचान सा बन गया है।"[1]

डा0 मंजुला गुप्ता के अनुसार "स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में स्त्री पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध और यौन अतृप्ति से पीड़ित नारी की मनोग्रन्थियों से प्रेषित व्यवहार को चित्रित करने वाला कृष्णा सोबती कृत 'सूरजमुखी अँधेरे के ' एक बहुचर्चित उपन्यास है।"[2] इसमें अतृप्ति के कारणों और नारी के असामान्य व कठोर व्यवहार के मध्य नारी समस्या को उभारने का प्रयास किया गया है। यहाँ नारी के तन-मन की चाह को व्यक्तिगत जीवन के संदर्भ में व्यक्त किया गया है। "इस उपन्यास में शिक्षित, आधुनिक, कामकाज करने वाली एक ऐसी लड़की की कहानी है, जिसके फटे वचपन ने उसके सहज भोलेपन को असमय चाक कर दिया है और उसने तन-मन के गिर्द दुश्मनी की कँटीली बाड़ खींच दी है। अन्दर और बाहर की दोहरी दुश्मनी में जकड़ी रत्ती की लड़ाई, मानवीय-मन की नितान्त उलझी हुई चाहत और जीवट भरे संघर्ष का दस्तावेज है, गहन संवेदना के स्तर पर तन मन की साँवली प्यास है।"[3]

---

1. हिन्दी लघु उपन्यास - डा0 घनश्याम मधुप पृ0 176
2. साटांत्री हिन्दी उपन्यास - डा0 पालकान्त देसाई पृ0 40
3. सूरजमुखी अंधेरे के - कृष्णा सोबती - आवरण पृ0

उपन्यास की नायिका रत्ती अपने आप में संकुचित है सिमटी हुई है, वह अपने जीवन में सहज नहीं है। कृष्णा सोबती ने इस उपन्यास में आधुनिक मानवीय संत्रास पूर्ण स्थिति में जीने की समस्या को प्रस्तुत किया है। डा0 भागीरथ बड़ोले का कहना है कि "रत्ती अपने अतीत से आतंकित हो कर वर्तमान में निरन्तर भटक रही है। उसके सम्मुख कोई लक्ष्य नहीं है, वैसे वह उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल अवश्य हैं। इसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं है, सामाजिक विकृतियाँ ही उत्तरदायी हैं।"[1] नायिका सामन्जस्य के साथ साथ आतंक का निवारण भी चाहती है। अपने प्रति कई पुरुषों का आकर्षण जानकर भी वह उनकी ओर नहीं बढ़ती अपितु ग्रन्थिग्रस्त होकर अपनी ही विवशता में घुटती रहती है।

स्त्री पुरुष सम्बन्धों के बारे में उसमें जड़ता व्याप्त है क्योंकि "वह खुद सिर्फ है। उसका तीखापन कडुआपन सब मर गए हैं। वह फीकी है। एक फीकी औरत। एक लड़की, जो कभी लड़की नहीं थी। एक औरत जो कभी औरत नहीं थी।"[2] उसका वीराना पन, कुण्ठा, उखड़ापन, अलगाव व अतृप्ति इन पंक्तियों में प्रत्यक्ष हो उठती है— "जिस सड़क का कोई किनारा नहीं- रत्ती वही है। वह आप ही अपनी सड़क का डैड-एण्ड है, आखिरी छोर है।"[3] अत: "रत्ती कोइ औरत नहीं । वह सिर्फ गीली लकड़ी है। जब भी जलेगी धुँआं देगी।"[4]

रत्ती स्वयं को अतीत की कटु स्मृतियों से उबार नहीं पाती और— "हर बार कहीं पहुँच सकने की न मरने वाली चाह और हर बार वीरान वापसी अपनी ओर हर बार" उसकी विवशता को प्रगाढ़ करती है।

---

1. स्वातन्त्र्योत्र हिन्दी उपन्यास में मानव मूल्य एवं उपलब्धियाँ - डा0 भागरीथ बड़ोले - पृ0 77

2. सूरजमुखी अँधेरे के - कृष्णा सोबती पृ0 11

3. वही, पृ0 11

4. वही, पृ0-18

रत्ती को बस रत्ती का इन्तजार था - 'यह पथरीली अहल्या आड़ी खड़ी चट्टान की तरह, हर बार की टकराहट से न पिघलती है, न टूटती है। न छोटी होती है, न बड़ी।''[1] वह अधूरी ही रहती है ''रत्ती के अंधेरे नकार से नहीं, आत्म करुणा से नहीं, अपितु वंचित हो जाने की उस सपाट स्थिति से उभरें हैं, जहाँ जिन्दगी में ट्रेजडी हो जाने का नाटकीय बोध तक नहीं।''[2]

कृष्णा सोबती ने रत्ती को अपने अन्तस और बाह्य-दोनों ही स्थितियों से संघर्ष करते हुए दिखाया है। प्रत्येक पुरुष को नकारना उसका अपने आप से एक विद्रोहात्मक द्वन्द्व है दिवाकर के समक्ष वह कहती है कि -''मैं तो खोने को जानती हूँ, पाने की मुझे पहचान नहीं रही।''[3] यह व्यथा उसे सालती रहती है, दिवाकर के साहचर्य में उसमें विश्वास उत्पन्न होता है और उसे लगता है कि उसका शाप धुल गया है।''[4] किन्तु वह जबरदस्ती अपना सत्य किसी पर स्थापित नहीं करना चाहती और दिवाकर से विवाह नहीं करती। वास्तव में ''रक्तिका के वर्तमान से उसके अतीत को अलग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अतीत की ही वर्जनाएं अनुभव पूर्णता के अन्तिम अनुभव में, अर्थात वर्तमान के अनुभव में टूटतीं हैं।''

रत्ती की चाह और तृप्ति व्यक्तिगत स्तर पर महत्वपूर्ण है डा0 सुभद्रा के अनुसार ''दिवाकर से 'होड़' लेकर, शाप धुलवाकर भी व्यक्तिगत धरातल पर और समाज के धरातल पर वह अब भी 'शापिता' है।''[5]क्योंकि समाज के धरातल पर उसकी उपलब्धि शून्य के

---

1. वही, पृ0-90
2. सारिका - अक्टूबर 1973, पृ0-43
3. सूरजमुखी अंधेरे के - कृष्णा सोबती, पृ0-115
4. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा डा0 परमानन्द श्रीवास्तव, पृ0-149
5. हिन्दी उपन्यास परंपरा और प्रयोग : डा0 सुभद्रा, पृ०-341.

बराबर है उसकी लड़ाई अपने अस्तित्व की लड़ाई है। इसलिए वह अधिक संवेदन शील हो गई हैं।

वैयक्तिक स्तर पर रत्ती अपने अन्तस से जूझती हुई मन के अंधेरे से द्वन्द्व करती हुई अपने अस्तित्व को अखण्डित बनाने का प्रयास करती है क्योंकि ''आकाश में घरौंदे नहीं बनते, आकाश में धरती के फूल नहीं खिलते- नहीं उगते तो बस नहीं उगते।''[1] और वह आकाश के शून्य में अर्थात एकाकी पन के घरौंदे में सिमट आती है। डा0 इन्द्रनाथ मदान इस उपन्यास को 'संभोगीय कोटि में एक नए अंदाज को लिए हुए [2]मानते हैं।

यह कृति मानवीय मन के अंधेरों और सन्नाटों का दस्तावेज है जिसमें वह निरन्तर स्वयं से लड़ती है। वह औरत के एकान्त के अन्तर्द्वन्द्व को प्रस्तुत करती हैं। समाज द्वारा दिये गये दंश और यातना के बीच निर्मित ग्रन्थिग्रस्त कण्ठित, नकारात्मक, त्रस्त नारी-व्यक्तित्व की स्वयं से संघर्ष करने के संदर्भ में इस उपन्यास की विशेष प्रासंगिकता है। उपन्यास की नायिका रत्ती अंधेरे की सूरजमुखी है, जो घने अंधेरों से संघर्ष करते करते लहुलुहान हो चुकी है। सम्बन्धों की लीक को तोड़ती-तोड़ती यद्यपि वह अपमानित हो रही है, लेकिन अपनी अस्मिता की खोज की तीव्र आकांक्षा उसमें है और वह अपने स्वत्व व अस्मिता के प्रश्नों को लेकर निरन्तर संघर्ष शील है।

उषा प्रियंवदा

आधुनिक महिला उपन्यासकारों में उषा प्रियंवदा का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है। अंग्रेजी तथा हिन्दी साहित्य पर पूर्ण अधिकार तथा देश-विदेश का अनुभव उनकी अपनी

---

1. सूरजमुखी अंधेरे के : कृष्णा सोबती, पृ० 126.

2. हिन्दी उपन्यास : पहचान ओर परख इन्द्र नाथ मदान पृ0-102.

निजी निधि है। इन्होंने आधुनिक नारी जीवन की विसंगतियों को अनुभव के धरातल पर जाँचा एवं परखा है और अपनी औन्यासिक कृतियों में उन्हें आत्मसात किया है। ''परिवर्तित परिस्थितियों तथा उलझनपूर्ण मन: स्थितियों में नारी के फिट होने की प्रवृत्ति और आधुनिकता तथा भारतीय संस्कारों के मध्य सूक्ष्म द्वन्द्व को उन्होंने सफलता पूर्वक चित्रित किया है।''[1]

दुविधाग्रस्त आधुनिक मध्यमवर्गीय परिवार की मान्यताएं एवं आस्थाएं विकृतियों एवं विषमताओं के कारण टूट रहीं हैं। ऐसे परिवेश में आधुनिकता से आकर्षित शिक्षित नारी के अकेलेपन, अजनबीपन, घुटन एवं संत्रास का चित्रण इनके उपन्यासों में बड़े ही प्रभावकारी एवं यथार्थपूर्ण ढंग से हुआ है। डा0 सूबेदार राय के अनुसार ''इनके उपन्यास वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के मूल्यों से सम्वन्धित हैं और इनके लेखन की धारा समष्टिगत चिन्तन से व्यक्ति चिन्तन की ओर मुड़ी है। आज की नारी मूल्यों को अपनाना चाहती है। वह पुराने मूल्यों को अस्वीकार करने के लिए उद्यत है। इस स्वीकार एवं अस्वीकार में विवेक का प्रयोग कम है। जिसके परिणाम स्वरूप आज की नारी का चुनाव सदा संतोषजनक नहीं होता । इसका सूक्ष्म विश्लेषण इनकी उपन्यासों में हुआ है।''[2] इन्होंने युगीन जीवन संदर्भों में उपन्यास के सच्चे स्वरूप को स्वीकारते हुए उपन्यास लेखन का उल्लेखनीय प्रयास किया है। इन्होंने स्त्री की पीड़ा को लेकर पुरूष के प्रति उग्रता को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा जीवन के यथार्थ में व्यक्ति की सत्ता के अनुरूप नारी का चित्रण किया है। इनके उपन्यास अपनी सहजता में ही विश्वसनीय बन गए हैं। इनमें चित्रित नारी और उसकी समस्याएं युग सापेक्षता लिए हुए हैं। उषा प्रियंवदा अस्तित्व वादी जीवन दर्शन से

---

1. हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ - डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 124

2. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी का विकास : डा0 सूबेदार राय, पृ0 145

प्रभावित हैं और इसका प्रभाव इनके उपन्यासों पर भी पड़ा है। जिसके परिणामस्वरूप इनके पात्रों में अनास्था, भय एवं संत्रास बना रहता हैं। पात्रों में परिस्थितियों से न उबर पाने की विवशता तो है ही साथ ही सामाजिक और आर्थिक विवशताओं तथा विषमताओं से उत्पन्न मानसिक यंत्रणा का मार्मिक चित्रण भी है। इन्होंने आधुनिक शिक्षित नारी की दुविधा ऊब, घुटन तथा छटपटाहट का सफल चित्रांकन अपनी उपन्यासों में किया है। इनके जिन उपन्यासों में स्त्री विमर्श सम्बन्धी दृष्टिकोण का संवेदनात्मक ढंग से प्रभावपूर्ण चित्रांकन हुआ है, उनकी समीक्षा प्रस्तुत है-

रुकोगी नहीं राधिका :

उषा प्रियंवदा का उपन्यास 'रुकोगी नहीं राधिका' उच्चवर्गीय सामाजिक चेतना को रूपायित करता है। इसमें भारतीय सभ्यता के साथ साथ पाश्चात्य सभ्यता का भी समावेश हुआ है। यह उपन्यास उनके "अब तक के औपन्यासिक चिन्तन के शीर्ष पर स्थित उनकी वैचारिकता का आखिरी पड़ाव है।"[1] इसमें उच्च वर्ग का चुनाव इसकी रचनात्मकता का सर्वप्रथम आयाम हैं, वरना यह कृति बनती ही नहीं और बनती तो अयथार्थ होती। आज भी उच्च वर्ग ही है, जो राधाओं को कहीं जा कर अपना वजूद बनाने में सक्षम कर पाता है। इतनी सुविधा और साहस दे पाता है। इसी वर्ग में इतनी व्यक्ति निष्ठता एवं अहम है कि पुत्री पिता को छोड़ कर जा सकती है और पिता रोकता नहीं। इसी वर्ग के भाई एवं पिता इतने तटस्थ और उदासीन रह सकते हैं कि इतने दिन बाद आती बहन-बेटी को लेने तक न जाएं। उच्च वर्ग के अलावा यह किसी प्रकार संभव नहीं हो पाता इसका सत्य मामा-मामी में देखा जा सकता है। जिनका वर्गीय संस्कार ही है कि वे तीन दिन तक स्टेशन पर देखने आते हैं।

---

1. हिन्दी उपन्यास समकालीन विमर्श - डा० सत्यदेव त्रिपाठी , पृ० 93

इस परिवार का समानान्तर आयोजन कर के वर्ग वैभिन्य की मानसिकता एवं उच्च वर्ग के अलगाव की प्रवृत्ति को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से उषा जी ने स्पष्ट किया है।

उपन्यास की नायिका ऐसी दुविधा से घिरी नारी है जो पिता के जीवन के किसी भी क्षण को किसी दूसरे के साथ बँटते हुए नहीं देखना चाहती है। नई चेतना से अनुप्राणित तथा व्यक्तिचेतना की पक्षधर होते हुए भी वह पिता के विवाह कर लेने पर प्रतिक्रिया स्वरूप नाराज होकर विदेश चली जाती है। वहाँ डेन के साथ सम्बन्धों के समान स्तर पर न होने के कारण पुन: वापस लौट आती है और पुन: फिर उन्हीं सम्बन्धों से जुड़ना चाहती है, जिनसे कट कर वह अकेली पड़ गई थी। लेकिन प्रयत्न करने पर भी वह उन बीते सम्बन्धों को अपनाने में असफल रहती है और वापस दिल्ली चली जाती है। व्यक्तित्व के बिखराव से बचने के लिए वह नवीन सम्बन्धों को स्थापित करना चाहती है मगर वह कहीं भी स्वयं को पूर्ण रूप से स्थापित नहीं कर पाती। इस उपन्यास में ऐसी ही दुविधाग्रस्त नारी का चित्रण हुआ है।

राधिका बिखरेपन की थकान को मिटाने के लिए, भटकन से बचने के लिए अक्षय को जीवन साथी के रूप में पाना चाहती है वह कहती है - "हो सकता हैं मैं अक्षय से विवाह कर लूँ मेरे जीवन में प्ले ब्वॉय के लिए स्थान नहीं है। मैं संगी चाहती हूँ, जिसमें स्थिरता हो, औदार्य हो, जो मुझे मेरे सारे अवगुणों सहित स्वीकार कर ले। मेरे अतीत को झेल ले।"[1] परम्परागत भावनाओं से उसे चिढ़ है। इसलिए स्त्री पुरुष सम्बन्धों में वह पूर्ण स्वतंत्रता की पक्षधर है। अक्षय में उसे सभी गुण मिल जाते हैं मगर वह उसे स्वीकार नहीं करती है और तभी उसके जीवन में मनीष आता है, राधिका उसे भी स्वीकार नहीं कर पाती। मगर पापा के कहने पर कि - 'चाहता हूँ तुम यहाँ रहो राधिका पहले की तरह।' तो

---

1. रूकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा, पृ0-69.

वह ''नहीं पापा, मैं जाना चाहती हूँ । मनीश ..... मेरे बंधु....'' कह कर मनीष का प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है और यह अपने पिता को मानसिक आघात देने के लिए उसका प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। इस प्रकार लेखिका ने राधिका के माध्यम से स्त्री के मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों एवं तनावों को सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रदान की है।

प्रस्तुत उपन्यास में उच्च वर्गीय जीवन की भावहीनता, बौद्धिकता तथा भौतिकता के परिणामस्वरूप पारिवारिक सम्बन्धों के टूटन को भलीभाँति रेखांकित किया गया है। उपन्यास के चरित्रों के सम्बन्ध में डा0 जयनाथ 'नलिन' के विचार उल्लेखनीय हैं ''सभी चरित्र स्पष्ट, निश्चित और दुविधाहीन हैं। न उनमें कोई उतार चढ़ाव है न आत्ममंथन, न सहसा या विकासात्मक परिवर्तन। किसी में कोई भाव द्वन्द्व नहीं- सब ऊपरी व्यवहार और कर्मों से ही जाने जाते हैं। एकमात्र राधिका ही ऐसा व्यक्तित्व है, जिसके भीतर की बिम्बना भी लेखिका ने की है; वरना विद्या, पापा बड़दा और किसी सीमा तक अक्षय भी साँचे में ढले हुए मालूम होते हैं। ..... सब एक दूसरे से उदासीन हैं। सब में एक परायापन, एक नैतिक व्यावहारिकता और तटस्थता है।''[1]

इस प्रकार ''राधिका के व्यक्तित्व की असाधारणता को उपन्यास में जिस प्रकार की स्थिति में रखकर देखागया है, वह बुद्धि और विश्वास की पकड़ के भीतर की चीज है राधिका के साथ उपन्यास का परिवेश भी एब्नार्मल हो गया है।''[2] क्योंकि पिता के विवाह को इस हद तक नापसन्द किया जाना कि घर ही छोड़ दिया जाए। यह न तो सामान्य स्थिति है और न ही आधुनिकता की विडम्बनाओं से उत्पन्न संत्रास से इसका कोई सम्बन्ध है।

उपन्यास की नायिका अहं, अधिकार, जिद, निश्चय की दृढ़ता आदि सभी रूपों में पिता का विस्तारित रूप ही सिद्ध होती है। पिता की कलाप्रकृति उसमें भी परिलक्षित होती

---

1. हिन्दी उपन्यास के पदचिह्न : सं0 डा0 मनमोहन सहगल, पृ0-305.

2. धर्मयुग : सं0 धर्मवीर भारती : 26 अक्टूबर 1989, पृ0 47

है। वंशानुक्रम एवं सानिध्य दोनों इसका कारण है और इसका सबसे बड़ा कारण तो 'एलिएशन' का वह तत्व है, जो उनका वर्गीय यथार्थ है। इस प्रकार इस उपन्यास के सभी पात्र कहीं न कहीं मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि या अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं। उपन्यास की संपूर्ण प्रस्तुति बड़ी संश्लिष्ट है। एकान्वित पद्धति में सब कुछ इस प्रकार अंतर्ग्रंथित किया गया है कि न सिर्फ एक आधुनिक प्रस्तुति-तकनीक का नया व जीवंत अहसास होता है, वरन् पाठक की सजगता की भी पूरी परीक्षा हो जाती है। एक मिनट के लिए भी अवरोध से अवधान में कमी खटकती हैं। पठनीयता का ऐसा तीव्र आग्रह इसे विरल रचना के आकाश पर सहज ही बिठा देता है।

पचपन खम्भे लाल दीवारें :

उषा प्रियंवदा ने आधुनिक जीवन की ऊब, छटपटाहट, संत्रास और अकेलेपन को अनुभूति के स्तर पर पहचाना और व्यक्त किया है । यह उपन्यास उनकी इस विशेषता का जीता जागता उदाहरण है, जिसमें एक भारतीय नारी की सामाजिक -आर्थिक विवशताओं से जन्मी मानसिक यंत्रणा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।''[1] इस उपन्यास में नारी के शोषण के नये आयाम का चित्रण हुआ है। नारी का शोषण हर युग में हुआ है, कभी धर्म द्वारा कभी शास्त्रों द्वारा एवं कभी घर परिवार और समाज द्वारा । आज की नारी जहाँ सुशिक्षित होकर आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हुई है, वहीं उसे इस आत्म निर्भरता का मूल्य भी चुकाना पड़ रहा है। प्रस्तुत उपन्यास की नायिका सुषमा के माध्यम से लेखिका ने सुशील, सुशिक्षित, संवेदनशील, अंतर्मुखी तथा आत्मपीड़क स्त्री के अर्न्द्वन्द्व को अभिव्यक्ति प्रदान की है। उर्मिला गुप्ता ने इसे मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यास [2] माना है।

---

1. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवता – आवरण पृ0

2. स्वातंत्र्योत्तर कथा लेखिकाएं : उर्मिला गुप्ता, पृ0 328

उपन्यास की नायिका सुषमा निम्न मध्यम वर्गीय परिवार की सबसे बड़ी पुत्री है पिता के अपाहिज होने के कारण घर परिवार की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उस पर हैं। वह एक कालेज में व्याख्याता है। उसमें जिन्दगी जीने की पूर्ण उत्कण्ठा है किन्तु अपने पारिवारिक सुख के कारण वह अपने वैयक्तिक सुख का परित्याग करती है। किन्तु अकेलेपन की अनुभूति उसे व्यथित करती है। सुषमा के चारों तरफ दीवारें हैं दायित्व की, कुण्ठा की. अपने पद की गरिमा की और परिवार की। पारिवारिक दायित्व के कारण वह अपना विवाह नहीं करती। उसके सूनेपन एवं एकान्त का साथी बन कर नील उसके जीवन में प्रवेश करता है और उसके एकान्त जीवन में लहरें उठने लगतीं हैं तथा उसके मन एवं शरीर में एक नवीन चेतना का संचार होने लगता है। परन्तु वह नील से विवाह नहीं करती क्योंकि उसका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उसे विवाह की अनुमति नहीं देता इसका कारण यह है कि वह वय में नील से पॉंच साल बड़ी है और नील उसे किसी भी समय छोड़ सकता है। इस सम्बन्ध में सीताराम शर्मा का कहना है कि "सुषमा रूढ़िवादी नारी है, वह त्यागमयी नारी के रूप में चित्रित है। उसे जैनेन्द्र की नायिकाओं की भाँति आत्म पीड़न पसन्द है। सुषमा भावना के अधीन होकर नील को दरवाजे से लौटा देती है। और पचपन खम्भों से घिरी अपनी चाहरदीवारी में लौट जाती है।"[1]

डा0 घनश्याम मधुप ने इसे प्रियंवदा जी का आदर्श बताया है। उनके शब्दों में "प्रियंवदा जी का रचनाकार आधुनिक होते हुए भी पुरातनपंथी है .... वे मूलतः भारतीय होने के कारण इस कथा के अन्त में कृतिम आदर्श को स्वीकार करती है।"[2] किन्तु मधुप जी का यह मत उचित नहीं है सुषमा का निर्णय विवेक सम्मत ही माना जायेगा । वस्तुतः

---

1. स्वातन्त्रयोत्र कथा लेखिकाएं : सीताराम शर्मा, पृ0 191

2. हिन्दी लघु उपन्यास : डा0 घनश्याम मधुप, पृ0 177

उषा जी के नारी पात्र भवुकता के स्थान पर विवेक का ही वरण करते हैं क्योंकि- "किसी भी स्तर पर जीते हुए वे (उषा जी के नारी पात्र) विवेक के तरफदार हैं। मानो लेखिका इस तथ्य के प्रति बराबर सचेत है कि विकासशील जीवन मूल्य मनुष्य की इच्छा क्षमता से अधिक उसकी चिन्तन क्षमता पर निर्भर करते हैं।"[1]

सुषमा के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, कर्तव्य और भावना के संघर्ष, अशान्ति, अतृप्ति आदि मनोभावों का परिस्थिति सापेक्ष मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित करने में लेखिका को विशेष सफलता मिली है। परिस्थिति प्रताड़ित, विवाह सुख से वंचित कुमारी के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण इस उपन्यास का मुख्य लक्ष्य है लेखिका ने सुषमा की अन्तर्वेदना को इन पंक्तियों में स्पष्ट किया है- "सुषमा की आँखें बुझ गईं और ओठों से मुस्कान खो गई। वह शून्य में न जाने क्या देखती रही। फिर उसकी पुतलियाँ आँसुओं में डूब गईं। उसने पलकें भींच ली और असह्य पीड़ा का भाव उसके मुख पर दौड़ आया।"[2] और वह पारिवारिक उत्तरदायित्वों को वहन करते हुए अपने प्रेम एवं वैयक्तिक भावनाओं की बलि चढ़ा देती है। वह इससे खुश नहीं वह जीना चाहती है, पर जी नहीं सकती यही उसकी विवशता है। वह मीनाक्षी से कहती है "मेरी निष्कृति की कोई संभावना नहीं मीनाक्षी। पैंतालीस साल की आयु में मैं भी एक कुत्ता या बिल्ली पाल लूँगी - उसे सीने से लगाकर रखूँगी .... मैं नहीं चाहती कि जो कुछ मैंने देखा और सहा, वही मेरे भाई बहनों के सामने आए।"[3] वह सामाजिक और आर्थिक विवशताओं में जकड़ी है और चाह कर भी उससे मुक्त नहीं हो पाती शायद होना नहीं चाहती। आत्म-पीड़न उसकी नियति बन चुकी है। वह मीनाक्षी के इस प्रश्न का कि

---

1. विवेक के रंग : सं0 डा0 देवीशंकर अवस्थी, पृ0 37
2. पचपन खम्भे लाल दीवार : उषा प्रियंवदा, पृ0 51
3. वहीं, पृ0 100

वह नील को स्वीकार क्यों नहीं कर लेती, उत्तर देती हुई कहती है- "उसे स्वीकार करने का शायद मुझमें साहस नहीं है। अपने को कमजोर पाती हूँ। .... आज से सोलह साल बाद शायद तुम अपनी बेटी को लेकर इस कॉलेज में आओ, तब भी तुम मुझे यहीं पाओगी कालेज के पचपन खम्भों की तरह स्थिर, अचल....।"[1] वह नील से भी कहती है, "नहीं नील नहीं, सुषमा ने मुट्ठियाँ बन्द कर सीने से भींच ली; "यह कालेज, ये खम्भे मेरी डेस्टिनी हैं, मुझे यहीं छोड़ दो।"[2] इन पंक्तियों से सुषमा की निराशा प्रकट होती है। डा0 विमला शर्मा इसे सुषमा की आत्मकुण्ठा का परिणाम मानती हैं।"[3]

इस उपन्यास में "प्रेम के बदलते हुए स्वरूप को उजागर किया गया हैं । प्रेम के बाधक तत्व पहले बाहरी थे- जैसे परिवार, समाज, नैतिकता आदि। इसके बाद प्रेम में बाधक तत्व प्रेमी की चेतना का अंश बन गया। उषा प्रियंवदा के इस उपन्यास में नायिका प्रेम की इसी त्रासदी से पीड़ित है।"[4] यह उपन्यास साधारण विफल प्रेम कहानी होते हुए भी अपने प्रस्तुतीकरण में असाधारण है। इसमें पारिवारिक उत्तरदायित्वों का संवहन करने वाली नारी को निरंकुशी सामाजिकता से उत्पन्न परिस्थितियों में अपनी निजता को विसर्जित करने की विवशता स्वीकार करनी पड़ती है। उसकी यह बाध्यता ही उसे अपने प्राप्य से वंचित कर उसे पूरी तरह तोड़ डालती हैं और वह परिस्थितियों के वात्याचक्र में उलझकर लाल दीवारों और पचपन खम्भों से निर्मित लड़कियों के हास्टल में मानो बन्दिनी बन जाती है। फिर भी वह जिन्दगी में अपनी जिम्मेदारियों से भागती नहीं है। वह बहुत ही

---

1. वहीं, पृ0 100
2. वहीं, पृ0 104
3. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास में नारी के विविध रूप - डा0 विमला शर्मा, पृ0 33
4. महिला कथाकोरों की रचनाओं में प्रेम का स्वरूप - विकास : सरित कुमार, पृ0- 119.

कर्तव्यपरायण लड़की है। ......कई बार वह माँ के रवैये से स्वयं को उपेक्षित महसूस करती है। ...... वह अपना सब कुछ दूसरों पर लुटाती रहती है। खाली होती जाती है। और अकेले पन का अहसास उसे तोड़ता जाता है।[1] और "अभेद्य, सर्वग्रासी अंधकार जीवन में सिमटता आता है। वह अकेली रह जाती है- अपने में संपृक्त।"[2] आधुनिक प्रेम की चरम परिणती अजनबीपन की इस अनुभूति में, अकेलेपम की इस स्थिति में होती है।

उपन्यास में आधुनिक जीवन की इस विडंबना को बड़ी ही मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है कि जो हम नहीं चाहते वहीं करने को विवश है। उपन्यास में नारी के कोण से प्रेमानुभव को, उसकी तरलता को सुन्दरता से प्रकट किया गया है।

शशि प्रभा शास्त्री :

आधुनिक हिन्दी लेखिकाओं में डा0 शशि प्रभा शास्त्री का अपना एक विशिष्ट स्थान है। 'वीरान रास्ते और झरना', 'अमलतास', 'नावें', 'सीढ़ियाँ', 'परछाइयों के पीछे', 'क्योंकि', और 'कर्करेखा' आदि चर्चित औपन्यासिक कृतियाँ उनके लेखन की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। शशि प्रभा जी एक आधुनिक नारी चेतना सम्पन्न लेखिका हैं। इनकी यह नारी चेतना पश्चिमी आन्दोलनों से उद्वेलित एवं परिचालित न होकर उनकी अपनी विवेक चेतना की अभिव्यक्ति है परिणाम सवरूप उनकी उपन्यासों में एक सन्तुलित दृष्टि दिखाई देती है। समाज के दो पाटों (उच्च एवं निम्न वर्ग) के मध्य अपनी स्थिति एवं अस्मिता के लिए संघर्ष करते हुए मध्यमवर्गीय समाज में नारी की जो स्थिति है, उसे लेखिका ने अपने उपन्यासों के माध्यम से सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है।

---

1. हिन्दी उपन्यासों में रूढ़िमुक्त नारी : डा0 राजरानी शर्मा पृ0 297,298

2. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा पृ0 5

श्रीमती शशि प्रभा शास्त्री ने अपने लेखन के माध्यम से स्त्रीं की स्थिति को पहचानने का प्रयास किया है। अपने लेखन को लेखिका ने विभिन्न सन्दर्भों में जोड़ कर बहुआयामी बनाया है। कहीं दाम्पत्य जीवन के दोहरे चेहरे खींचे हैं, कहीं पीढ़ियों के मध्य के अन्तराल से उत्पन्न विभिन्न समस्याएं हैं और कहीं स्त्री और पुरुषों के बीच का प्रेम है, जो कभी त्रिकोणी बन जाता है और कभी पुन: अपने मूल रूप में वापस आ जाता है। उपन्यासों में कथ्य को इन्होंने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है लेखन के सम्बन्ध में उनका मत है कि "लेखन एक सतत् तप की प्रक्रिया है, जिसमें लेखक के लिए अपना सबकुछ झोक कर स्वयं को झोंकना भी आवश्यक हो जाता है। स्वयं को पूरी तरह झोंक देना ही लेखक का एकमात्र धर्म है और यही अच्छे लेखन की पूर्णता व मंजिल भी। अच्छा लेखन खुद उठता है। उसे किन्हीं वैसाखियों की जरूरत नहीं होती।"[1] यहाँ हम लेखिका के उन्हीं उपन्यासों का विश्लेषण करेंगे जो स्त्री विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं-

नावें :

"नावें" शशि प्रभा शास्त्री का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास के केन्द्र में मालती का व्यक्तित्व है। मालती की विपन्नता उसे विवाहित सोमनाथ जी के निकट ला देती है और वह गर्भवती हो जाती है। सोमनाथ जी उससे सम्बन्ध तो रखना चाहते हैं मगर विवाहिता का दर्जा देने में अपनी विवशता जाहिर करते हैं। घर वाले भी उसे स्वीकार नहीं करते। मालती की माँ कहती है- "एक लफ्ज भी नहीं सुनना चाहती। हमारे लिए तू मर गई। कुछ भी कह दूँगी मैं हर किसी से, पर तुझे फूटी आँख भी नहीं देख सकती।"[2] इस

---

1. मनोरमा: महिला कथाकार विशेषांक, अक्टूबर 1977, प्रथम पक्ष पृ0 13

2. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला - डा0 रोहिणी अग्रवाल पृ0 165

प्रकार सोमजी की शालीन धृष्टता तथा अपने परिवार की स्वार्थान्धता से मोह भंग होने पर वह स्वतन्त्र जीवन जीने की आकांक्षा से बदायूँ चली जाती है। बदायूँ में वह प्रिंसिपल रेवा निगम की सहायता से काम करने लगती है और वहीं उसकी पुत्री नीलिमा का जन्म होता है। नीलिमा के स्कूल में प्रवेश के समय पिता के नाम की समस्या उत्पन्न होने पर वह विजयेश से विवाह कर लेती है, परन्तु निजी ग्रन्थियों के कारण वह विजयेश को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर पाती फलत: उनके दाम्पत्य जीवन में तनाव ग्रस्तता आ जाती हैं और ये तनाव ग्रस्तता उसके मानसिक परिताप का कारण बनती है। इस "मानसिक परिताप का उद्घाटन तीन रूपों में हुआ है। सर्वप्रथम विजयेश में पश्चाताप की भावना का अंकुरण होता है कि क्यों समाज सुधार के जोश में उसने अविवाहित माँ मालती से विवाह कर उसकी पुत्री के पोषण का दायित्व लिया। दूसरे, पुत्री नीलिमा के प्रति उसका सारा आक्रोश संचित होता रहता है कि यह न होती तो मालती का दिमाग इतना न बिगड़ता। तीसरे, मानसिक परिताप की चरमावस्था में वह घर छोड़कर कहीं चले जाने के संकल्प करता है।"[1] परन्तु नीलिमा को अपने माँ और पिता के मध्य उत्पन्न तनाव का आभास हो जाता है और वह अपने स्नेह से पिता को मना लेती है नीलिमा अपनी माँ को दोषी ठहराती है और उसे पत्र लिखती है कि "........ अप्पा जी के प्रति तुम्हारा निरपेक्ष व्यवहार , उनकी उपेक्षा, उनसे अलगाव मुझे हमेशा कचोटता रहा है अप्पा जी .... तुम्हारे और तुम्हारी बेटी के लिए कितना त्याग करते रहे और बदले में उन्होंने क्या पाया? एक जोड़ा माँ बेटी की जिन्दगी को सँवारते हुए अपने लिए उन्होंने क्या समूचा रेगिस्तान मोल नहीं ले लिया हैं।"[2] इस लम्बे पत्र को पा कर मालती गहरे सोच में डूब जाती है और पत्र के कागज की नावें बनाने लगती

---

1. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला : डा० रोहिणी अग्रवाल - पृ०-165.

2. नावें : डा0 शशिप्रभा शास्त्री, पृ0 102.

है। इस प्रकार उपन्यास का अन्त हो जाता है। इस उपन्यास में "मालती की दुविधा और यातना को, उसकी भटकन और छटपटाहट को उपन्यास कार ने सजीव रूप से उजागर किया है। यह एक ऐसी नारी की यातना है जो रूढ़िबद्ध समाज में रहने के योग्य नहीं रहती ।"[1]

उपन्यास में लेखिका ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। कि "कुण्ठित जीवन प्रणाली कभी भी स्वंस्थ जीवन का निर्माण नहीं कर सकती । प्रतिक्रियायित जीवन दृष्टि कभी स्वस्थ नहीं हो सकती । मालती के जीवन का अत्तरार्द्ध उसके पूर्वाद्ध की प्रतिक्रिया है। .... फलत: स्वयं भी दु:खी होती है। विजयेश को भी दु:खी करती है और नीलिमा को भी । विजयेश के प्यार को वह सहानुभूति समझती है। प्यार की छलना उसकी चेतना को रेगिस्तान बना देती है। सच ही, प्यार भी वही दे सकता है, जिसने उसे पाया हो।"[2] अत: मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के अध्येताओं के लिए यह उपन्यास विशेष रूप से उपयोगी है। उपन्यास में लेखिका ने नारी विषयक दृष्टिकोण को अत्यन्त ही सन्तुलित रूप में प्रस्तुत किया है। विजयेश के चरित्र को प्रस्तुत कर के लेखिका ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि सभी पुरुष नारी के दुश्मन नहीं होते। स्त्री पुरुष में मानवीयता एवं दोस्ती का सम्वन्ध भी होता है।

सीढ़ियाँ :

इस उपन्यास में एक ऐसी नारी की व्यथा कथा है, जो सुशिक्षित एवं आर्थिक रूप से स्वतंत्र होते हुए भी अपने भावजगत में परेशान होती रहती है। उपन्यास की नायिका मनीषी अपनी सहेली के पुत्र सुकेत का पालन पोषण करती है परन्तु वय में छोटा होने के कारण वह उससे विवाह नहीं करती। वह सामाजिक आलोचना और लोकनिन्दा के डर से ऐसा

---

1. महिला कथाकारों की रचनाओं में प्रेम का विकास स्वरूप : सरिता कुमार, पृ0 63 .

2. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूपों का चित्रण : मों० अज़हर ढेरीवाला, पृ०-169.

करती है और कहती है –"लोग तुम्हारा उठना बैठना मुश्किल कर देंगे- कोई कहेगा सुकेत की दौलत पर मर–मिटी, न उम्र देखी और न सम्बन्ध ।"[1] यहाँ संघर्ष इद और ईगो का है। इद उसे सुकेत की तरफ झुकाता है मगर ईगो उसे सामाजिक लांक्षनाओं के कारण रोकता है। वह सुकेत का विवाह अपनी पसन्द की लड़की से करती है मगर उससे उसे सम्मान और आदर नहीं मिलता अपितु उपेक्षा ही मिलती है और दुःख संत्रास, पीड़ा और घुटन ही उसकी नियति बन जाती है।

इस प्रकार यह मनोविश्लेषणात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। शशिप्रभा शास्त्री ने इस उपन्यास में उस नारी को केन्द्र में रखा है जो पुराने और नए बोध में डोलती रहती है इस प्रकार उपन्यास कार ने मनीषी के दुविधाग्रस्त टूटते व्यक्तित्व को उजागर करने का प्रयत्न किया है और यह समकालीन महिला उपन्यासकारों की रचनाओं की एक मूल अनुभूति है।

आधुनिक परिवेश तथा चिन्तन उपन्यास का एक अन्य पहलू है । स्त्री पुरुष सम्बन्ध, परम्परागतता का विरोध, वैवाहिक सम्बन्धों में समान धरातल की बात जैसे कई महत्वपूर्ण मुद्दों को उपन्यास में उठाया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में नारी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों और उसकी समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। मनीषी की परिणति को लेकर तथा उसके मन में गहराते अंधकार के कारण पाठकों के मन में उसके प्रति गहरी संवेदना उत्पन्न होती है और यही उपन्यास एवं उपन्यासकार की सफलता है।

'नावें' और 'सीढ़ियाँ' के अतिरिक्त शशिप्रभा शास्त्री का 'क्योंकि', 'अमलतास', 'परछाइयों के पीछे' और 'कर्क रेखा' आदि उपन्यास ऐसे हैं जिसमें लेखिका ने स्त्री विमर्श को एक नवीन दृष्टि प्रदान की है इनका लेखन पारम्परित नारीलेखन से शुरू होकर स्त्री विमर्श की ऊँचाइयों तक पहुँचा है।

---

1. सीढ़ियाँ : शशि प्रभा शास्त्री, पृ०-226.

अपने उपन्यास '**अमलतास**' में लेखिका ने जहाँ स्वतंत्रता पूर्व रजवाड़ों की नारियों की व्यथा कथा का चित्रण अत्यन्त ही मार्मिक एवं भावप्रवण शैली में किया है, वहीं, 'परछाइयों के पीछे' उपन्यास में लेखिका को नारी मनोदशा का हृदयग्राही एवं सजीव चित्रण प्रस्तुत करने में सफलता मिली है। इस उपन्यास की नायिका रूढ़िवादिता एवं प्राचीन संस्कारों के आवरण में परिवेष्ठित पग-पग पर अपमानित, लांक्षित एवं कलंकित होकर भी उस आवरण से बाहर नहीं निकल पाती और एक टीस, कचोट और वेदना लिए घुटती रहती है। उपन्यास में परम्पराओं रूढ़ियों एवं संस्कार में जकड़ी नारी की वेदना, संत्रास घुटन एवं छटपटाहट का प्रभावपूर्ण अंकन हुआ है। '**क्योंकि**' उपन्यास में लेखिका ने नारी मन की भावनाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें लेखिका ने उपन्यास की नायिका जामा के माध्यम से जेवरों के प्रति सहज आकर्षण, बच्चों के प्रति ममत्व, पति के प्रति सहयोगिनी की भूमिका और दूसरों के प्रति सहानुभूति रखने वाली एक सफल नारी चरित्र को प्रस्तुत किया है।

लेखिका का '**कर्क रेखा**' उपन्यास मध्यमवर्गीय नारी के जीवन की विडम्बनाओं को मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला उपन्यास है।

अपने उपन्यासों के माध्यम से शशिप्रभा शास्त्री ने नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं को विशद रूप से प्रस्तुत किया है। इन उपन्यासों के माध्यम से लेखिका के लेखन में स्त्री विमर्श सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं विचारों की मंजिल एवं गंभीरता को सफलता पूर्वक मापा जा सकता है। लेखिका का नारी वादी विमर्श इन उपन्यासों के माध्यम से नवीन ऊँचाइयों को छूता हुआ एक नवीन आयाम प्रस्तुत करता है।

श्रीमती मेहरुन्निसा परवेज :

हिन्दी की आधुनिक लेखिकाओं में मेहरुन्निसा परवेज अपने विशिष्ट रचना संसार के कारण अलग पहचान बनाए हुए हैं। इनका लेखन जीवन की समग्रता का प्रस्तुतीकरण लेकर सामने आता है। सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियों और विडम्बना तथा इन

विसंगतियों से मुक्ति की छटपटाहट ही इनके लेखन का मुख्य आधार है । इनके उपन्यासों में मुस्लिम समाज का नगरीय परिवेश, उनके द्वन्द्व, उनके अन्तर्विरोध, विश्वास-अविश्वास, प्रगतिशीलता तथा दकियानूसी का, आपसी संघर्ष और आधुनिक शिक्षा से अनुप्राणित नारी चेतना का पुराने, मूल्यों से संघर्ष और उससे मुक्ति की चेष्टा का सहज प्रस्तुतीकरण हुआ है। इनके पात्र सामाजिक चट्टानों से टकराते नहीं, प्रत्युत जीवन की राह बनाते हैं। श्रीमती परवेज ने अपने व्यापक अनुभव को ही अपनी रचना का आधार बनाया है। 'आँखों की दहलीज, 'कोरजा', 'उसका घर', 'अकेला पलाश', श्रीमती परवेज के प्रमुख उपन्यास हैं जिसमें उन्होंने अपने नारी विषयक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। इनके उपन्यासों में इसबात की संवदेनापूर्ण अभिव्यक्ति हुई है कि समाज कोई भी हो, स्त्री पुरुष के शोषण एवं दमन से मुक्त नहीं है—

ऑखों की दहलीज :

यह नारी जीवन के अधूरेपन को व्यक्त करने वाला उपन्यास है इसमें नारी जीवन के अंतर्मंथन को, उसके जीवन की निराशा घुटन और छटपटाहट को पूरी सत्यता एवं यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया गया है।

'ऑखों की दहलीज' उपन्यास मे लेखिका ने 'ऑखों की दहलीज' के चूक जाने या लांघ जाने के दुष्परिणामों को रेखांकित किया है। उपन्यास की कथा में उच्च मध्यम वर्गीय मुस्लिम परिवेश का वर्णन है। लेखिका ने उपन्यास की नायिका तालिया के माध्यम से माँ न बन पाने की कसक लिए तथा जावेद के साथ अकस्मात बन गये विवाहेता सम्बन्धों का तनाव लिए अधूरे नारी मन की छटपटाहट को व्यक्त किया है। तालिया का दु:ख व्यक्त करते हुए लेखिका कहती है, ' तालिया का दु:ख जो देख लेता, वह जो भोग रही है वह मेरा दु:ख है क्योंकि उन दिनों मेरा नाम भी बांझ औरतों की लिस्ट में था। मैंने उन दु:खों को अक्षरों का लिबास ओढ़ा दिया। मेरी भी शादी के दस वर्ष बीत गए थे और मैं माँ न बन पाई थी, कसूर चाहे जिसका भी रहा हो, कलंक तो औरत के ही माथे पर होता है। न, दु:ख

भी वही झेलती है- सहती है।"[1]

उपन्यास की नायिका अपने अपराध बोध से उभरने की कोशिश करती है और इसमें उपन्यास लेखिका का दृष्टिकोण उभर कर सामने आता है। नायिका के मन की स्थिति दुविधा की है पत्नी पति और प्रेमी में किसका चयन करे। वह पति से सहानुभूति रखती है और प्रेमी और पति के मध्य डोलती रहती है और अन्त में अपनी निराशाजनक पराजय तथा अपने जीवन की असार्थकता को स्वीकार करते हुए, जमील और शमीम (पति) को जोड़ कर हमेशा के लिए उसकी जिन्दगी से चली जाती है।

उपन्यास में लेखिका ने अपराधबोध से ग्रसित नारीमन के अन्तर्द्वन्द्व एवं आत्मग्लानि का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। तालिया को अपराध बोध से छुटकारा दिलाने के लिए जमीला उसे सुझाव देती है, "तालिया जिन्दगी बड़ी मुश्किल है जाने कितने रोल यहाँ करने पड़ते हैं। मोहब्बत करना जुल्म नहीं बेकार अपने को गुनाहगार मत समझो।"[2] मगर पति की सरलता उसे अपराध बोध से उबरने नहीं देती और पति को धोखा देने के कारण उसका अपराधबोध बढ़ता ही जाता है।

लेखिका ने इस उपन्यास में सामाजिक रूढ़ियों एवं वर्जनाओं में जकड़ी अपराध वोध से ग्रसित नारी मन के अन्तर्द्वन्द्वों का सफल चित्रण किया है।

कोरजा :

इस उपन्यास में भी मुस्लिम जीवन और संस्कृति को आधार बनाया गया है। यह कृति मेहरुन्निसा परवेज के उपन्यास कला का विकसित रूप है। 'कोरजा' उपन्यास में जीवन के सामान्तर एक और जीवन की व्याख्या की गयी है। इस उपन्यास में पात्रों की

---

1. लेखिका की कहफियत : आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सं0 राम जी मिश्र, डा0 भदौरिया, पृ0 421

2. ऑखों की दहलीज : मेहरून्निसा परवेज : पृ0 99

अधिकता है और सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। 'कोरजा' उपन्यास की नसीमा, कम्मों मोना तथा अमित की आशाएं अभिलाषाएं कुछ और थी, मगर जीवन में कुछ ऐसे मोड़ आए कि भूली बिसरी स्मृतियों के अतिरिक्त उनके पास कुछ भी शेष नहीं रहा।

उपन्यास में सामाजिक समस्याओं को उभार कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है तथा सामाजिक जीवन की झाँकी भी प्रस्तुत की गई है। साथ ही समाज के गलत विकृत स्वरूप को भी प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में लेखिका ने परिवार को परिवार की भाषा से ही उद्घाटित किया है। सामाजिक विसंगतियों पर लेखिका की पकड़ बड़ी ही स्वाभाविक है यह महिला कथाकार के बस की ही बात हो सकती है । पुरुष की विलासी प्रवृत्ति ही कलह का मूल कारण है यह भी उद्घाटित करने की कोशिश की गई है- यथा 'रहमान खाँ को बाहर की औरतें ऐसी लगीं थीं जैसे किसी को पान के साथ तम्बाकू लग जाए।''[1] सामाजिक विसंगतियों का चित्रण भी लेखिका ने यथार्थता के साथ किया है । यथा- 'वह समझ गई थी कि अचानक लड़की की ओर बाप का प्रेम नहीं उमड़ा है, बल्कि वह मक्कार आदमी की बहसी आँखों का पानी था।'' [2] इस प्रकार लेखिका ने पारिवारिक जीवन एवं सामाजिक विसंगतियों का चित्रण प्रस्तुत कर एक सफल औपन्यासिक कृति का निर्माण किया है।

'ऑखों की दहलीज' एवं 'कोरजा' के अतिरिक्त 'उसका घर', अकेला पलाश एवं पत्थर वाली गली उपन्यास में भी स्त्री की समस्या को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया गया है। लेखिका ने अपने उपन्यास **'उसका घर'** में स्त्री पुरुष के प्रेम में उलझनों एवं गाँठों को

---

1. कोरजा - महरुन्निसा परवेज, पृ0 21
2. कोरजा - महरुन्निसा परवेज, पृ0 210

उजागर किया है। इस उपन्यास का परिवेश इसाई समाज का है, पर वहाँ भी स्त्री की स्थिति मुस्लिम या हिन्दू समाज से भिन्न नहीं है। यह उपन्यास खोखली पारिवारिक व्यवस्था तथा भ्रष्ट समाज से जुड़ी दुखद सच्चाई को प्रस्तुत करताहै। **'पत्थर वाली गली'** लेखिका का लघु उपन्यास है। इसके कथानक का आधार भी मुस्लिम परिवेश है। इस उपन्यास में लेखिका ने आज के अभावग्रस्त समाज की विडम्बनाओं का बड़ा ही हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किया है। समाज में देह को आधार बना कर स्त्री उत्पीड़न को व्याख्यायित करने वाला यह महत्वपूर्ण उपन्यास है। **'अकेला पलाश'** उपन्यास में बदलते सामाजिक संदर्भों को आत्मसात करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यह औपन्यासिक कृति नायिका तँहमीना के पौरुषहीन पति तथा सुन्दर, स्वस्थ प्रेमी के त्रिकोण को लेकर लिखी गई है। प्रस्तुत कृति युगानुरूप सामाजिक प्रयत्नों के अनेक ऐसे प्रसंग एवं तथ्य लिए हुए है जो समाज में स्त्री की स्थिति की विश्लेषित एवं रूपायित करते हैं । नि:संदेह, मेहरुन्निसा परवेज ने अपने उपन्यासों में नारी-शोषण के विभिन्न रूपों को गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है।

मन्नू भण्डारी :

हिन्दी के आधुनिक कथा लेखिकाओं में मन्नू भण्डारी अग्रगण्य हैं । ये हिन्दी साहित्य के क्षितिज पर उभरने वाली छठे दशक की महिला कथाकार हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में वृहत्तर सामाजिक आयाम को अपना कर व्यापक जीवन दृष्टि का परिचय दिया है। गहरी संवेदनशीलता, अनुभव की सच्चाई और प्रस्तुति का अपना मौलिक कालात्मक अंदाज ऐसी विशेषताएं हैं, जो इन्हें हिन्दी की एक सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार सिद्ध करती हैं। समकालीन कथा एवं नाट्य साहित्य में मानव जीवन की अन्तर्मुखी स्थितियों एवं परिवेश गत विद्रूपताओं को उभारने और अंकित करने में मन्नू भण्डारी का अप्रतिम स्थान है । इनका लेखन नारी की विवशता के अंकन में तो सचेष्ट रहा ही है, उससे बाहर भी सामाजिक समस्याओं को गम्भीरता से संस्पर्शित करते हुए सामने आया है। इनके उपन्यास पुरुषों के

प्रति वैमनस्य पूर्ण दृष्टिकोण से न लिखे जा कर सामाजिकता की वास्तविकता को साकार करने में सचेष्ट रहे हैं। ''इनके उपन्यास विभिन्न समस्याओं को लेकर साथ चले हैं। इनके लेखन में स्तर का तारतम्य है और स्थाइत्व है। इनका रचना संसार स्पष्ट है क्योंकि इन्होनें उसका स्वयं साक्षात्कार किया है और लेखिका के रूप में अपना आविष्कार भी किया है वस्तुत: सच्चा लेखक वही होता है जो बार बार अपना आविष्कार कर सके। संवेदना एवं परिवेश के प्रति गहरी सहानुभूति इसी के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है।''[1]

मन्नू भण्डारी के उपन्यासों का आधार मुख्यतया वैयक्तिक चेतना है। इनकी उपन्यासें जीवन के अधिक निकट हैं। इनमें पति-पत्नी के सम्बन्धों , पारिवारिक जीवन और आधुनिक प्रेम आदि का चित्रण है।

स्वतंत्रता के पश्चात आधुनिकता के मोह में नारी जीवन में जो विसंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं और पुरातन संस्कारों से मुक्ति मिलें बिना नूतन से तालमेल बैठाने में नारी के जीवन में जो विद्रूपताएं उत्पन्न हुई हैं, उन पर इन्होंने तीखा व्यंग किया हैं । इन्होंने नारी जीवन के विभिन्न परिपाश्र्वो का विश्लेषण करते हुए नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं के मूल कारणों का यथार्थपरक चित्रण किया है। इनकी उपन्यासों में स्वाभाविकता एवं सहजता है। उनमें अनुमूति की गहराई एवं नवीन मूल्यों को उभारने का प्रयत्न भी किया गया है तथा आन्तरिक कमजोरियों का उद्घाटन बड़ी ही कुशलता से हुआ है ।

मन्नू भण्डारी ने अपनी उपन्यासों में प्रेम की विषम परिस्थितियों मे नारी के निर्णायक क्षण को अन्तर्द्वन्द्व के रूप में चित्रित किया है। इनकी नारी अनिश्चय के मध्य खड़ी है। इन्होंने नारी के अहं और सामाजिक परिवेश में उसके टूटने का यथार्थ अंकन

---

1. महिला उपन्यास कारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक सन्दर्भ : डा0 शीलप्रभा वर्मा, पृ0-28.

किया है। इस टूटन के साथ नवीन सम्बन्धों की खोज का भी वास्तविकता परक चित्रण इनके उपन्यासों में हुआ है। मन्नू भण्डारी के उपन्यास लेखन में "भारतीय जीवन के नये परिवेश की गम्भीर पकड़ है जिसमें भारतीय परिवारों की व्यवस्था के भीतर से संघर्ष एवं मुक्ति की कल्पना करती हुयी नारी के अन्तस्थल की ताजी एवं असलियत पूर्ण तस्वीर हैं। परिवार की चारदीवारी से पीड़ित और पलायन करती हुई नारी के अनेक चित्र इनकी उपन्यासों में हैं। अपने 'स्वत्व' का आकलन कर पाने की समस्या भी इनके स्त्रीपात्रों के समक्ष है। दो के मध्य तीसरे की परोक्ष या अपरोक्ष उपस्थिति से उत्पन्न भावबोध को मन्नू भण्डारी ने अत्यन्त बारीकी से उभारा है।"[1] नवीन भावबोध में स्त्री विमर्श की समीक्षा करने वाले इनके कतिपय प्रमुख उपन्यास निम्न हैं -

एक इन्च मुस्कान :

"एक इन्च मुस्कान" उपन्यास मन्नू भण्डारी का सहलेखन की परंपरा में लिखा गया उपन्यास है । इस उपन्यास में आधुनिक जीवन के खण्डित व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक तथा पारिवारिक परिस्थितियों को रूपायित किया गया है। यह उपन्यास "उस सनातन सवाल को फिर से एक बार पाठक के समक्ष रखता है कि कलाकारों पर किसी प्रकार के नैतिक दायित्वों को निभाने के बंधन लगाए जा सकते हैं अथवा नहीं।"[2] उपन्यास की स्त्री पात्र शकुन पति परित्यक्ता नारी है और पति के द्वारा त्यागे जाने पर उसके मध्यवर्गीय परिवार के रूढ़िवादी माता-पिता उसे अपने यहाँ आश्रय नहीं देते परन्तु वह जिन्दगी का सामना साहस और आत्मविश्वास के साथ करती है और

---

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी का विकास - डा0 सूबेदार राय, पृ0 144

2. कथाकार मन्नू भण्डारी - अनिता राजूकर - पृ0 78

एक स्कूल खोल कर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो जाती है। उपन्यास की दूसरी स्त्री पात्र अमला भी पति परित्यक्ता है। वह उच्च वर्गीय परिवार की हैं अत: उसके समक्ष आर्थिक समस्या नहीं है, फिर भी वह संत्रास एवं घुटन भरी जिन्दगी जीती है। शकुन परिश्रम, साहस, आत्मविश्वास के बल पर आत्म सम्मान की जिन्दगी व्यतीत करती है। यह वर्तमान समाज के परिप्रेक्ष्य में मध्यवर्गीय नारी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अमर जो व्यवसाय से लेखक हैं दोनों की तुलना करते हुए सोचता है -

''मॉं बाप ने परित्यक्ता बेटी का मुंह देखने से इन्कार कर दिया मेरे मन में अपने आप ही एक तुलना चलती रही, एक अमला है बैठी है और घुटती है। एक यह है कैसे आत्मविश्वास और साहस से जिन्दगी का सामना करती चली आ रही है।''[1]

उपन्यास में अमला के व्यक्तित्व को नियंत्रित करनेवाले दो तत्व हैं प्रतिशोध और अहं भावना। इस प्रकार यह मनोवैज्ञानिक शैली में लिखा गया नारी मन के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्दों को चित्रित करने वाला प्रमुख उपन्यास है।

परित्यक्ता होने के कारण अमला पुरुष वर्ग से प्रतिशोध लेना चाहती है ऐसा कर के उसे आत्मतोस का अनुभव होता है। वह कैलाश को अपने जीवन में प्रवेश करने देती है। परन्तु विवाह के प्रश्न पर उसका पुरुष हंता व्यक्तित्व क्रियाशील होकर उसे अस्वीकार कर देता है। वह जीवन के लिए विवाह की जगह पर मित्रता को उपयुक्त मानती है। वह विवाह को पुरूष वर्ग की ऐसी व्यवस्था मानती है, जिससे नारी पर अधिकार किया जा सकता है। वह बन्धनहीन सुख की कामना करती है तथा पुरुष की सहानुभूति को प्रवंचना, मानती है और उसे अनावश्यक मानती है। वह स्वयं को निरीह और दुर्बल नहीं मानती

---

1. एक इंच मुस्कान : मन्नू भण्डारी, पृ0 112

उसका मानना है कि उसे किसी पुरुष के सहारे की आवश्यकता नहीं है "वह सड़ना नहीं चाहती, सूखना नहीं चाहती, बहना चाहती है ... पर निर्वन्ध और उन्मुक्त ।"[1] वह अमर को चाहती है उसके लिए मनसा आत्मसमर्पित है। उसकी कला साधना की प्रेरणा बन कर उसकी सृजनात्मक शक्ति को जगाना चाहती है "वह प्रेरणा भी देगी, सामग्री भी देगी, जो कुछ अमर चाहेगा सब कुछ देगी।"[2] मनेवैज्ञानिक दृष्टि से अमला आत्मविभाजित चरित्र की स्त्री पात्र हैं "वह अमर के अनुकूल होना नहीं चाहती अपितु अपने समर्पण और सहानुभूति से अमर को ही अपने अनुकूल बनने के लिए प्रेरित करती है। वह किसी दूसरे के लिए अपने जीवन पथ पर परिवर्तन लाना, अपनी दुर्वलता मानती है। वह अमर का भी अहसान स्वीकार करने को तैयार नहीं है।"[3] प्रतिशोध तथा अहं के कारण उसके जीवन में स्थिरता का अभाव है।

उपन्यास में नौकरी करने वाली नारी की दोहरी जिम्मेदारी एवं समस्याओं का भी चित्रण किया गया है । आधुनिक युग में नौकरी कर के आर्थिक रूप से परिवार का सहयोग करने वाली नारी का दोहरा शोषण हो रहा है उसे घर एवं बाहर दोनों जगह श्रम करना पड़ता है। पुरुष वर्ग चाहता है कि स्त्री नौकरी करें परन्तु साथ ही साथ वह घर परिवार के दूसरे कार्य भी करे। नारी की इस समस्या का भी उपन्यास में वर्णन है। रंजना औरअमर के मध्य आपसी तनाव का यही मुख्य कारण है पति-पत्नी के रिश्तों में अहम की टकराहट तथा उसके कारण उनके दाम्पत्य जीवन में कटुता के घुलते जाने की त्रासदी का मार्मिक एवं सजीव चित्रण उपन्यास में प्रस्तुत हुआ है। यह उपन्यास स्त्री के नवीन

---

1. एक इन्च मुस्कान : मन्नू भण्डारी, पृ0 112
2. एक इन्च मुस्कान: मन्नू भण्डारी, पृ0 155
3. एक इन्च मुस्कान: मन्नू भण्डारी, पृ0 155

भावबोध एवं मानसिकता को व्यक्त करती है तथा स्त्री-पुरुष संबंध कोनए संदर्भ में प्रस्तुत करता है।

आपका बंटी :

मन्नू भण्डारी का उपन्यास "आपका बंटी" में पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण भारतीय समाज में बदलते मूल्यों की और उससे उत्पन्न सामाजिक समस्या का वर्णन है। यह मनोवैज्ञानिक धरातल पर लिखी गयी सफल औंन्यासिक कृति हैं। लेखिका ने इस उपन्यास में तलाक शुदा पति - पत्नी और उनकी शिशु संतान को केन्द्र में रखकर आधुनिक स्त्री के जटिलता पूर्ण जीवन का चित्रण किया है। दाम्पत्य जीवन का विघटन और नये सिरे से नये संबन्ध बनाकर जीने का आग्रह आधुनिक नारी जीवन की एक सच्चाई हैं।

यह उपन्यास "आज के सामाजिक और द्वन्द्वात्मक परिवेश में जहाँ आधुनिक पति पत्नी, मम्मी-पापा होकर भी अपने स्वतंत्र अस्तित्व और अर्थवान होने की सार्थकता के कारण, एक अन्तहीन विसंगति में यातना का सामना करते हैं वहाँ बंटी जैसे बालक को कहीं एडजेस्ट नहीं कर पाते हैं और एक ऐसे जीवन का शिकार हो जाते हैं जो उनकी अतिरिक्त संवेदन शीलता को एक गहरी पीड़ा में बदल देता है न तो पापा का वंटी के लिए प्रेम मम्मी को इस उम्मीद को सार्थक करता है कि "एडजेस्ट" कर सकेंगे और न मम्मी ही अपने व्यक्तिगत अहं के कारण अपना कुछ खोकर बंटी के लिए उसके पापा को पाने का प्रयास करती हैं।"[1] इस प्रकार से उपन्यास में स्त्री पुरुष सम्बन्धों के मध्य अहं के टकराव एवं तलाक की समस्या और तलाक के पश्चात उसके परिणाम का बड़ा ही प्रभावपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

---

1. मन्नू भण्डारी का श्रेयष्ठ सर्जनात्मक साहित्य - डा0 बंशीधर , डा0 राजेन्द्र मिश्र, पृ0 16 .

दाम्पत्य जीवन में अहं के कारण अजय और शकुन में तलाक हो जाता है और दोनों दूसरा विवाह कर लेते हैं। बंटी न अपनी माँ के साथ रह पाता है न पिता के साथ। अन्त में उसे हास्टल भेज दिया जाता है। इस प्रकार से यह उपन्यास आज की उस सामाजिक समस्या को सीधा स्पर्श करने वाला है जो ''वूमेन लिव'' के कारण और अर्थार्जन की स्वतंत्रता के कारण उत्पन्न हुई हैं । लेखिका के अनुसार इस समस्या के लिए पुरुप की पारंपरिक वैचारिकता भी बहुत हद तक उत्तरदायी है। यहाँ पर स्त्री के नवजागरण एवं पुरुष की पारंपरिकता का उतना महत्व नहीं है जितना की इन दोनों की टकराहट से उत्पन्न होने वाली उस समस्या का है जिसके कारण नई पीढ़ी के बरबाद होने की स्थिति उत्पन्न होती है। बंटी न अपने सौतेले बाप को स्वीकार कर पाता है और न अपनी सौतेली माँ को। यह स्थिति उस समाज के संक्रमण की स्थिति है जो भारतीयता की ओर से पाश्चात्य समाज रचना की ओर उन्मुख हुई है।

समकालीन भारतीय परिवेश से बंधी नारी और उसकी पारिवारिक स्थितियों से प्रभावित बच्चे की मन: स्थितियों का चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में बड़ी कुशलता के साथ किया गया हैं।

उपन्यास में मन्नू भण्डारी ने विभिन्न स्त्री समस्याओं को जैसे—अनमेल-विवाह, दाम्पत्य जीवन के तनाव से मुक्ति की छटपटाहट और परिणाम स्वरूप विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह की समस्या तथा पुनर्विवाह के परिणाम स्वरूप स्त्री को किस प्रकार से सन्तान को लेकर मानसिक एवं भावनात्मक यंत्रणा झेलनी पड़ती हैं इन सभी का बड़ा ही प्रभाव शाली चित्रण किया हैं। पुनर्विवाह के पश्चात सन्तान किस प्रकार से माता और पिता से कट कर कहीं भी स्वयं को समायोजिक नहीं कर पाता और एक मनोवैज्ञानिक कुण्ठा का शिकार हो जाता है इन सभी समस्याओं का चित्रण कर लेखिका ने अपनी इस औपन्यासिक कृति को आज की परिवर्तित होते हुए सामाजिक संदर्भ में अत्यन्त हो प्रासंगिक बना दिया हैं।

विवाह-विच्छेद के परिणाम कितने भयंकर हो सकते हैं उसका यथार्थ चित्रण भी उपन्यास में हुआ है। उपन्यास की नायिका आपसी तनाव से मुक्ति पाने के लिए विवाह-विच्छेद कर लेती है मगर उसके पश्चात भी यातना और अकेलेपन से पीड़ित है, यह अकेलापन उसकी स्वतंत्रता को समाप्त कर देता है। उसकी स्वतंत्रता अपर्याप्त, असन्तुष्ट और अभियाची वन कर रह जाती है। वह सोचती है- ''दस वर्ष का विवाहित जीवन एक अंधेरी सुरंग में चले जाने की अनुभूति से भिन्न न था। आज जैसे एकाएक वह उसके अन्तिम छोर पर आ गई है। पर आप पहुँचने का सन्तोष भी नहीं है। ढकेल दिये जाने की विवश कचोट भर है। पर कैसा है अहंकार? न प्रकाश न खुलापन न मुक्ति का अहसास। लगता है जैसे इस सुरंग ने उसे दूसरी सुरंग के मुहाने पर छोड़ दिया है फिर एक और यात्रा वैसा ही अन्धकार वैसा ही अकेलापन।''[1] शकुन पुनर्विवाह करना चाहती है लेखिका फूफी के माध्यम से उसके दुष्परिणाम को बताती हुई कहती है ''आप तो जानती हैं कि साहब को लेकर हमारे मन में कइसा गुस्सा है । अब आप भी वही सब करेंगे .... साहब ने जो किया तो आप की मट्टी पलीद हुई और अब आप जो कर रहीं हैं, इस बच्चे की मट्टी पलीद होगी।''[2] वास्तव में लेखिका ने इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि अहं के कारण जिस घर के लोग लीक छोड़कर चलेंगे उसमें यातना, घुटन और अकेलापन ही है। परम्परा हमें बाँध कर अनेक कठिनाइयों से मुक्त कर देती है और आधुनिकता हमें मुक्त करते हुए भी अनेक उलझनों में डाल देती हैं। शकुन पुनर्विवाह कर के भी सुखी नहीं रह पाती और सोचती है ''उसके पास ऐसा कोई सुख नहीं पर ऐसी यातना जरूर है जिसे वह किसी के साथ नहीं कर सकती।''

---

1. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ0 37,38

2. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, पृ0 129

वस्तुत: लेखिका ने प्रस्तुत उपन्यास में नकली आधुनिकता से युक्त आज की महानगरीय जिन्दगी के एक पहलू की तीखी वास्तविकता का सही बोध कराने का प्रयास किया है "आज के शिक्षित समाज में टूटते हुए वैवाहिक सम्बन्धों में पिसते हुए छोटे बच्चे की त्रासदी को गहन संवेदनशीलता के साथ उकेरा है। यह आधुनिक जीवन की एक जटिलता है जिसका समाधान इस भौतिकतावादी समाज के पास नहीं है।"[1] डा0 चन्द्रकान्त पटेल ने प्रस्तुत उपन्यास की समस्या का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि: "आज की प्रमुख समस्या है व्यक्ति के अहं का निरन्तर बढ़ते जाना। स्त्री जहाँ एक ओर शिक्षित हुई है वहीं उसका अहं भी बढ़ा है।"[2] फलस्वरूप शिक्षित एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री पुरुषों के दाम्पत्य जीवन की स्थिरता पर अब एक प्रश्नचिन्ह लग गया है। उपन्यास में लेखिका का लक्ष्य मात्र खण्डित दाम्पत्य जीवन के दंश को दिखाना ही नहीं है, अपितु इसके कारण सन्तान की जो दयनीय और परवश स्थिति होती है; उसका भी प्रस्तुतीकरण करना है। इस सम्बन्ध में लेखिका का मत है कि "मैं दिखाना चाहती थी कि खण्डित माता पिता के बच्चे किन परिस्थितियों से गुजरते हैं, सबका अपना अपना व्यक्तित्व होता है। इस सारी स्थिति में बच्चे पर क्या प्रतिक्रिया होती है, यही दिखाना चाहती थी।"[3]

इस प्रकार मन्नू भण्डारी का उपन्यास "आपका बंटी" नगरीय परिवेश के शिक्षित स्त्री पुरुषों के अहम् की टकराहट तथा उसके फलस्वरूप सन्तान की दयनीय निस्सहाय अवस्था को मार्मिक एवं हृदयग्राही रूप में प्रस्तुत करता है।

'स्वामी', एवं '**महाभोज**' मन्नू भण्डारी का अन्य उपन्यास है, जिसमें उन्होंने स्त्री जीवन से जुड़े तथा सामाजिक विसंगतियों से जुड़ी समस्याओं को प्रस्तुत किया है। **'स्वामी'**

---

1. आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास : डा0 पारूकान्त देसाई, पृ0 25
2. हिन्दी के नगरीय परिवेश के उपन्यासों में मानव जीवन की समस्याएं : डा0 सी0एस0 पटेल. शोध प्रबन्ध पृ0 143
3. पत्रिका संचेतना का 'समकालीन उपन्यास अंक' दिसम्बर 1991 पृ0 63

में जहाँ प्रेम के त्रिकोण का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में लेखिका को सफलता मिली है वहीं उनका उपन्यास 'महाभोज' राजनीतिक परिवेश की कुरूपताओं और विसंगतियों को सामाजिक फलक पर प्रस्तुत करता है। इसका यथार्थ बोध व्यापक परिवेश में फैली संवेदना का सूचक है। इनके उपन्यास 'स्वामी' में नारी मनोविज्ञान को कलात्मक सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। इसमें एक सहज मानवीय अन्तर्द्वन्द्व की कोमल कथा प्रस्तुत की गई है। संबन्धों के मध्य गहरी होती हुई दरारें, पात्रों की आरोह अवरोहमयी मानसिकता, गहन अन्तर्द्वन्द्व, अपने आस पास के परिवेश से लिए गए कथानक, लीक से हटे हुए लेखन के अपने तेवर, संवादों से उत्पन्न भाषा की अकृतिम बुनावट और सहज ढंग से अपनी बात कहने की कला मन्नू भण्डारी के पास है। इनसे ही इन्होंने हिन्दी उपन्यास साहित्य को समृद्ध किया है।

कुसुम अंसल :

स्त्री उपन्यास कारों में कुसुम अंसल ने अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। इनका उपन्यास लेखन यह प्रमाणित करता है कि उन्होंने तत्कालिक प्रश्नों से सर्वकालिक प्रश्नों की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ की है। विषय वैविध्य की दृष्टि से इन्होंने जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने उपन्यास लेखन में स्पर्श किया है। इनकी उपन्यासों में सामाजिक विडम्बनाओं पर खुला प्रहार हुआ है और प्रेम के अनुभवों को नवीन विश्वनीयता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इन्होंने विवाह संस्था की एकरसता को चुनौती दी है और विवाह के खोखलेपन को उजागर भी किया है तथा कोमलतम् अनुभवों को भी इन्होंने सहज स्वाभाविक ढंग से अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति प्रदान की है। इनका विषय क्षेत्र नारी मनोविज्ञान से जुड़ा हुआ है। समाज एवं परिवार में व्याप्त नारी शोषण एवं उनसे उद्भूत ज्वलन्त समस्याएं तथा विडम्बनाएं इनके उपन्यास के प्रमुख विषय हैं। ये उपन्यास आधुनिक परिवेश एवं परिस्थितियों में नारी जीवन को विभिन्न विडम्बनाओं को अपने ढंग से व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। इन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक सशक्त उपन्यास दिये हैं। स्त्री विमर्श को नवीन संदर्भ में प्रस्तुत करने वाले इनके प्रमुख उपन्यास निम्न हैं:-

उसकी पंचवटी :

इस उपन्यास में लेखिका ने प्रेम और नैतिकता की समस्या को बड़े तीखे रूप में उभारने का सार्थक प्रयास किया है। इसमें लेखिका ने एक ऐसी नारी की कथा का वर्णन किया है जो समाज द्वारा निर्धारित लीक या मानदण्डों को नहीं मानती और नवीन पथ का निर्धारण करती करती है। इस उपन्यास में पति-पत्नी के मध्य असामन्जस्य की स्थिति में विखण्डित होते परिवार की समस्या को उठाया गया है। उपन्यास की नायिका एक ऐसी स्त्री है जो परिवार की सारी सुख सुविधाओं को पाने के लिए तथा अपना अर्थ पाने के लिए विकल है। लेखिका ने "पंचवटी" के प्रतीक का प्रयोग कर काफी साहस का परिचय दिया है। "इसमें सामाजिक नैतिकता के स्थान पर व्यक्तिगत नैतिकता की स्थापना की आकांक्षा लक्षित होती है। राम और सीता जैसे सामाजिक रूप से आदर्श दंपत्ति की निवास स्थली 'पंचवटी' को जब वह सामाजिक रूप से नितान्त मर्यादा हीन विक्रम और साधवी जैसे प्रेमी युगल की अभिसार स्थली का प्रतीक बनाती है, तो समाज की नैतिकता से व्यक्ति की नैतिकता को अधिक महत्व देती है"[1] स्त्री की स्थिति को नवीन संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के कारण हिन्दी उपन्यास साहित्य में इस उपन्यास का विशिष्ट स्थान है। स्त्री दृष्टि को नवीन आयाम प्रदान करते हुए लेखिका की स्त्री पात्र सुख सम्पन्नता की भाषा छोड़कर एक ऐसी दुनिया में प्रवेश करती है, जहाँ शब्द है और उसके पीछे संवेदना से छलछलाती दुनियाँ है। यहीं कुछ नए संबन्ध बनते हैं और कुछ नयी असलियतों की पहचान भी । प्रेम के नये अर्थ खुलते हैं । इस उपन्यास के माध्यम से कुसुम अंसल ने आज की स्त्री के भीतरी खालीपन को एक संयत अभिव्यक्ति दी है।

---

1. हिन्दी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य - सं0 डा0 महीपसिंह पृ0 166

अपनी-अपनी यात्रा :

इस उपन्यास में लेखिका ने यह अंकित किया है कि "जीवन एक यात्रा है और हर पात्र अपने अपने ढंग से उस यात्रा को तय करता है। सत और असत के द्वन्द्व में ही संपूर्ण जीवन यात्रा आगे बढ़ती है। कोई थक कर चूर हो जाता है, कोई मिट कर खत्म हो जाता है और कोई अनवरत वढ़ता जाता है। जीवन यात्रा के मध्य अनेकानेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जिनका समाधान कभी हो पाता है और कभी नहीं हो पाता ।"[1] इस सन्दर्भ में यह उपन्यास एकाकी जीवन व्यतीत करने वाली नारी के अन्तर्मन की व्यथा का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है। इसमें अकेलेपन, ऊब घुटन एवं तनाव की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है। आधुनिक समाज में एकाकी नारी जीवन का प्रचलन बढ़ रहा है। समाज एकाकी जीवन व्यतीत करने वाली नारी के समक्ष विभिन्न समस्याएं एवं बाधाएं उत्पन्न करता है फलस्वरूप उसे विभिन्न मानसिक कष्ट उठाना पड़ता है, मगर इन अनेक बाधाओं एवं कष्टों को वहन करती हुई आज की नारी ने एकाकी जीवन की चुनौती को स्वीकार किया है। आज के समाज को देखते हुए यह सहज रूप में स्पष्ट हो जाता है कि मात्र विवाह ही एकाकीपन की समस्या को दूर करने का समाधान नहीं है। इसी बात को उपन्यास में वर्णित करने का प्रयास हुआ है । उपन्यास की नायिका सुरेखा एकाकी जीवन व्यतीत करती है, और सोचती है - "अकेलापन और भी कितनों का है? क्या शिव अकेला नहीं है? मित्रा भी तो? क्या दुनियावी तौर पर विवाह कर लेने से किसी का एकाकी पन मिट जाता है।"[2] इस प्रकार लेखिका ने प्रस्तुत उपन्यास में समाज की विभिन्न समस्याओं को नवीन दृष्टि प्रदान की है और नारीमन को मनोवैज्ञानिक ढंग से देखा परखा और अभिव्यक्त किया है। उपन्यास की

---

1. हिन्दी की महिला उपन्यास कारों की मानवीय संवेदना - डा0 उषा यादव, पृ0 97

2. अपनी-अपनी यात्रा कुसुम अंसल, पृ0 81

सार्थकता इस बात में भी है कि इसमें आधुनिक जीवन में व्याप्त अकेलेपन, अजनबीपन, घुटन, तनाव एवं संत्रास को स्त्री जीवन के संदर्भ में देखने, समझने तथा विश्लेषित करने का सार्थक प्रयास दृष्टिगोचर होता है।

अपने उपन्यास '**उस तक**' में लेखिका ने समाज द्वारा शोषित निम्न मध्यवर्गीय लड़की की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है। इस प्रकार लेखिका ने अपनी उपन्यासों में नारी विमर्श को विस्तृत फलक प्रदान कर उपन्यास साहित्य में स्त्री विमर्श के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है ।

निरूपमा सेवती :

उपन्यास लेखन में निरूपमा सेवती का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इनके लेखन में स्त्री विमर्श को एक नवीन दृष्टि प्रदान की गई है। स्त्री उत्पीड़न, मध्यवर्गीय संघर्ष निम्न वर्गीय जीवन की दयनीय स्थिति, उच्च वर्ग की उपभोक्तावादी मनोवृत्ति और इन सब के बीच नारी चेतना, नारी अस्मिता और उसके गौरव के लिए निरन्तर संघर्ष करना इनके लेखन के नवीन आयामों को व्यंजित करता हे।

निरूपमा सेवती के उपन्यासों के पात्र महानगरीय जीवन की दौड़ में अपने अस्तित्व एवं अस्मिता की तलाश में संघर्षरत है और शोषण जनित विवशताओं से मुक्ति पाने की मानसिकता से युक्त हैं। लेखिका ने अपने उपन्यास लेखन में - "नियति और दुख के भयावह खड्ड के कगार पर झूलते हुए यही पाती है कि चाहे जीवन में हो या रचना, में वेदना और पीड़ा की अनिवार्यता को स्वीकार कर के चलना होता है।"[1] महिला उपन्यासकारों में इन्होंने विशेष ख्याति अर्जित की है। वैचारिकता की दृष्टि से इनके उपन्यास

---

1. सारिका अक्टूबर 1973. पृ0 84

अपनी कोटि के अकेले हैं। ''पतझड़ की आवाजें'', ''मेरा नरक अपना है'', ''दहकन के पार'', ''बँटता हुआ आदमी'', इनके प्रमुख उपन्यास हैं जिसमें लेखिका ने विभिन्न आयामों से स्त्री समस्या को दृष्टि प्रदान की है और विभिन्न सामाजिक विसंगतियों पर प्रकाश डाला है। स्त्री की करुणा एवं संवेदना के आयतन में ही इन उपन्यासों को घनत्व और विस्तार प्राप्त हुआ है।

पतझड़ की आवाजें :

पतझड़ की आवाजें निरूपमा सेवती की एक प्रमुख उपन्यास है यह कथा क्षितिज पर एक नए आयाम की घोषणा है। इस उपन्यास की नायिका अनुभा आधुनिक नारी के स्वत्व व स्वाभिमान का प्रतिनिधित्व करती है। उपन्यास में कामकाजी स्त्रियों की समस्याओं को भी उभारा गया है। यह उपन्यास नौकरी में कार्यरत नारी की दुनिया उसके द्वन्द्व, बदलती हुई नैतिक धारणाओं के मध्य उसके घर और बाहर के संघर्ष को निर्भीक एवं मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करता है। उपन्यास की नायिका अनुभा आधुनिक नारी है और वह आधुनिक नारी के स्वत्व, स्वाभिमान, संघर्ष एवं जीवट का प्रतिनिधित्व करती है। नारी के स्वाभिमान की रक्षा उसके जीवन का मुख्य आयाम है। अनुभा एक ऐसी नारी है जो अधिक संवेदनशील और अधिक सजग है। वह आधुनिकता को स्वच्छन्द आचरण का पर्याय न मान कर उसे 'जागरूकता' का नाम देती है – ''दिमाग का खुलापन जो आदमी को दमघोटू नियमों ओर सामाजिक कायदों से मुक्त करता है।''[1] यही कारण है कि यह परम्परा से भिन्न है।

अनुभा के निम्न मध्यमवर्गीय परिवार को विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक विभीषिकाओं से गुजरना पड़ता है आर्थिक विपन्नता के कारण उसके परिवार को बदनाम मोहल्ले में रहना पड़ता है और इसी कारण उसकी सगाई टूट जाती है।

---

1. पतझड़ की आवाजें - निरूपमा सेवती, पृष्ठ 122

अपने परिवार को आर्थिक संकट से मुक्त करने के लिए वह नौकरी करती है और समाज की विसंगतियों से साहस के साथ संघर्ष करती है। वह अपनी योग्यता प्रतिभा और बुद्धि के सहारे जीवनपथ पर आगे बढ़ना चाहती है अत: किसी भी प्रकार का गलत समझौता करने को तैयार नहीं होती है और अपने चारित्रिक दृढ़ता के बल पर वह सी0 के0 जैसे अधिकारी के चंगुल से बच निकलती है। अनुभा के अतिरिक्त उपन्यास में सुनीला और उषा दो नारी पात्र और हैं। सुनीला का बाह्य व्यक्तित्व तो उदासी से रहित है मगर वह अर्न्ततम से अत्यन्त ही दु:खी एवं उदास है। उषा स्वच्छन्द विचारों वाली एवं स्वच्छन्द आचरण वाली स्त्री है और उसका दृष्टिकोण उपयोगिता वादी है।

इस प्रकार निरूपमा सेवती ने अपने उपन्यास 'पतझड़ की आवाजें' में नौकरी पेशा नारी की उन समस्याओं को उठाया है जो इनके जीवन को उलझातीं हैं। वह एक के बाद दूसरे पुरुष के साथसम्बन्ध स्थापित करती है लेकिन यह स्थायी रूप धारण नहीं करता। इनके अपने अपने अनुभव हैं, इनका अपना अपना अतीत है, लेकिन इनका भावी जीवन अनिश्चित है, संदिग्ध है। निरूपमा सेवती ने बड़ी ही सूक्ष्मता से इनका विश्लेषण एवं विवेचन किया है।

इस उपन्यास का उद्देश्य परम्परागत प्रेम और स्वच्छन्द यौन आचरण का विरोध करने में लक्षित होता है और यह निरूपमा सेवती के उपन्यास कला की विशेषता है। इस उपन्यास की सभी स्त्री पात्र विवाह की कामना तो करते हैं, स्थायी रूप से वैंवाहिक जीवन व्यतीत करना चाहती हैं, लेकिन व्यतीत नहीं कर पाते। लेखिका ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि वर्तमान समाज में आधुनिक नारी की नियति अभिशप्त है जो उपन्यास के समस्त वातावरण पर मॅडराती रहती है।

यह उपन्यास परम्परा से इसलिए भी भिन्न है क्योंकि इसमें स्त्री पुरुष की समकालीन समस्याओं को उठाकर उसका समाधान न प्रस्तुत करने की विवशता दृष्टिगोचर होती है।

इसमें आधुनिक स्त्री की उस अभिशप्त नियति का उद्घाटन है, जिसमें वहनौकरीपेशा है, विवाह की इच्छा रखती है, जीवन में स्थाइत्व चाहती है, लेकिन किसी न किसी परिस्थिति के कारण उसकी यह आकांक्षा अधूरी रह जाती है। अनुभा, सुनीला एवं उषा के माध्यम से लेखिका ने नारी के अन्तर्मन की इसी त्रासदी का संस्पर्श किया है। उपन्यास में नौकरीपेशा अविवाहित नारी की अभिशप्त नियति का संवदेनील एवं प्रभावशाली वर्णन है।

बँटता हुआ आदमी :

इसमें निरूपमा जी ने आज के विभाजित एवं खण्ड-खण्ड होते हुए व्यक्तित्व एवं मानसिकता वाले मूल्य रहित जीवन की वेदना को अभिव्यक्ति दी है। इसमें लेखिका ने फिल्मी परिवेश की यान्त्रिकता, नीरसता, सम्बन्धों का आर्थिक आधार तथा उसकी भ्रष्टता का यथार्थ पूर्ण ढंग से चित्रण किया है। फिल्मी परिवेश और फिल्मी जीवन में आदर्श कितने खोखले हो जाते हैं और नैतिकता किस प्रकार से खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाती है, इसका सहज चित्रण हुआ है। इसमें लेखिका ने यह चित्रित करने का प्रयास किया है कि आज के आधुनिक समाज में व्यक्ति नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों के सहारे नहीं जी सकता, क्योंकि आज के युग में व्यक्ति आकण्ठ भ्रष्टाचार में लिप्त है और जीवन के विरोधी मूल्य ही, सही जीवन मूल्य बन गये हैं। भ्रष्टाचार, बेईमानी चापलूसी और शिफारिश के साम्राज्य में प्रतिभाशाली और परिश्रमी व्यक्ति बेकार होता जा रहा है और उसे नैतिकता का सहारा छोड़कर अनैतिक मार्ग पर चलना पड़ रहा है उपन्यास का नायक शरद ऐसा ही पात्र है जिसका यह मोह भंग होता है कि "पहले की खुशफहमी टूट गई कि जिंदगी के सांचे खुद तैयार किये जा सकते हैं।" और वह टूट कर गलत रास्ता अपना लेता है और स्मगलिंग करने वाले गिरोह में शामिल हो जाता है।

इस प्रकार से यह उपन्यास सुनन्दा और शरद की चेतना के बंटने और बिखरने की कथा व्यथा को चित्रित करता है और सुनन्दा के माध्यम से स्त्री जीवन की त्रासदी को भी व्यक्त करता है।

मेरा नरक अपना है :

इस उपन्यास में लेखिका ने बदलते सामाजिक सन्दर्भों को आत्मसात किया है, उपन्यास में पति, प्रेमी और पत्नी के त्रिकोणात्मक प्रेम से उत्पन्न समस्याओं ओर उसके दुष्परिणामों को चित्रित किया गया है । उपन्यास की नायिका शीला पति को समाज के भय से छोड़ती नहीं है और प्रेमी से सम्बन्ध बनाये हुए है, जिसका प्रभाव उसकी लड़कियों पर पड़ता है और उनका गलत सामाजीकरण होता है। फलस्वरूप उनका आचरण स्वच्छन्दता पूर्ण होने के कारण बड़ी पुत्री कुँवारी माँ बन जाती हैं। इस प्रकार सामाजिक विसंगतियों का वर्णन और उसके दुष्परिणाम का चित्रण करना ही उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है।

दहकन के पार :

उपन्यास में निरूपमा सेवती ने कुँवारे मातृत्व की समस्या उठायी है और धार्मिक अन्धविश्वास तथा अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को भी प्रस्तुत किया है। संवेदना के स्तर पर यह विशेष महत्वपूर्ण कृति है। उपन्यास की नायिका तुषार का असलम से सम्बन्ध है और वह कुँवारी माँ बनती है क्योंकि न वह और न असलम ही धर्म परिवर्तन को तैयार होते हैं। फिर साम्प्रदायिक दंगे में असलम की हत्या हो जाती है। उपन्यास का अन्य पुरुष पात्र इकवाल उसकी सहायता करता है। इस प्रकार उपन्यास में नारी की स्थिति को, नर नारी सम्बन्धों को एवं कुँवारे मातृत्व की समस्या को लेखिका ने एक नवीन दृष्टि एवं नवीन आयाम प्रदान करके स्त्री विमर्श को विस्तृत क्षितिज प्रदान किया है।

इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने आधुनिक जीवन की भाग दौड़ भरी जिंदगी में अपने अस्तित्व व अस्मिता की तलाश करती हुई स्त्री का चित्रण किया है। शोषण जनित विवशताओं से उबरने में व्यक्ति के प्रयास, मानवमन से गहन संपृक्ति और गहरी संवेदनशील दृष्टि प्रदान करना ही इस उपन्यास का मुख्य ध्येय है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि निश्चय ही आज की हिंदी उपन्यास लेखिकाओं में निरूपमा सेवती का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके उपन्यासों में विचारों एवं चिन्तन की प्रधानता है, समाज की समसामयिक परिस्थितियों का चित्रण है और उन परिस्थितियों से उदभूत होने वाली समस्याओं, विसंगतियों एवं दर्द की अनुभूतियों की मुखर अभिव्यक्ति है।

दीप्ति खण्डेलवाल :

समकालीन महिला उपन्यास कारों में दीप्ति खण्डेलवाल का विशिष्ट स्थान है लेखन में इनका मूल स्वर कवियित्री का था किन्तु जीवन संघर्षों के ताप ने कोमल स्वरों को झुलसा दिया और निर्मम यथार्थ को चुनौती के रूप में ग्रहण करके उन्होंने उपन्यासों का सृजन प्रारम्भ किया। आन्तरिक उत्पीड़न और विवशता के भँवर में उलझी नारी के जीवन को व्यक्त करने वाले इनके उपन्यास सहजता, संवदेनशीलता एवं भाषा की मार्मिकता से युक्त हैं। अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज में स्त्री का एक स्त्री होने के अर्थ, उसके व्यक्तित्व विकास के टेढ़े-मेढ़े रास्ते और स्त्री होने के कारण उसके समक्ष उभरते हालात ओर दबावों को बड़ी ही विश्वसनीयता से देखा और जाना जा सकता है।

इनके उपन्यासों में अपनी स्वतंत्रता के लिए आग्रह करती तथा अपनी शर्तों पर जीना चाहती स्त्री के समक्ष उत्पन्न दु:ख एवं अभावों के बहुत से कोणों को खोला गया है। साथ ही पुरुष की वह मानसिकता भी उभर कर सामने आई है, जो जाने अनजाने स्त्री को उत्पीड़ित कर के अपने पुरुष होने की श्रेष्ठता महसूस करती है। समाज के नग्न यथार्थ को बड़ी ही सच्चाई से इनके उपन्यासों में अभिव्यक्त किया गया है। संबन्धों और संवेदनाओं की तह पर पहुँचकर उनका प्रभावशाली चित्रण दीप्ति खण्डेलवाल के उपन्यास लेखन की विशेषता है। 'प्रिया', 'कोहरे' तथा 'प्रतिध्वनियँ' उपन्यासों में स्त्री विमर्श को नवीन संदर्भ

प्रदान किया गया है। इन उपन्यासों में संवेदनाओं की गहरी पकड़ और बौद्धिक स्तर पर उनकी तीखी औरआक्रामक अभिव्यक्ति देखने योग्य है। नारी जीवन की विडम्बनाओं का सजीव चित्र तथा संवेदना और बौद्धिकता के संयोग का भी प्रभावशाली प्रस्तुतीकरण दर्शनीय है।

प्रिया :

दीप्ति खण्डेलवाल के इस उपन्यास में नारी शोषण एवं उत्पीड़न की मार्मिक एवं यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। इसमें नारी के स्वतंत्रत व्यक्तित्व एवं स्वाभिमान का रेखांकन ही लेखिका का अभीष्ट है। राधा, सौदामिनी, प्रिया और चित्रा ... ये सभी प्रताड़ित छलित और तिरस्कृत नारियाँ हैं। यशवन्त, अरूण, मनसिज तथा सुरेश ... ये सभी स्त्री शोषक पुरुष पात्र हैं। इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका के द्वारा आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री-पुरुष के विकृत और विषम संबन्धों को उजागर किया गया है। इसमें पुरुष. के प्रति नारी की कटु अनुभूतियों का संवेदन पूर्ण यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में पिता, पुत्री और पुत्री की सन्तान के जीवन का वर्णन करके तीन पीढ़ियों के माध्यम से प्रेम के बदलते हुए स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। जहाँ रवि (पिता) पहली पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है और इस पीढ़ी के स्त्री पुरुष संबन्धों की यथार्थ अभिव्यक्ति इसके द्वारा होती हैं वहीं उसकी पुत्री दूसरी पीढ़ी की है, इस पीढ़ी में पति-पत्नी सम्बंन्ध दूसरी तरह के हैं। इसमें पति अपनी पत्नी को दूसरों को सौंप देने में झिझक महसूस नहीं करता और तीसरी पीढ़ी में सामाजिक मान्यताएं एवं मूल्य इतनी तीव्र गति से परिवर्तित होते जा रहे हैं कि मूल्य हीनता की स्थिति में प्रिया विवाहपूर्व ही ऐसे पुरुष से संबंध स्थापित कर लेती है जो विवाहित है। वह उसे गर्भवती करके उससे छुटकारा पाने के लिए विदेश चला जाता है। अन्त में प्रिया अविवाहित रहने का फैसला करती है और आधुनिक नारी की अस्मिता, उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को लेकर नारी चेतना का बिगुल बजाती है। इसके लिए उसे कितना

मूल्य चुकाना पड़ता है लेखिका द्वारा यह प्रश्न भी उठाया गया है। इसमें यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि आधुनिक युग में नारी की नियति अभिशप्त है। प्रेम का स्वरूप इतना बदल चुका है कि न तो उसमें नारीत्व को निरूपित किया जा सकता है और न ही सतीत्व को । इस प्रकार से यह उपन्यास सामाजिक मान्यताओं एवं परम्पराओं के प्रति स्त्री के नवीन दृष्टिकोण एवं उसके विरुद्ध व्यक्त अस्वीकार को प्रस्तुत करता है।

कोहरे :

आठवें दशक के उपन्यासों में आधुनिक जीवन को जीते, भोगते स्त्री-पुरुष संबन्धों को सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रदान की है। आधुनिक युग में शिक्षित स्त्री-पुरुष का अति वैयक्तिक होना, नारी का अपने अस्तित्व के प्रति द्वन्द्वरत होना और नए-पुराने मूल्यों के बनने-बिगड़ने के द्वन्द्व का 'कोहरे' उपन्यास में चित्रण है। आज के परिवर्तित परिवेश में पारंपरित मूल्य खण्डित हो गए हैं एवं नए मूल्य निर्मित हो रहे हैं। इस संदर्भ में

यह उपन्यास परिवर्तित जीवन मूल्यों, आधुनिक जीवन की छद्म शैली तथा स्त्री पुरुष संबन्धों परखुली दृष्टि डालता है। उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है। कोहरा आधुनिक जीवन का प्रतीक है। जिस प्रकार कोहरे में कुछ स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार आधुनिक जीवन भी अस्पष्ट है। कोहरे में घिरे वे अपने आगे दूर तक नहीं देख पाते, उनके दिशा बोध बिगड़ जाते हैं जिसकी परिणति तलाक में होती है। उपन्यास के माध्यम से जीवन मूल्यों में तीव्रता से आने वाले इस परिवर्तन को स्पष्ट किया गया है इसमें लेखिका ने आधुनिक परिवार में टूटते संबंध तथा स्त्री पुरुष के मध्य टूटते प्रेम का चित्रण किया है। उपन्यास की नायिका स्मिता सुनील से प्रेम विवाह करती है, किन्तु दोनों में परस्पर सामंजस्य न होने के कारण संबन्धों में तनाव उत्पन्न होता है और इस तनाव की परिणति विवाह विच्छेद के रूप में होती है।

प्रस्तुत उपन्यास में प्रणय, परिणय एवं तलाक के मध्य सिसकती नारी अपने अस्तित्व के प्रति द्वन्द्वरत है। सुनील एवं स्मिता के संबन्धों में तनाव 'अस्तित्व' के प्रश्न को लेकर उभरता है। स्मिता यह महसूस करती है कि "एक अमूर्त कोहरे के बीच आमने-सामने खड़े सुनील और मैं एक दूसरे के लिए अस्पष्ट हो चुके थे ---- हमारी पहचान की रेशमी धूप के बीच स्याह कोहरे उभर आए थे ---- स्याह धुन्धलके, अंधेरे के साये जैसे ---।"[1] डा0 मन्जुला गुप्ता का मानना है कि "उपन्यास में यह संकेत अनेक बार मुखरित हुआ है कि पुरुष उन्मुक्त रहता है, वह बँध कर भी नहीं बँधता जबकि नारी नैसर्गिक रूप से ही बन्धनों में बंधती चली जाती है — प्रणय, परिणय और फिर मातृत्व के। लेकिन जब बन्धनों का रेशमी पाश घुटन बनने लगता है और 'अस्तित्व' को भी नकारने लगता है, तो नारी इन बन्धनों से छूटकारा पाने के लिए द्वन्द्वरत हो उठती है।"[2]

सुनील से अलग होकर स्मिता को यह आभास होता है। कि स्त्री-पुरुष के सहारे के बिना नहीं रह सकती। प्रशान्त से परिचय होने पर वह सोचती है -." मुझे प्रशान्त से अविलम्व विवाह कर लेना चाहिए... प्रेम बाद में होता रहेगा। " इस प्रकार उपन्यास कार ने प्रेम विवाह के परिवर्तित रूप को चित्रित किया है ओर इस प्रकार के विवाह को व्यंग की दृष्टि से आंका है।

लेखिका ने इस उपन्यास में समाज के उस वर्ग को आधार वनाया है जो न केवल शिक्षित अपितु स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की दृष्टि से मुक्त आचरण में विश्वास करताहै। आज की नारी स्वतंत्र आचरण की ओर झुक रही है। उसका प्रेम रोमांटिक बोध से नहीं अपितु

---

1. कोहरे : दीप्ति खण्डेलवाल, पृ0 21

2. हिन्दी उपन्यास : समाज व व्यक्ति का द्वन्द्व -डा0 मंजुला गुप्ता, पृ0 188

समकालीन बोध से प्रेरित है, इसी लिए पुरुष की अधिकार भावना उसके व्यक्तित्व को चोट पहुँचाती है ।आज की नारी आधुनिक बोध से अनुप्राणित होकर पर पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार के पाप का बोध नहीं करती। इस प्रकार से लेखिका ने इस उपन्यास मे यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आज की नारी को यह समझना होगा कि आधुनिकता उच्छृंखलता का पर्याय नहीं। प्रतीक के रूप में परम्परा को 'बुरा' और आधुनिकता को 'भला' मान कर उसे कोई निर्णय नहीं लेना है। उसे मर्यादित स्वतंत्रता तथा अमर्यादित उच्छृंखलता के मध्य अन्तर को समझना होगा और चुनौतियों को स्वीकार करना होगा। नारी को पुरुष का आश्रय नहीं पुरुष का सहयोग चाहिए, और वह पुरुष से मुक्ति पा कर नहीं अपितु पुरुष के सहयोग से जीवन में विकास कर सकती है आधुनिक युग में मूल्यहीनता के इसी संदर्भ को प्रस्तुत करना इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है।

वस्तुतः आधुनिकता बुरी नहीं है आधुनिकता तो एक गत्यात्मक प्रगतिकामी, समाजोन्मुखी प्रक्रिया है खतरा तो उन आधुनिकता वादियों से है, जिन्होंने जीवन के पतनोन्मुखी मूल्यों को ही कलात्मकताकी संज्ञा दी है। कोई भी कला यदि सच्चे अर्थों में कला है तो वह जीवन विरोधी हो ही नहीं सकती डा0 शिव कुमार मिश्र ने इस 'आधुनिकतावाद' को न केवल इतिहास विरोधी बल्कि मनुष्य विरोधी और अन्ततः कला विरोधी भी बताया है।''[1]

इन अर्थों में ''कोहरे'' का सुनील आधुनिक न होकर तथाकथित आधुनिकता वादियों की भीड़ में सम्मिलित हो जाता है। पत्नी के कविता लिखने पर वह कहता है ''आप कविता लिखेंगी तो सिर्फ मेरे लिए....... छपने छपाने के लिए नहीं।'' स्मिताके

---

1. आलोचना के प्रगतिशील आयाम : डा0 शिव कुमार मिश्र, पृ0 64

पूछने पर कि तुमने कहा था कि मेरे अस्तित्व को जीने दोगो ? वह सब क्या था? उत्तर में सुनील कहता है, ''कहा था लेकिन तुम मेरे ढंग से अपनी इंडीविजुएलिटी को बनाये रख सकती है। अपने ढंग से नहीं''[1] परन्तु स्मिता एक आधुनिक स्त्री है अत: वह कहती है ''मैं हृदय के साथ बुद्धि भी रखती हूँ ..... अधिकार दूँगी तो लूँगी भी। चेतना के जीवन के स्वप्न और यथार्थ के सारे संदर्भ ही नहीं, अर्थ भी बदल चुके हैं।''[2]

स्पष्ट है कि शिक्षित युवा पीढ़ी ने पुराने मूल्यों को नकारा है। आज की शिक्षित नारी अपने अधिकारों के प्रति सचेत है, वह पुरुष से समानाधिकार की अपेक्षा करती है एवं अपने अस्तित्व के प्रति सजग है। अत: कोहरे उपन्यास में लेखिका का उद्देश्य सुनील औरस्तिमा के माध्यम से आज के बदलते सामाजिक परिवेश में खण्डित दाम्पत्य जीवन की समस्या एवं मूल्य हीनता से उत्पन्न विसंगतियों को चित्रण करना है लेखिका अनेक अनिश्चितताओं पूर्ण आधुनिक जीवन को कोहरे की भाँति मानती हैं । इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि ''कोहरा अन्धकार नहीं होता.... कि कुछ दिखाई न पड़े .... किन्तु कोहरे में चलते अगले कदम स्पष्ट नहीं होते ..... कोहरा एक अस्पष्टता ; एक अनिश्चितता एक उलझन सा होता है। ''[3]

मृदुला गर्ग :

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में जो महिला लेखिकाएं सक्रियता से लेखन रत रहीं उनमें मृदुला गर्ग का नाम उल्लेखनीय है। नारी वर्जनाओं को तोड़ते इनके उपन्यास

---

1. कोहरे : दीप्ति खण्डेलवाल, पृ0 25
2. कोहरे : साप्ताहिक हिन्दुस्तान 3.7.78 पृ0 95
3. कोहरे : दीप्ति खण्डेलवाल, पृ0 5

स्त्री विमर्श को एक नवीन आयाम प्रदान करने में सफल रहे हैं। मृदुला गर्ग के लगभग सभी उपन्यासों में आधुनिक नारी की जटिल मानसिकता और अस्मिता का संघर्ष देखा जा सकता है । "मृदुला गर्ग का उपन्यास लेखन नारी केन्द्रित हो कर भी आधुनिक बोध को धारण किये हुए हैं। इनका लेखन नवीन तेवर से युक्त है। सहानुभूति न वे चाहती हैं और न बाँटती हैं । स्वाभिमान उनमें कूट कूट कर भरा है। वे सत्य के एक अंश को लेकर उसे व्याख्यायित नहीं करती अपितु उसको सम्पूर्णता में ग्रहण करती हैं। उनका मानना है कि उपन्यास हमारे जीवन की विडम्बना को आकृति देता है। "[1] मृदुला जी का लेखन स्वतंत्र लेखन है किसी दुराव छिपाव का उसमें कोई स्थान नहीं है। उनके लेखन में जैविक तृष्णाओं की सहज एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है उनके अनुसार प्रेम ही जीवन को समझने का माध्यम है उनका कहना है कि - "जीवन को उसके समग्र और उदात्त रूप में जानने पहचानने के लिए प्रेम से अधिक उपयुक्त माध्यम नहीं मिल सकता ।"[2]

एक सूक्ष्म पारदर्शी वेदना धारा उनके लेखन और व्यक्तित्व में बहती हुई दृष्टिगोचर होती है। वह कभी हँसी के नीचे झलकती है कभी, शुद्ध त्रासदी बन कर उभरती है। इनका लेखन सार्वभौम भगिनीवाद और "पर्सनल इज पोलिटिकल" के आदर्शों से प्रभावित है। पूरब और पश्चिम दोनों में स्त्री के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक शोषण का सामना इनके उपन्यास के स्त्री पात्र आत्मिक बल और आपसी संगठन से करते हैं। इन्होंने पति-पत्नी के बीच स्थापित दाम्पत्य जीवन के बनते -बिगड़ते तेवरों पर लीक से हट कर लेखन किया है।

---

1. हंस : जनवरी 1999 पृ0 107

2. चित्तकोबरा : मृदुला गर्ग , पृ0 6

उसके हिस्से की धूप :

मृदुला जी का यह उपन्यास प्रेम जीवन पर एक सुन्दर मनोवैज्ञानिक उपन्यास है इस उपन्यास में त्रिकोणात्मक प्रेम कहानी को आधार बनाया गया है। जीतेन मधुकर और मनीषा उपन्यास के केन्द्रीय पात्र हैं । मनीषा जीतेन की पत्नी है जीतेन काम में इतना व्यस्त है कि मनीषा अपने को उपेक्षित पाती है। उपन्यास का लक्ष्य मानव मात्र के लिए स्वतंत्रता की मांग करना है। इस तरह यह उपन्यास आधुनिकता के नवीन मानदण्ड उपस्थित करता है। जीतेन से उपेक्षित अनुभव करती हुई मनीषा का झुकाव मधुकर की ओर हो जाता है इस सम्बन्ध में गोविन्द रजनीश का मत है कि "इसमें परम्परागत विवाह की एकरसता, जीतेन की उदासीनता और सृजनाशील मन की निष्क्रीय बैचेनी से ऊब कर मनीषा मधुकर की भावुकता की ओर आकृष्ट होती है।"[1] इस सम्बन्ध में जीतेन कहता है कि "यह महज आकर्षण है। जब वह चुक जायेगा तो क्या करोगी ? प्रेम जरूर चुक जाता है यही उसकी नियति है और यही उसकी त्रासदी।"[2]

लेखिका ने उपन्यास में यह स्पष्ट किया है कि वर्तमान जीवन की यांत्रिकता ने मनुष्य को जड़ एवं नीरस बना दिया है और यह नीरसता दाम्पत्य जीवन को खोखला कर रही है। जीतेन धीर गम्भीर तथा सज्जन है मनीषा के मधुकर के प्रति झुकाव के प्रति उदार दृष्टि रखता है परन्तु "पुरुष में खराब आदतों का अभाव तथा सज्जनता हो उतना ही एक पत्नी के लिए पर्याप्त नहीं। इसके अतिरिक्त उसका थोड़ा रोमेन्टिक तथा अत्यन्त प्रेमालु होना भी जरूरी है।"[3] और मनीषा ज़ीतेन से विवाह-विच्छेद कर के मधुकर से पुनर्विवाह कर लेती है ।

---

1. समीक्षा, मई जून 1976 पृ0 26-27
2. समीक्षा, मई जून 1976, पृ0 27
3. उसके हिस्से की धूप, मृदुला गर्ग , पृ0 28

जब मनीषा की भावुकता समाप्त होती है तो उसे जीतेन के प्रति प्रेम की तड़प का अनुभव होता है और वह अन्त में जीवन से समझौता कर पति रूप में मधुकर को ही स्वीकार करती है।

उपन्यास में लेखिका ने स्त्री मनोविज्ञान का बड़ा सजीव चित्रण किया है वह सोचती है – "क्या अपनी धुन में वह मंजिल से आगे निकल गई। जब पलटा तो पाया कि मंजिल बदल गई है या मंजिल नहीं बदली वह स्वयं बदल गई। वह ऊब गई है और ऊब से चिढ़कर मंजिल में ठहरने का आसार ढूढ़ने लगी है क्योंकि उसका मन अशान्त है....।"

लेखिका ने अनमेल दाम्पत्य जीवन पर कटु व्यंग भी किया है – "माँ बाप पण्डित पुरोहित से मिल कर मंगल नक्षत्रों के तले अग्नि को साक्षी दे, दो इन्सानों के दुपट्टे वांध दिये और वे चल दिये एक शय्या पर जीवन पर्यान्त प्रेम का नाटक करने ।"[1]

उपन्यास का नामकरण प्रतीक रूप में हुआ है। उसके हिस्से की धूप यानी उसके हिस्से का प्यार, जो धूप के समान उज्जवल है, प्रकाशमान है, छिप नहीं सकता कुछ काल के लिए सुप्त हो सकता है उसका (जीतेन) सुख अपनी जगह और मधुकर के साथ जीवन अपनी जगह। जीतेन को उसके हिस्से की धूप मिलती रहेगी। जीतेन को विषय बनाकर मधुकर से बहस की स्थिति को टालना होगा अर्थात समझौता करना होगा पारिवारिक जीवन चलाने के लिए यह एक समझौता है प्रेमी प्रेमिका और पति के मध्य कि प्रेमिका प्रेमी के हिस्से की धूप में सिकती रहे मगर उस धूप से आनन्दित होकर पति की छाँव में कड़ुवाहट न उत्पन्न होने दो।

इस प्रकार अपनी निजता को परिभाषित करने में सचेष्ट नवयुवती की अस्मिता को पारिवारिक जीवन के मध्य तलाशने का प्रयास इस उपन्यास में किया गया है। लेखिका ने

---

1. उसके हिस्से की धूप, मृदूला गर्ग पृ0 105

आधुनिक स्त्री के प्रेम को त्रिकोणात्मक रूप में, परम्परागत मूल्यों और भावुकता की मानसिकता को नकारते हुए प्रस्तुत किया है। परम्परागत विवाह की एकरसता, पति की उदासीनता तथा सर्जनशील मन की निष्क्रीय बेचैनी से ऊब कर नये सम्वन्ध स्थापित करना और उससे भी ऊब कर प्रथम पति की ओर आकृष्ट होना तथाकथित 'आधुनिक नारी' की ही समस्या हो सकती हैं। इस स्थिति का अंकन केन्द्रीय पात्र मनीपा के मनोभावों, अन्तर्द्वन्द्वों एवं प्रतिक्रियाओं के माध्यम से हुआ है। मनीषा के माध्यम से लेखिका ने परिणय, विवाह, विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह की समस्या को उठाते हुए तथा आधुनिक नारी की परिणति दिखाते हुए भविष्य के लिए यह भी चुनौती दी है कि तथाकथित आधुनिकता एवं स्वतंत्रता के आवरण में उच्छृंखलता को अपनाती हुई नारी का परिणाम कितना भयंकर हो सकता है।

इस प्रकार नायिका के जीवन की सार्थकता हेतु पति को छोड़कर अन्य पुरुष का वरण करना, मोह भंग प्राप्त करना तथा कथा की त्रिआयामिता का निर्वाह उपन्यास की उपलब्धि है।

चित्त कोबरा :

यह मृदुला गर्ग का बहुचर्चित उपन्यास रहा है। इसमें स्त्री के देह मन की प्यास गहरे आवेग में ढलती हैं । इसमें प्रेम एवं विवाह की आधुनिक संदर्भ में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उपन्यास चेतना प्रवाह शैली (स्ट्रीम आफ कान्शसनेस) में लिखी गई है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने ये प्रश्न उठाएं हैं कि प्रेम जीवन को गहराई और फैलाव देता है या उसे संकुचित करता है? क्या विवाहिता नारी का पर पुरुष से लगाव अनुचित है? इस सत्य को उदघाटित करने का प्रयत्न भी किया गया है कि धरती के भीतर लावा उबलता है तो क्या धरती की सीमाएं उसे रोक पाती हैं ? यही स्थिति प्रेम की है, परन्तु व्यक्ति दो हिस्सों में बँट कर जीता है तो क्या व्यक्ति का अपने भीतर की आदिम और उद्दाम

जिज्ञासाओं का गला घोंट कर जीते रहना ही समाज के प्रति उत्तरदायी होना है? और ऐतिहासिकता के प्रवाह को अन्तिम नियति मानने में व्यक्ति की समझदारी और जीत है या इतिहास को अपनी जरूरतों और इच्छाओं के अनुरूप गढ़ने में व्यक्ति जीवन की सार्थकता ? इस तरह के तमाम प्रश्नों को उपन्यास में उठाया गया है। 'चित्तकोबरा' में जीवन शक्ति से ओत -प्रोत ऐसी प्रेम गाथा का वर्णन है जिसमें लौकिक सुख के क्षण भी हैं और लोक निरपेक्ष वेदना की अनुभूति भी ।

उपन्यास की नायिका मनु महेश की पत्नी है और रिचर्ड से अत्मिक तुष्टि मिलने के कारण उससे प्रेम करती है। जहाँ महेश उसकी शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करताहै वहीं रिचर्ड से उसकी आत्मिक एवं मानसिक क्षुधा परिपोषित होती है। जहाँ महेश उसके जीवन का सत्य है वहीं रिचर्ड उसके जीवन का आदर्श है। सामाजिक यथार्थ एवं सामाजिक आदर्श के मध्य निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहात है जिसे लेखिका के आत्म संवाद के माध्यम से व्यक्त किया है। मृदुला जी का मानना है कि "प्रेम अपने मूल में प्लेटोनिक (अशरीरी) होता है। यानी उसकी परम गति प्रेमी से एकात्म होने में है, एक शरीर होने में नहीं ।.... प्रेम अपने आदर्श रूप को तभी प्राप्त करता है जब शारीरिकता का कोई महत्व नहीं रह जाता । ईष्ट का अस्तित्व ही सब कुछ है। उसकी उपस्थिति नगण्य है।"[1] मनु रिचर्ड का प्रेम भी इस सीमा तक पहुंच चुका है लेखिका का मानना है कि "एक तरफा प्रेम से उत्पन्न जबरदस्ती बनाए गए शरीर-संबन्धों से मानसिक विकृति के अलावा कुछ प्राप्त नहीं हो सकता।"[2]

---

1. चित्तकोबरा : मृदुला गर्ग, पृ0 vii

2. चित्त कोबरा : मृदूला गर्ग , पृ0 ix

लेखिका ने उपन्यास में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि एक को छोड़कर दूसरे के साथ शारीरिक संबन्ध स्थापित कर लेने से प्रेम का निर्वाह हो, यह जरूरी नहीं इससे आत्म तुष्टि नहीं मिलती। उपन्यास में मनु के मानस की कथा यात्रा के माध्यम से इसी तथ्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। मनु उदात्त प्रेम की यात्रा पूरी करते-करते उसके आदर्श रूप को प्राप्त कर के अन्त में अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी न रह कर समाजोन्मुख हो जाती है। उसका प्रेम शरीर - संबन्ध से गुजर कर उस स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ वह अपने आदर्श ईष्ट रूप को प्राप्त करके शरीर कामना से मुक्त हो जाती है और प्रेम सदा के लिए अशरीरी बन जाता है। जिसपर अवस्था समय या अनुपस्थिति का कभी भी प्रभाव नहीं पड़ता वह स्थाई हो जाता है। मनु और रिचर्ड का प्रेम ऐसे ही प्रेम को उद्घाटित करता है लेखिका के अनुसार प्रेमहीन शरीर-सम्बन्ध जो भारतीय विवाह पद्धति की स्वाभाविक स्थिति है, वह भयानक आत्मपीड़न के अलावा कुछ नहीं है ।

उपन्यास में नायिका के माध्यम से प्रेम का अशरीरी आदर्श को प्राप्त होना तथा प्रेमहीन शारीरिकता का धर्मोचित निर्वाह, दोनों विरोधों का सफलता पूर्वक चित्रण हुआ है।

प्रस्तुत उपन्यास में मनु और रिचर्ड के माध्यम से प्रेम के अतिरिक्त समाज, ईश्वर मार्क्सवाद आदि अनेक विषयों पर चर्चा है। समाज के सम्बन्ध में रिचर्ड कहता है — ''भगवान ने व्यक्ति को अपने स्वरूप में गढ़ा है समाज को नहीं। तुम्हारा मतलब है, व्यक्ति ने बनाया है भगवान को, अपने रूप में । तुम यह कह सकती हो , मै नहीं, पर भगवान व्यक्ति का जन्म और मृत्यु निर्धारित करता है, उसकी इच्छा शक्ति नहीं।''[1] लेखिका उपन्यास

---

1. चित्तकोबरा : मृदुला गर्ग, पृ0 93

में रिचर्ड के द्वारा मार्क्सवाद को भी विश्लेषित किया है— "मार्क्स का कहना था "पूँजीवाद और यन्त्रीकरण, इतिहास की अपरिहार्य और निष्ठुर तर्क युक्ति के अंश हैं। यन्त्रीकरण के दबाव में घुटे-पिसे कामगारों का विद्रोह भी ऐतिहासिक नियति का अनिवार्य अंग है। मार्क्स के लिए .... विद्रोह अनिवार्य था, विद्रोह का रूप भी निश्चित था कम्युनिज्म या साम्यवाद।"[1]

अपनी उपन्यास चित्तकोबरा में मृदुला गर्ग ने मनोविज्ञानिक ढंग से नारी के अन्तर्मन के विभिन्न पहलुओं को उद्घाटित करने में सफलता मिली है इसमें नारी मन के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण बड़े ही यथार्थ पूर्ण ढंग से किया गया है। उपन्यास में वैवाहिक सम्बन्धों की एक निष्ठता को अस्वीकारा गया है अतः आधुनिकता से परिपूर्ण इस उपन्यास को 'बोल्ड' उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

कठ गुलाब :

स्त्री विमर्श की दृष्टि से मृदुला गर्ग द्वारा लिखा उपन्यास "कठगुलाब" महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह 'सार्वभौम भगिनीवाद' और 'पर्सनल इज पॉलिटिकल' के आदर्श से प्रभावित, बड़ी उठान का उपन्यास है। पूरब और पश्चिम दोनों में औरत के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक शोषण के जो महीन चक्र लगातार चलते रहे हैं, उनका सामना स्त्रियाँ अपने आत्मिक बल पर कैसे कर रही हैं - इसकी एक स्पष्ट झलक उपन्यास में मिलती हैं। "यह एक ऐसा उपन्यास है, जो उपन्यास के कथात्मक वृत्तान्त के बने बनाए ढांचे को तोड़ता, धज्जी करता, अपना स्थापत्य खुद खोजता है। लेखिका के उपन्यास में स्त्री के दुखों को न तो बढ़ा-चढ़ा कर 'आँसू वहाऊ' भावुकता में परिवर्तित किया है और

---

1. वही, पृ0 70-71

न उनका किसी भी तरह का रोमानीकरण किया है।"[1] उपन्यास में स्त्री के दुखों के कुछ चेहरे प्रस्तुत किये गए हैं, जो हर वर्ग और परिवेश के स्त्री के चेहरे हैं और ये चेहरे इतने असली और प्रमाणिक हैं कि बिना कुछ ज्यादा कहे हमें स्तब्ध करते हैं। उपन्यास की एक स्त्री पात्र स्मिता पारिवारिक वर्जनाओं एवं विडम्बनाओं का शिकार है । जिसके जीवन की एक अवांछित दुर्घटना उसके बाकी जीवन को मलबे के ढेर में बदल देती है। दूसरी स्त्री पात्र असीमा है जो पुरुष को नफरत की नजर से देखती है, जिसका विद्रोह अन्दर ही अन्दर खौलता रहता है। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी स्त्री पात्र मरियान है जो समाज सुधार के काम में जुटी अत्यन्त संभ्रान्त स्त्री है, जो अपने अन्दर के दर्द को हमेशा भीतर ही छिपा कर समेट कर रखती है, मगर फिर भी वह खुद व खुद बाहर आ जाता है या फिर निम्न वर्ग की नर्मदा है, जिसने अपने छोटे से यातना, संत्रास एवं दु:ख भरे जीवन में बहुत सी जिंदगियाँ देख लीं हैं । अंत में विपिन मजूमदार के रूप में एक पुरुष पात्र भी है, जो पुरुष अहं के वहुत से पेंच खोल देता है और यों स्त्री जीवन की विडम्बना और फांस कुछ और गहराई तक उभर आती है।

स्त्री पात्रों द्वारा लगातार दुर्धर्ष परिस्थितियों से संघर्ष करते करते वाह्य कलेवर भले ही काठ का हो गया हो, पर अपने अंतरंग में वैसा ही प्रमुदित प्रस्फुटन छिपाये हुए है, जो कठगुलाब छुपाए रहता है; पानी के छींटे पड़ते ही खिल जाने वाला कठगुलाब। दोहरे तिहरे दायित्वों के तनावों को अपनी नसों में झेलतीं हुई इन स्त्री पात्रों के जिस उच्चतर स्वप्न संधान में उनके मन प्राण बसे हैं, उसकी अंतरंग झलक विपिन जैसे पुरुष फेमिनिस्टों को वशीभूत भी कर सकती है, पर एक खास तरह के मोहभंग की आशंका से यहाँ भी इन्कार नहीं किया जा सकता। उपन्यास की तीनों नायिकाओं और अपनी माँ सहित

---

1. दस्तावेज 89: अक्टूबर -दिसम्बर 2000 पृ0 46

अन्य स्त्री पात्रों को यथार्थ स्थिति में रखने वाली तटस्थ, संवेदनशील दृष्टि विपिन के पास है। परन्तु वियोग व्यथा को अस्तित्व पर हावी कर लेने वाली अपनी माँ के दु:खों से वह इतना आक्रांत रहा है कि जीवन संगिनी के रूप में दु:ख भावुकता और कातरता की दूसरी मूर्ति स्थापित करने को वह सोच भी नहीं सकता। स्मिता का विराट दु:ख बोध और प्राकृतिक उद्दीपकों से उसकी एकात्मकता उसे क्षण भर के लिए अभिभूत तो करती है, मगर जीवन भर इस तरह की सान्द्रता का निर्वाह उसे संभव नहीं दिखता । "अपने पूरे वैभव समेत एक समूची स्त्री पूरी प्रकृति से एकाकार उसे इतना डराती हैं कि वह उसका सिर्फ एक तत्व छांट लेता है - गर्भ और सिर्फ उसी से अपना तादात्म्य स्थापित करता है और नमिता से एक खास तरह का अनुबंध करता है कि वह सिर्फ उसके बच्चे को जन्म देगी और उसका पालन पोषण वह करेगा। इस तरह दोनों अपने-अपने ढंग से अपनी स्वतंत्रता अक्षत रख सकेंगे। परन्तु जीवन इतने चुस्त प्रमेयों पर नहीं चल सकता और एक खास तरह की विडंबना आँखों में आँखें डाले सामने खड़ी हो जातीं हैं और इसी विडम्बना के पहचान के साथ उपन्यास सर्वजनीनता में वैयक्तिक कष्टों की आहुति का वह दर्शन उजागर करता है। जिसे एण्ड्रीन रिच यौन संवेदनाओं के ऊपर का सखी भाव विस्तार की संज्ञा देती है।"[1]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मृदुला गर्ग के उपन्यास लेखन में देह की उपस्थिति और मन की अनुपस्थिति के बीच का चिंतन विस्तार को प्राप्त हुआ है लीक से हट कर लेखन करना इनकी प्रमुख विशेषता है भाषा शैली के कारण हिन्दी उपन्यास में स्त्री विमर्श को नवीन एवं विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया है।

मृणाल पाण्डेय :

श्रीमती मृणाल पाण्डेय का लेखन अपनी माँ शिवानी से विरासत में मिला है । इनकी मुख्य छवि उपन्यासकार की नहीं है पर इनके द्वारा लिखे उपन्यास स्त्री विमर्श को

---

1. हंस : जनवरी 1999 पृ0 72

नवीन दृष्टि प्रदान करते हुए प्रतीत होते हैं । इनका लेखन भाषा की चुस्त मार, तेज एवं व्यंगात्मकता के लिए जाना जाता है। इनके लेखन में वैचारिक सजगता का पूर्ण निर्वाह दृष्टिगोचर होता है। इनके लेखन में निरन्तर वह लोकतत्व भी मौजूद रहता है जो किस्से कहानियों के रूप में प्रारम्भ होकर विस्तार प्राप्त करता है और नई स्थितियों में नवीन ढंग का आधुनिक अर्थ भी प्रस्तुत करता है। अपने लेखन के सम्बन्ध में उनका मत है कि ''इसके परे मैं कुछ भी नहीं हूँ न बहू न बेटी, न पत्नी, न माँ, न मित्र सिर्फ एक लेखिका हूँ, जिसकी पहली शर्त है सच बोलना।''[1]

नारी जीवन की विसंगतियों को सफल अभिव्यक्ति के साथ ही कौटुम्बिक एवं ग्रामीण परिवेश का जो हृदयग्राही चित्रांकन श्रीमती मृणाल पाण्डेय की लेखनी द्वारा चित्रित हुआ है वह अछूता है। इनका लेखन अभिव्यक्ति की गहराई एवं कोमल भावनाओं की सहज पकड़ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

विरुद्ध :

इस उपन्यास में लेखिका ने उच्च शिक्षित तथा उच्च वर्गीय स्वाभिमानी नव युवती के मानसिक घात-प्रत्याघातों की अत्यन्त भावभीनी एवं मार्मिक कथा प्रस्तुत की है। उपन्यास की नायिका रजनी एक शिक्षित युवती है और आधुनिक विचारों वाली है, माता पिता भी आधुनिक विचारों वाले हैं; वह प्रेम विवाह करती है। पति उदय ऊँचे पद परनौंकरी करता है सभी सुख सुविधाएं उपलब्ध होने पर भी रजनी उससे संतुष्ट नहीं रह पाती और पति के साथ व्यवस्थित नहीं हो पाती। पति के सामान्य प्रश्न भी उसे विमर्श करने के लिए मजबूर कर देते हैं और उसके समक्ष कई प्रश्न चिन्ह खड़े हो जाते हैं। माँ के घर जाने पर वहाँ भी उसका मन नहीं लगता है और वहाँ से लौट आती है। अपनी अस्मिता

---

1. मनोरमा महिला कथाकार विशेषांक अंक 1983 अक्तूबर प्रथम पक्ष पृ0 9

सम्मान, एवं अस्तित्व के लिए वह निरन्तर संघर्ष करती रहती है। नारी मन की कोमल भावनाओं को स्पर्श करने वाला यह उपन्यास आज की शिक्षित आधुनिक नारी के अन्तर्द्वन्द्वों का यथा तथ्य चित्रांकन करने में पूर्ण रूप से सफल रहा है।

पटरंग पुराण :

इस उपन्यास में लेखिका ने लोक तत्व को आधुनिक विडम्बना के साथ जोड़कर मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक और व्यक्ति-त्रासदी के नवीन पक्ष प्रस्तुत किएं हैं उपन्यास में सशक्त भाषा एवं संयत शब्दों के माध्यम से गंभीरता के साथ जिस पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश को प्रस्तुत किया गया है उससे जीवन की वे गहराइयाँ एवं विसंगतियाँ स्पष्ट हो जातीं हैं, जिन्हें आमतौर से देखकर नकारा जाता रहा है। उपन्यास का कथानक पहाड़ के उँचे-नीचे, रपटीले रास्तों की भाँति आगे बढ़ता है। मृणाल पाण्डेय ने इस उपन्यास में पहाड़ का पूरा जीवन अपनी ठेठ लोक संस्कृति के साथ प्रस्तुत कर दिया है। इसमें आभा की गौरव पूर्ण जीवन कथा का वर्णन तो है ही, साथ में एक खानदान की कई पीढ़ियों के किस्से के रूप में पहाड़, का पूरा गतिमान चित्र भी खींचा गया है। पूरे देश के सामाजिक राजनीतिक चित्रपट के मध्य यह उपन्यास अपनी एक अलग पहचान के साथ प्रस्तुत किया गया है। अपनी भाषिक छटा के कारण भी यह उपन्यासों में अपनी अलग पहचान बनाने में सफल रहा है ।

राजी सेठ :

हिन्दी की नवोदित आधुनिक लेखिकाओं में राजी सेठ का अपना एक विशिष्ट स्थान है। उपन्यास लेखन के क्षेत्र में राजी सेठ ने अत्यधिक अल्प समय में ही अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इन्हें सम्पूर्ण परिवेश तथा पात्रों की मनोवैज्ञानिक पहचान है। इनकी लेखनी में हृदय की भीतरी गहराइयाँ तक पहुँच कर दुर्लभ भावों को खोज कर

निकाल लाने वाली शक्ति है, सच कहने में उन्हें तनिक भी झिझक नहीं होती, भले ही उसकी कड़वाइट सामाजिक परिवेश पर कोड़े की तरह बरसती रहे । उनका बौद्धिक चिन्तन उनके उपन्यास की खूबी भी है और कमजोरी भी। इनके लेखन में नारी पीड़ा एवं उसकी दुखद स्थिति का चित्रण मर्मस्पर्शी ढंग से हुआ है तथा इनकी रचनाओं में परम्परा, रूढ़ियों एवं पुरानी मान्यताओं के प्रति अस्वीकार सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। 'तत्-सम' तथा 'निष्कवच' इनकी प्रमुख औपन्यासिक कृतियाँ हैं।

तत्-सम :

राजी सेठ ने अपने उपन्यास 'तत्-सम' में उच्च मध्यम वर्गीय जीवन का खुलापन उसकी निर्द्वन्द्वता, आर्थिक पक्षों के प्रति उसकी निश्चिन्तता, व्यावसायिक व्यस्तता आदि का चित्रण बड़े ही यथार्थ पूर्ण ढंग से किया है। इनमें पढ़ी-लिखी, युवा, आर्थिक रूप से स्वावलम्बी स्त्री की नये सिरे से जीने की समस्या को गहरे संवेदनात्मक स्तर पर प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में पुनर्विवाह की समस्या को मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करनें का भी प्रयास हुआ हैं। उपन्यास की नायिका वसुधा विधवा है और विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य करती है। पति की मृत्यु के पश्चात घर का अकेलापन उसके लिए असहनीय हो उठता है । सभी परिवार के लोगों का उसके प्रति विशेष ध्यान उसे इस बात की स्मृति दिलाता रहता है कि वह अब लोगों के लिए सहानुभूति का पात्र बन गई है। दूसरों की दया और अनुकंपा ही अब उसके जीवन का आधार है। यह स्थिति उसे खलती है।

वसुधा के मन में पुनर्विवाह के लिए न इच्छा है न उत्सुकता और न कोई उत्साह मगर घर वाले उसका पुनः विवाह करना चाहते हैं। वह परिवेशगत संस्कारों और मानसिक उलझनों से ग्रसित है तथा अपने स्वर्गीय पति निखिल की स्मृतियों से पूरी तरह कट

कर जी नहीं पाती है। उसका निखिल की स्मृतियों से मुक्त न हो पाना संस्कार अथवा नैतिकता के कारण नहीं अपितु निखिल के साथ गहरे भावनात्मक सम्बन्ध के कारण हैं।

वसुधा को अपने जीवन की स्वतंत्रता थी वह अपने जीवन के सही अर्थ की तलाश में संघर्ष रत रहती है। वह इसके लिए कोई सरलीकृत मुहावरा लेकर नहीं चलती कि स्त्रियाँ सब अच्छी होती हैं और पुरुष सब बुरे। और न उसकी नजर में स्त्री स्वतंत्रता का यह अर्थ है कि स्त्री को पुरुष से अलग एक दुनिया बसा लेनी चाहिए । इस संदर्भ में 'तत्-सम' की नायिका से बढ़ कर कोई मुक्त स्त्री उपन्यास कारों की रचनाओं में दिखाई नहीं देती।

पति की असामयिक मृत्यु के पश्चात वह नितान्त अकेली है और अपना ज्यादातर ध्यान अकादमीय पढ़ाई और विश्वविद्यालय की नौकरी में लगाए रखती है। इस सबके अतिरिक्त उसे अपने लिए एक ऐसे सच्चे साथी की जरूरत है, जो उसे समझता हो तथा उसे और उसके एकान्त को अर्थ दे सकता हो। उपन्यास में नायिका ने इसे स्पष्ट रूप से नहीं कहा अपितु उसकी सोच में ये बातें बड़े ही धुंधले अक्षरों में एवं सांकेतिक रूप में प्रस्तुत हुई है। वास्तव में वसुधा के अन्तर्मन में एक एक बेचैनी है एक खोज है, एक तिर्यक काटता हुआ सा निरर्थकता का अहसास है। जीवन के सही अर्थ की तलाश में वह मानसिक द्वन्द्व में उलझी हुई विभिन्न प्रकार के अनअपेक्षित सुख-दुख भरे दारुण अनुभवों से गुजरती है। तभी उसके समक्ष विवश कर देने वाली स्थिति एवं द्वन्द्व उत्पन्न होता है । उपन्यास के पुरुष पात्र विवेक एवं आनन्द को लेकर ।

विवेक शिरीन की मृत्यु के पश्चात उसकी स्मृति में डूबा संवेदनशील पात्र है और वसुधा और विवेक दोनों का मन प्रेम निधि स्मृतियों की लहरों से तरंगायित है इस दृष्टि से वे एक रूप हैं तत्-सम हैं ।

आनन्द उपन्यास का दूसरा पुरुष पात्र हैं और वह भावनात्मक रूप से वसुधा से जुड़ा है । बीमार होने पर उसकी निःस्वार्थ भाव से सेवा सुश्रुषा करता है। वह कहता भी है- ''यह अचानक की बीमारी, परदेश, ऊपर से अकेलापन और घर से दूरी। सोचता रहा क्या करूँ जो तुम्हें अच्छा लगे ।''[1] आनन्द वसुधा की विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित है ओर उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव भी रखता है पर उसे इस प्रस्ताव पर सोचने के लिए समय देता है।

इस प्रकार वसुधा के जीवन में दो पुरुष पात्र आते हैं एक ओर विवेक है, जो उसे लगातार परखता रहता है । दोनों के मन में एक दूसरे के लिए चाहना भी है लेकिन यह एक ठिठकी हुई ऊहापोह में पड़ी हुई चाहना है। दूसरी ओर आनंद है — उसका बिना किन्तु-परन्तु के एक भावावेगपूर्ण समर्पण हैं, एक निर्द्वन्द्व स्वीकार जैसा सम्बन्ध । जब वसुधा आनंद को विवेक के बारे में सब कुछ लिख कर बता देती है तो आनंद का प्रत्युत्तर होता है- ''इस कठिनाई में मैं तुम्हें गलत नहीं समझूँगा, आश्वासन देता हूँ । तुम अपने को किसी भी फैसले के लिए पूरी तरह स्वतंत्र समझो। स्वतंत्रता किसी की भी हो मेरे लिए सम्मान की चीज है, तुम्हारी तो और भी अधिक ।''[2] वसुधा एक द्वन्द्व में पड़ जाती हैं और ऊहापोह की स्थिति में निकल कर वह विवेक के बजाय आनंद को चुनती है और विवेक को एक विनम्र इनकार भरा पत्र लिखती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने लिए मात्र एक साथी को नहीं चुनती अपितु वह अपने लिए अपनी इच्छा का एक जीवन चुनती है। इसके लिए वह बहुत कुछ सहती है, सोचती है द्वन्द्व और उलझनों में पड़ती है, लेकिन कम से कम 'हाय-हाय' कभी नहीं करती और अपने सारे दुःखों का

---

1. तत्-सम : राजी सेठ, पृ0 99
2. वही, पृ0 124

जिम्मेदार किसी पुरुष को बनाकर अपनी जिम्मेदारी से बचना भी नहीं चाहती। तत्-सम शब्द का अर्थ और प्रतिकार्थ भी यही है — उसे, जो उसके समान है ढूँढ़ना। और यह ढूँढ़ना किस लिए? इसलिए कि उसी को पाकर वह पूर्ण होती है, वह अकेली नहीं वे दोनों ही पूर्ण होते हैं।

इस प्रकार से प्रस्तुत उपन्यास में राजी सेठ ने वसुधा के चरित्र के माध्यम से स्त्री विमर्श को सर्वथा एक नवीन आयाम और सही अर्थों में एक आधुनातम दृष्टि प्रदान करती है; यह उपन्यास स्त्री स्वातंत्र्य के वास्तविक एवं सही संदर्भों को खोजने का सार्थक प्रयास है। स्त्री मुक्ति की चेतना को वास्तविक अर्थ एवं दिशा प्रदान करने वाला तथा कथ्य की अभिनव तलाश, शिल्प की एक वैधग्ध पूर्ण बुनावट और चिन्तन की एक तरलवर्ती गहराई लेकर लिखा गया एक सफल उपन्यास है।

राजी सेठ का दूसरा उपन्यास **'निष्कवच'** में भी स्त्री अस्मिता के प्रश्न को उठाया गया है। इसमें अपनी अपनी जिंदगी अपनी शर्तों पर जीने के लिए संघर्षरत दो युवतियों की कथा है जो अपने आत्माभिमान एवं अपने समूचे अर्थ के साथ जीने के लिए संघर्ष करती हैं वे युवतियाँ सब कुछ छोड़ सकती हैं, मगर अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व के विरुद्ध कोई समझौता नहीं कर सकती हैं। यह एक तरह से यह नए जमाने की या नवीन पीढ़ी की स्त्रियों में जागरूकता के प्रति एक दृढ़ आग्रह को प्रस्तुत करता है। इसमें पीढ़ियों का संघर्ष भी दृष्टिगोचर होता है। उपन्यास में लेखिका ने सांकेतिकता के माध्यम से इस आशय को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जरूरी नहीं कि आने वाली पीढ़ी में स्त्री कोमल और मधुर ही हो वह अपनी कोमलता एवं माधुर्य के आवरण से बाहर निकल कर सख्त एवं पुरुष भी हो सकती है । इस प्रकार राजी सेठ का यह उपन्यास स्त्री-अस्मिता की खोज में लेखिका का एक सार्थक कदम है।

उपर्युक्त उपन्यास लेखिकाओं के अतिरिक्त जिन अन्य उपन्यास लेखिकाओं ने अपने

लेखन में स्त्री विमर्श को नये ढंग से व्याख्यायित किया है और साथ ही स्त्री चिन्तन को एक नवीन आयाम प्रदान किया है उन उपन्यास लेखिकाओं में रजनी परिकर का 'मोम के मोती', 'महानगर की मीता',' सोनाली दी', 'दूरियाँ', 'चन्द्र किरण सक्सेना का 'चंदन की चांदनी', सूर्यबाला का ' मेरे सन्धिपत्र', सुबह के इन्तजार में, मालती जोशी का 'सहचारिणी', 'पटाक्षेपा', कान्ता सिन्हा का 'सूखी नदी का पुल', 'रेत की मछली', सुनीता का ' सफर के साथी', मंजुल भगत का 'टूटा हुआ इन्द्र धनुष', 'अनारो', 'क्या छूट गया' आदि ऐसे उपन्यास हैं जिसमें नए जमाने की बदली हुयी संघर्षरत स्त्री को प्रस्तुत किया गया है।

इनमें 'महानगर की मीता' और 'मोम के मोती' में प्रेम को लेकर उपेक्षित और कामकाजी स्त्री की समस्या को उठाया गया है। 'सोनाली दीदी' भी नौकरी पेशा नारी की कथा है मगर अलग भाव भूमि पर आधारित है। 'दूरियाँ' आत्मनिर्णय को सम्मान देनेवाली दो सहेलियों की कहानी है जो पुरुष के वर्चस्व को नकारती हैं उसे चुनौती देती हैं।

चन्द्र किरण सौक्सेना मूलतः नारी की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने वाली लेखिका हैं 'चंदन की चाँदनी' उपन्यास मध्यवर्गीय पुरुषों की शोषकीय वृत्तियों पर आधारित हैं। 'वंचिता' उपन्यास नरव्याध्रों से प्रताड़ित नारी को वाणी देता है।

सूर्य बाला का उपन्यास 'मेरे सन्धि पत्र' अनमेल विवाह की समस्या पर आधारित उपन्यास है यह वय और आर्थिक दृष्टि की अनमेलता के कारण नारी के द्वारा पग पग पर लिखे जाने वाले सन्धि पत्रों को प्रस्तुत करता है। इसमें नारी सक्षम, समर्थ और प्रतिभावान होकर भी पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में विवशता पूर्वक समझौते की नियति को ढोती हुई नजर आती है। नारी की सीमाएं ही उसकी पीड़ाओं का हेतु बनते हुए उसके लिए विकल्पहीन हो जातीं हैं, इस स्थिति को उपन्यास में सक्षमता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

'पटाक्षेप' में मध्यम वर्गीय नारी के स्वीकार अस्वीकार के मध्य उलझते मानसिक उद्वेलन को प्रकट किया गया है ।'सूख्री नदी का पुल' भी नारी के अन्तः करण के उद्वेलनों, उसकी मनोव्यथा तथा उसके दुःखों को शब्द रूप देने वाला उपन्यास है। 'रेत की मछली'

पुरुष द्वारा छली गयी नारी की दुखद व्यथा कथा है। 'सफर का साथी' मातृत्व से वंचिता नारी की छटपटाहट और अधैर्य को वर्णित करने वाला उपन्यास है।

मंजुल भगत का 'टूटा हुआ इन्द्र धनुष' प्रेम के त्रिकोण को प्रस्तुत करता है तथा 'अनारो' निम्न वर्गीय नारी की पीड़ा को अभिव्यक्त करता है।

इस प्रकार से इन उपन्यास लेखिकाओं का लेखन परिवार की सीमाओं में बंधा रह कर भी अद्वितीय है। ये ऐसे उपन्यास हैं जिनके बगैर बींसवीं शताब्दी के उपन्यास लेखन की कोई मुकम्मल तस्वीर नहीं बन सकती। महिला उपन्यासकारों ने अपने इन उपन्यासों में स्त्रियों की दुनिया के भीतरी ओर बाहरी छटपटाहटों एवं अन्तर्द्वन्द्वों को बड़ी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्ति दी है।

इस प्रकार महिला उपन्यासकारों का उपर्युक्त साहित्यिक परिचय यह सिद्ध करता है कि हिन्दी का महिला लेखन पर्याप्त सम्पन्न है। आज की सामाजिक विसंगतियों ने जिस टूटन, घुटन और अन्त:संघर्ष को जन्म दिया है, उसका अत्यन्त सधी हुई कलम से चित्रण करने में ये महिला उपन्यासकार पूर्ण रूप से सफल रहीं हैं । विभिन्न सामाजिक समस्याओं से संघर्ष करती हुई जीवन पथ पर बढ़ने वाली नारी का बहुरंगी एवं वहुआयामी चित्रण भी इन लेखिकाओं की विशेषता है। अपनी अस्मिता एवं अपने अस्तित्व की तलाश में संलग्न नारी को भी इन उपन्यास लेखिकाओं ने खोजा है और अपनी रचनाओं में ढाला है। निश्चय ही हिन्दी का महिला लेखन अत्यन्त व्यापक गहन एवं प्रभावशाली है।

अध्याय - छः

महिला उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श की प्रमाणिकता

: महिला उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श की प्रमाणिकता :

स्त्री एवं स्त्री-समस्या की चर्चा होने के कारण महिला लेखन को अब तक समीक्षकों द्वारा एक कमजोर एवं सतही लेखन की संज्ञा दी जाती रही है। स्त्री लेखन के प्रति समीक्षकों का यह जबरदस्त पूर्वाग्रह रहा है कि स्त्री लेखन प्रतिभा हीन, अयोग्य एवं तर्कहीन है और इन महिला लेखिकाओं के पास कोई ठोस रचनात्मक दृष्टि नहीं है। यही कारण है कि समीक्षकों द्वारा महिला लेखन की प्रमाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाए जाते रहे हैं। स्त्री लेखन को लेकर जो सामाजिक पूर्वाग्रह बने हुए हैं, उनका दबाव सर्वत्र देखा जा सकता है। ऐसे पूर्वाग्रह से प्रभावित समीक्षकों ने यह प्रश्न उठाया है कि स्त्रियाँ क्या लिख रही हैं? उन्हें क्या और कैसे लिखना चाहिए? ये स्त्रियाँ ऐसा क्यों लिखने लगी हैं? स्त्री लेखन को उन सामाजिक संदर्भों में न देखकर लेखिका के व्यक्तिगत जीवन से जोड़ कर देखा जाता है। वस्तुतः प्रगतिवाद के जिन सिद्धान्तों और विचारों के माध्यम से समीक्षकों द्वारा समीक्षा की गई है वे प्रतिमान आज के साहित्य की समीक्षा के लिए महत्वहीन एवं पुराने पड़ चुके हैं। आज के महिला लेखन को अपनी प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि उसे समीक्षकों की कसौटी पर कसे जाने के लिए स्वयं को या तो उनके द्वारा स्थापित अर्थ के दायरे में नारीवादी सिद्ध करें अथवा नारीवाद-विरोधी प्रमाणित करे। समीक्षकों का मानना है कि महिला लेखन मुख्य धारा के लेखन का किंचित अयोग्य एवं प्रभावहीन हिस्सा है इस संदर्भ में वास्तविकता यह है कि आज नारी लेखिकाओं की रचनाओं में नवीन संदर्भ या नयी समस्याएं या युग की नयी टकराहटों की ध्वनियों की कमी नहीं है अपितु वास्तविकता तो यह है कि आज के समीक्षकों के पास रचना में नवीनता को पकड़ पाने और उस नवीनता को समझाने योग्य भाषा का सही समाकलन का अभाव है । नये संदर्भों को जाँचने के मानदण्डों का भी उनके पास प्रायः अभाव है।

स्त्री लेखन की प्रमाणिकता को लेकर समीक्षक इसलिए भी प्रश्न उठाते रहे हैं, क्योंकि स्त्री लेखन के प्रति औसत पुरुष पाठकों, जिसमें समीक्षक भी सम्मिलित हैं, में एक विशेष प्रकार का अधैर्य दृष्टिगोचर होता है। ये समीक्षक न तो स्त्री विमर्श के अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भों और न ही इसके भारत में जड़ पकड़ने के ऐतिहासिक कारणों में जाना चाहते हैं। भारतीय समाज और साहित्य में विकसित हो रहे उसके विशुद्ध स्वरूप और परिणाम का विश्लेषण भी वे नहीं करना चाहते हैं। इन समीक्षकों की समीक्षा का मापदण्ड स्त्री विमर्श के सनसनीखेज या राजनीतिक संदर्भों को ही माप सका है। ये प्राय: स्त्री लेखन को या तो संपन्न सवर्ण लेखिकाओं का पीड़ा विलास या दलित और वर्णाश्रम विरोधी आन्दोलनों का एक छोटा हिस्सा प्रमाणित करने का प्रयास करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव में महिला लेखन की समीक्षा और समीक्षा के लिए स्थापित मानदण्ड इतने रूढ़िवादी ढंग से प्रयुक्त किये जा रहे हैं कि समीक्षा के अनुशासन को मानने वाली अधिसंख्य लेखिकाओं की बौद्धिक क्षमता प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। मगर आज इस समीक्षात्मक मापदण्ड के अनुशासन को ठुकरा कर कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, ज्योत्सना, अनामिका, मृणाल पाण्डेय प्रभृति कतिपय सशक्त महिला साहित्यकार एक नवीन तेवर के साथ अपने लेखन को प्रस्तुत कर रहीं हैं।

लेखन सर्वप्रथम रचनात्मक साहित्य है। इसलिए महिला लेखन उन सामाजिक राजनीतिक बदलावों को रोकने या इन पर बल देने के लिए अथवा समीक्षकों के बौद्धिक जगत की स्थूल जरूरतों-रूढ़ियों को साबित करने का सारहीन माध्यम बनने के लिए बाध्य नहीं हैं।

कृष्णा सोबती, राजी सेठ, कात्यायनी, तथा मृणाल पाण्डेय की कृतियाँ स्त्री और उससे जुड़े संदर्भों को लेकर नारी की प्रत्यक्ष या परोक्ष चेतना, उसकी सोच और कल्पना पर कई तरह के दबाव डालती है; उनमें सिर्फ स्थूल शारीरिक सरोकार या चिन्ताएं ही नहीं व्यंग, सृजनात्मक असंतोष और विरोधाभास भी उतनी ही मात्रा में हैं जितने कि उसके जीवन में । जीवन का मर्म समझने का जितना प्रयास महिला लेखिकाएं कर रहीं हैं उतने ही

प्रयास की अपेक्षा वह समीक्षकों से भी करतीं हैं। ज्यों-ज्यों स्त्री लेखन अधिक प्रयोग धर्मी और प्रौढ़ होता जा रहा है, जीवन को वह अपनी दृष्टि से विश्लेषित कर रहा है।

वैसे भी अपने स्वानुभूत इतिहास के आधार पर महादेवी वर्मा से लेकर कृष्णा सोबती तक, समय के बेहतर महिला लेखन में निरन्तर कुछ नवीन प्रयोग होते रहे हैं। मनुष्य और पशु जगत, स्त्री और प्रकृति, माँ और बेटी के रिश्तों के संदर्भ में बहुत सारे अनुभव, भाषा के कई प्रयोग के साथ ही समय-समय पर इन लेखिकाओं ने प्रचालित पारम्परिक संदर्भों को तोड़ कर स्त्री को एकदम नये संदर्भों में रखा और परखा है। ऐसी स्थिति में भाषा और भाव के समायोजन में विभिन्न पुराने अनुभव और भाषा-रूप परिवर्तित हो गए या वे नये अनुभवों से जुड़कर नवीन ढंग से प्रस्तुत किए गए। अतः स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य लेखिकाओं के लिए भी जीवन-अनुभव व्यक्त करने की एक राजनीतिक या व्यावसायिक कोशिश मात्र नहीं, अपितु उसके कलापक्ष की सहज अभिव्यक्ति भी है।

महिला लेखन पर भटकन और असंपृक्ति का आरोप लगाया जाता रहा है मगर समाज की गहराई में पैंठ कर भी भटकन और असंपृक्ति महिला लेखन की ही नहीं, पूरे आधुनिक लेखन की समस्या है। इस समस्या से हर सशक्त लेखक अपने अपने ढंग से संघर्ष करता है। पर इसका गंभीर आकलन करने और उसके असर को रचना के भीतर सूक्ष्मता से पकड़ने की अपेक्षा अधिकांश रूढ़िवादी समीक्षक घर, परिवार या समाज को लेकर स्त्री की ईमानदार दुविधा या तनाव की .अभिव्यक्ति को स्त्री जाति के बहु निन्दित दोहरी मानसिकता और बौद्धिक असक्षमता का प्रमाण मान कर तुरन्त अमान्य घोषित कर देते हैं।

महिला लेखन की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम महिला लेखन के बारे में जानना आवश्यक है। महिला लेखन का अर्थ है स्त्रियोचित लेखन, स्त्रैण लेखन, स्त्री वादी लेखन, अथवा स्त्री का लेखन । अर्थात महिला लेखन को नये सिरे से समझना

आवश्यक है। महिला लेखन के मूल में स्त्री चेतना का बीज सन्निहित है । चेतना एक मूल्य परक इकाई है और ये स्वभावत: परिवेश गत दबावों से उत्पन्न होती है और अनिवार्यत: परिवेश का विखंडन करती है। असंतोष, जिज्ञासा और दृष्टि चेतना के मूल घटक हैं जो व्यक्ति के संदर्भ में व्यक्ति को, व्यक्ति के संदर्भ में समाज को तथा समाज के संदर्भ में प्रकृति को परिभाषित करती है। अत: महिला लेखन न अयोग्य लेखन हैं, न तर्कहीन लेखन है और न चुनौती है अपितु यह नागरिक और सामाजिक प्राणी की हैसियत से स्त्री के मानवीय अधिकारों की संघर्ष पूर्ण मांग करने वाला साहित्य है। महिला लेखन कोई भी कर सकता है, चाहे वह पुरूष हो या स्त्री। इस संबंध में डा0 निर्मला जैन का मत है कि – ''रचना में आने वाले- अनुभव का दायरा, उसकी संवेदनशीलता, उसका विजन, उसका सरोकार, उसकी सहानुभूति और उसका विद्रोह इस बात से तय नहीं होता है कि लेखक स्त्री है या पुरुष, बल्कि इस बात से तय होता है कि लेखक के निजी अनुभवों के भीतर आने वाले संसार का दायरा क्या है? जीवन और उसके लेखन के बीच होने वाली अन्तरक्रिया और टकराहट का चरित्र क्या है ? यदि महिला लेखन में कहीं नारी गन्ध या बोध जैसी कोई चीज उसके लेखन की पहचान बनती है तो सिर्फ इसलिए कि समाज और परिवार में उसकी एक विशिष्ट भूमिका लगभग निश्चित है। वह या तो इसको सहने की स्थिति में है या इसके विरुद्ध विद्रोह की मुद्रा में।''[1]

महिला लेखन का मानना है कि अपनी–अपनी आधी दुनिया में विभाजित प्रतिद्वन्द्वी ही जीते हैं; परिवार, समाज, राष्ट्र और संस्कृति का निर्माण करने वाले नागरिक और मनुष्य नहीं । मानवीय संस्कृति के निर्माता और संवाहक परस्पर कट कर जी ही नहीं सकते। समन्वय और संवाद उनकी मानवीय अस्मिता की पहली शर्त है। असहमतियाँ मतभेद,

---

1. लेख- जबाने अहले जबां में, मर्ग खामोशी मगर.. डा0 निर्मला जैन, पत्रिका - सारिका 16-30 नवम्बर, 1984, पृ0 70

आपत्तियाँ और विवाद जीवन्तता की निशानियाँ हैं, जिन्हें परस्पर संवाद और सामंजस्य के सहारे सुलझाया जा सकता है। इसी से चिंतन गहन और अनेक आयामी होता है।

परन्तु महिला लेखन के प्रति समीक्षकों का असामन्जस्य पूर्ण रूख सृजनात्मक लेखन में भी और आलोचना के क्षेत्र में भी; असहज, तनावग्रस्त एवं असामन्जस्य पूर्ण रहा है। समीक्षकों ने स्त्री लेखन की प्रमाणिकता को संदिग्ध दृष्टि से देखा है। मूर्धन्य आलोचक डा0 नामवर सिंह का इस संदर्भ में मानना है कि ''महिला लेखन में सम्पूर्ण समाज की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस प्रकार के लेखन छोटे समुदायों के हितों को ध्यान में रखकर किए जाते हैं। ऐसा साहित्य अर्ध साहित्य को प्रतिबिंबित करता है। यह लेखन तात्कालिक प्रतिक्रिया का परिणाम है, जब कि साहित्य का मूलस्वरूप मानव को मुक्ति प्रदान करने वाला है। खण्ड-खण्ड में मुक्ति साहित्य का लक्ष्य नहीं।''[1] इसका अर्थ हुआ कि महिला लेखन जैसी अवरोधक साहित्यिक अस्मिताएं न होती तो साहित्य ''सम्पूर्ण सत्य'' को ही प्रतिबिंबित करता।

समीक्षक उन्हीं महिला उपन्यास कारों की रचनाओं को महत्वपूर्ण मानते हैं जिसमें महिला लेखन जैसा कुछ नहीं है। ''अनित्य'' महाभोज जैसे उपन्यासों की चर्चा करते हुए उन्हें इसलिए महत्वपूर्ण माना गया है कि इन उपन्यासों की समीक्षा महिला लेखन के दायरे के भीतर रख कर नहीं अपितु ''उपन्यास'' के रूप में की जा रही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गैरमहिला विषय पर लिखी महिला रचना कारों की रचनाएं ही हिन्दी आलोचकों की दृष्टि में कहानी अथवा उपन्यास हैं। इस प्रकार के वक्तव्य अनजाने ही महिला लेखन के प्रति आलोचकों के दुराग्रह को व्यक्त कर देता है ।

---

1. लेख - डा0 नामवर सिंह , अमर उजाला, 12 दिसंबर 1999

नामवर सिंह द्वारा महिला लेखन को अर्धसाहित्य की संज्ञा देना समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि हर रचना अपने सर्जक की संवेदना का बिंब होती है। साहित्यकार युग के यथार्थ को अपनी संवेदना और व्यक्तित्व के अनुरूप ढालकर उसे एक नवीन रूप में प्रस्तुत करता है। नारी मन स्वभाव से ही कोमल, सरस, निर्मल एवं संवेदनशील होता है; इसलिए उसकी रचना सृष्टि में भावुकतापूर्ण स्थलों और संवेदनपूर्ण स्थितियों का व्यापक चित्रण एक स्वाभाविक चेष्टा है। अनुभव अपना हो या पराया उसकी प्रमाणिकता ही वह यथार्थ बोध है, जिसे साहित्यकार अभिव्यक्ति देता है। रचना सदैव स्वयं बोलती है। उसका मूल्यांकन करने के लिए उसकी आवाज का सुना जाना जरूरी है। डा0 इन्द्रनाथ मदान का कथन है कि ''कृति पर बल देने की आवश्यकता इसलिए भी है कि आलोचक प्राय: कृति को बोलने का इतना अवसर नहीं देते, जितना स्वयं को। इनकी आवाज कृति पर इतनी हावी हो जाती है कि कृति की आवाज इसके नीचे दब जाती है। इस आवाज पर बल देना इसलिए भी आवश्यक है कि यह प्राय: अनसुनी रह गई है, जिससे आलोचना के क्षेत्र में आराजकता या संकुलता का फैल जाना स्वाभाविक है।''[1]

महिला लेखन की प्रमाणिकता इस संदर्भ में है कि यह विषय वस्तु और जीवनी शक्ति के लिए अपने समस्त आयामों और पड़ावों सहित किसी ''स्त्रीवाद'' का मोहताज नहीं, जो उसके भीतर उगी विकृतियों, विसंगतियों और अंतर्विरोधों को आँख मूँद कर ग्रहण करता चले, अपितु उसके दायित्व दोहरे, तिहरे हैं। महिला लेखन इस तथ्य को लेकर चल रहा है कि चेतना को विवेक संगत सुरक्षा से सन्निहित कर उसे पुरुष के आकर्षण एवं आतंक से प्रभावित न होने दिया जाए। आज नारी टूट कर बिखरती नहीं, टूट कर एक नवीन शिक्षा ग्रहण करती है एक नवीन प्रेरणा से युक्त होती है, जो जर्जर

---

1. समकालीन साहित्य - एक नई दृष्टि - डा0 इन्द्र नाथ मदान, पृ0 54

सामाजिक व्यवस्था के सापेक्ष व्यक्तिगत लेकिन मानवीय नैतिकता की मूल्य प्रतिष्ठा करती है। सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन करती है तो छिप कर नहीं, डंके की चोट पर । मित्रो का जन्म इसी सहज स्वाभाविक प्रक्रिया की उपज है। व्यक्ति के रूप में नारी निर्भान्त रूप से जिस वर्जनाहीन व्यक्तित्व को पाना चाहती है, वही रूप मित्रो के रूप में अवतरित हुआ है ''मित्रोमरजानी '' की मित्रो स्त्री की दैहिक मुक्ति की प्रखर कामना का ठोस और फलीभूत रूप है। महिलाकथाकरों की उपन्यासों में भिन्न पृष्ठ भूमियों, वर्गीय मानसिकताओं, व्यवस्थागत राजनीतिक सच्चाइयों से गुजर कर उभरते दमन, उत्पीड़न, शोषण एवं दुरावस्था का बड़ा ही विश्वसनीय चित्रण हुआ है।

महिला लेखन को घर और स्त्री पुरूष के सम्बन्धों के दायरे में बाँध कर उसे सीमित, आवृत्तिपरक, अनुत्पादक और दोयम दर्जे का सतही लेखन, समझना पितृ सत्तात्मक व्यवस्था के स्वाभाविक अहंकार को रेखांकित करता है, इसके बावजूद कि विश्व के कुल कार्य का साठ प्रतिशत कार्य अकेले सम्पन्न करने के बाद भी विश्व की कुल आय का दस प्रतिशत ही भुगतान के रूप में स्त्रियों को मिलता है और विश्व की सम्पत्ति में मात्र एक प्रतिशत हिस्से पर उसका निजी अधिकार है। दिन-रात पारिवारिक कार्यों और दायित्वों में व्यस्त महिलाओं की गिनती जनगणना के समय बेरोजगारों और आश्रितों में की जाती है। अपनी शक्ति और सत्ता के विमर्श को यथावत बनाये रखने के लिए स्त्री के उत्पादक और दृश्यश्रम को अनुत्पादक और अदृश्य सिद्ध कर देना स्थिति की विद्रूपता को व्यक्त करती है। मगर महिला लेखन ने बड़े साहस एवं मजबूती के साथ इन विद्रूपताओं से लोहा लिया है।

समीक्षकों द्वारा ''घोषित'' और ''प्रमाणित'' अधूरेपन के खिलाफ सार्थक लड़ाई लड़ कर स्वयं को ''संपूर्णता'' में पाने का जज्बा या उत्साह उसमें दिखाई देता है और यह उत्साह सिर्फ महिला कथाकारों के पास ही है चाहे वो कृष्णा सोबती हो या मन्नू भण्डारी,

उषा प्रियंवदा हों या मृदुला गर्ग; सभी कथाकारों की रचनाओं में ये दृष्टि दिखाई देती है। सामाजिक सच्चाइयों और समाज शास्त्रीय आँकड़ों को जब ये महिला उपन्यासकार निर्विकार दृष्टि से देखतीं और अभिव्यक्त करती हैं तो रचना अपने आप ही सृजनात्मक ऊँचाइयाँ लेने लगती हैं और स्वयं ही उसकी प्रमाणिकता सिद्ध हो जाती हैं।

स्त्री लेखन आज अपनी स्वीकृति के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहा है। इस पर यह आरोप लगाना कि यह संभावना पूर्ण नहीं है, सीमित यथार्थ को लेकर चलता है या चारदीवारियों के बीच ही घूमता रहता है, यह कुछ हद तक तो ठीक है मगर पूर्ण रूप से उचित नहीं है। यदि स्त्री के यथार्थ सीमित है तो भी यही यथार्थ उसका अपना है। यही उसके अस्तित्व की सामाजिक-सांस्कृतिक सच्चाई है। विकास का नियम् अपनी जड़ों को छोड़ कर नहीं चलता। स्त्री लेखन भी अपने यथार्थ एवं वास्तविकताओं की ठोस जमीन से आधार ग्रहण करता हुआ निरन्तर विकासमान है। यह स्त्री संदर्भों में ही अपने अस्तित्व की प्रमाणिकता को तलाशता है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि-यह नारा कि अनुभव की प्रमाणिकता और यथार्थ का ईमानदार आकलन लेखन को वास्तविक बनाता है तो भी स्त्री लेखन प्रमाणिक है। वास्तव में महिला लेखन अपने अनुभव के केन्द्र से अर्थ का आकाश पहचानने की चेतना है। आज स्त्री लेखन की चुनौती अपने समीकरण को छोड़ कर पुरुष के समीकरण को पाना नहीं, अपितु अपने यथार्थ एवं सत्य में से विस्तृत सत्य एवं यथार्थ की परिधि तक जाना है। यह उपलब्धि उसे अपनी जमीन, अपने परिवेश, अपने यथार्थ एवं अपने अनुभव संसार से गुजरने पर ही प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार आधुनिक महिला उपन्यासकारों ने स्त्री को केन्द्र मानकर उसकी विविध आन्तरिक मनोवृत्तियों, कुण्ठाओं, विषादों के साथ बाह्य स्थितियों तथा कार्य व्यापारों को व्यापकता, सूक्ष्मता एवं गहनता से रूपायित करने का प्रमाणित प्रयास अपनी कृतियों मे किया है और साथ ही भविष्य में उसकी संभावनाओं के लिए अनेक नए क्षितिजों की तलाश भी

की है। मात्रा एवं गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी का महिला लेखन आज बड़ी तीव्र गति से विकास के सोपानों को पार कर रहा है। "पिछले दो दशकों में यह विशिष्ट बात भी रेखांकित की जा सकती है कि कथा रचना के संदर्भ में इतनी महिला लेखिकाएं सामने आईं जितनी पहले कभी नहीं रहीं।"[1]

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि आज का स्त्री लेखन नारी के विस्तृत सरोकारों की ठोस सच्चाइयों एवं वास्तविकताओं की ठोस जमीन पर लिखा गया लेखन है साथ ही यह बेहतर भविष्य के प्रति संभावनाएं एवं आशाएं भी जगाता है । स्त्री विमर्श के संवर्धन एवं विकास में महिला लेखन के महत्वपूर्ण योगदान एवं महत्व को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि महिला उपन्यास साहित्य में स्त्री विमर्श की प्रमाणिकता असंदिग्ध है।

---

1. समकालीन उपन्यासों में नारी पात्र : डा0 विनय पत्रिका - आजकल जुलाई 1993, पृ0 25

अध्याय - सात

महिला उपन्यास लेखन की उपलब्धियाँ

: महिला उपन्यास लेखन की उपलब्धियाँ :

सातवाँ, आठवाँ दशक उपन्यास की चर्चा परिचर्या का दशक रहा है। चाहे उपलब्धियों की दृष्टि से देखें अथवा लोकप्रियता को कसौटी बनाएँ, हर कोण से देखने पर उपन्यास आज हिन्दी साहित्य की केन्द्रीय विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है।

महिला उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से उपन्यास लेखन में अपनी लेखकीय पहचान बनाने में सफलता प्राप्त की है। इन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में बड़ी ही प्रखरता एवं सुदृढ़ता के साथ स्त्री की अलग अस्मिता, स्त्री की पहचान, स्त्री की शक्ति, स्त्री की लड़ाई और स्त्री से जुड़े तमाम सवालों को स्थान दिया है। आज 'पुरुष लेखन' के मुकाबले 'स्त्री लेखन' को कहीं ज्यादा पुरजोर एवं असरदार ठहराने की कोशिशें भी की जाने लगीं हैं। बीसवीं शताब्दी का सातवां, आठवां दशक महिला रचनाधर्मिता के विस्फोट के रूप में जाना जाता है। इस दौर में स्त्री कथाकारों ने जो शक्तिशाली उपन्यासों की रचना की है, उनमें से बहुतों को यदि कालजयी कहा जाए तो असंगत न होगा। ये ऐसे उपन्यास हैं जिनके बिना बींसवीं शताब्दी के उपन्यास लेखन की कोई स्पष्ट तस्वीर बन ही नहीं सकती।

इस दौर के महिला उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्रियों की दुनिया की जिन भीतरी बाहरी तकलीफों और छटपटाहट को अभिव्यक्ति दी है, वैसा इससे पहले न कभी संभव हुआ था और न कभी सोचा ही गया था। स्त्रियाँ ही संभवत: स्त्री जीवन के उन भीतरी अंधेरों में जा सकती थीं और ऐसी मार करने वाली भाषा में उनकी यंत्रणाओं एवं बेड़ियों के बारे में लिख सकती थीं पुरुष अगर उनके बारे में लिखता, तो शायद उसकी भाषा में इतना जोर इतनी कशिश न होती। यही कारण है कि हिन्दी में स्त्री लेखन की तस्वीर औरउसकी प्रगति का ग्राफ "पुरुष लेखन" से भिन्न है।

इन महिला उपन्यासकारों में जैसे कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, कुसुम अंसल, मृदुला गर्ग, ऊषा प्रियंवदा आदि के उपन्यासों को सार्थक पहचान मिली है। इन्होंने स्त्री अस्मिता को

एक नवीन पहचान देने के साथ-साथ हिन्दी उपन्यास की संवेदना और अनुभव के दायरे को भी बढ़ाया है । इन महिला लेखिकाओं के उपन्यासों को निर्विवाद रूप से महिला लेखन की सर्वोच्च उपलब्धि माना गया है।

इन उपन्यासकारों के उपन्यासों में एक ओर मानव के अचेतन मन की पर्तों को खोलने की चेष्टा की गई है तथा गूढ़ मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है, दूसरी ओर सामाजिक जीवन की विकृतियों, अभावों एवं समस्याओं की यथार्थ अभिव्यक्ति भी हुई है। स्वतंत्रता के पश्चात की परिस्थितियों की विषमताओं ने उन सभी जीवनमूल्यों, आदर्शों एवं मान्यताओं को प्रभावित किया है जो भारतीय नारी के जीवन के साथ सदियों से चिपके हुए थे। संशय एवं अनिश्चय में झूलते परिवेश ने सजग साहित्यकारों विशेष रूप से महिला कथाकारों को सर्वथा एक नवीन भाव बोध प्रदान किया। इसमें एक ओर विषमताओं से टक्कर लेने की प्रवृत्ति दृष्टि गोचर होती है, दूसरी ओर कुछ नया करने एवं नवीन जीवन मूल्यों को स्थापित करने की छटपटाहट भी। सामाजिक यथार्थ से संपृक्त और प्रगतिशील भावनाओं से युक्त यह नवीन भावबोध सर्वाधिक ईमानदारी एवं विस्तार के साथ महिला उपन्यास लेखन में प्रस्तुत किया गया है।

महिला उपन्यास लेखन में यथार्थ वाद की सफलता पूर्वक पकड़ दिखाई देती है। हिन्दी उपन्यास साहित्य की श्री वृद्धि में इन उपन्यासकारों ने अपना अभूतपूर्व योगदान प्रदान किया है। 'मित्रो मरजानी' में कथ्य एवं शिल्प की नवीनता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। कृष्णा सोबती के अतिरिक्त उषाप्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, मृदुला गर्ग आदि आज हिन्दी के लोकप्रिय उपन्यासकारों में अग्रगण्य हैं । कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'मित्रो मरजानी', 'डार से बिछुड़ी', उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' मन्नू भण्डारी कृत, 'आपका बन्टी', 'महाभोज', मृदुला गर्ग कृत 'उसके हिस्से की धूप', 'चित्तकोबरा' आदि उपन्यास हिन्दी उपन्यास साहित्य की उपलब्धि माने जाते हैं।

कृष्णा सोबती कृत 'सूरजमुखी अँधेरे के' और मन्नू भण्डारी कृत 'आपका बंटी' उपन्यास अपने 'बोल्डनेस' और कथ्य की नवीनता के कारण चर्चित रहे हैं। 'आपका बंटी' बाल मनोविज्ञान एवं स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आधारित हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास है।

इन उपन्यासों में बदलते हुए जीवन संदर्भ में स्त्री की बदलती हुई मानसिकता को लेकर पूर्ववर्ती दशकों की भाँति सातवें एवं आठवें दशकों में भी पर्याप्त लेखन हुआ है। इन उपन्यासों में स्त्री की भावसत्ता की उपेक्षा अथवा अवहेलना न कर के स्त्री की भावसत्ता को सामाजिक वास्तविकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इन महिला उपन्यासकारों ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि नारी मन मात्र देहजीवी नहीं है अपितु वह भी सामाजिक क्रिया और अनुचिन्तन से प्रभावित और निर्मित होता है। पुरुषों की भाँति उसकी भी अपनी सत्ता एवं अस्मिता है। इन उपन्यासों में नारी मन और उसके अस्तित्व को बदलती हुई परिस्थितियों से सम्बद्ध कर के देखा गया है। 'आपका बंटी', 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'पतझड़ की आवाजें,' 'नावें', 'क्योंकि', 'चित्तकोबरा', 'तत्-सम', 'रेत की मछली' आदि उपन्यास इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं इनमें नारी के बदलते हुए अनुभव संसार को देहगाथा के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इनमें 'चित्तकोबरा' उपन्यास अधिक विवादास्पद हुआ है। यह उपन्यास नारी की देहगाथा भी है और मन गाथा भी। सेक्स केवल उत्तेजना नही है अपितु व्यापार स्तर पर जीवन शक्ति भी है। इस संदर्भ में सूर्य बाला की प्रतिक्रिया है कि "इस उपन्यास की सीमा और शक्ति का परीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मन का आवेग शक्ति पूर्ण होता है, लेकिन वह या तो सामाजिक परिस्थितियों के साथ सहगामी बनने को विवश होता है या फिर स्वेच्छाचारी होकर जीवन मूल्यों को विघटित करता है। इस उपन्यास में मन के आवेग को सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका है।"[1]

युग की गहराती हुई वैचारिकता उपन्यास लेखन को सम्मुन्नत बनाने में सहायक सिद्ध हुई है। इन उपन्यास कारों पर वैयक्तिकता का प्रभाव भी परिलक्षित होता है जो अस्तित्ववाद, देहवाद अवसाद जैसे वादों से प्रभावित हैं। ये वाद सामाजिक रूपान्तरण में

---

1. सारिका - फरवरी अंक 1980 पृष्ठ 43

महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। फलस्वरूप इन उपन्यासों में समस्त सामाजिक आचरणों एवं क्रिया-कलापों को वर्णन का विषय बनाया गया है।

आधुनिक महिला उपन्यासकारों की रचनाओं की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि इन उपन्यासों में नारी समस्याओं का गहन विश्लेषण कर के उनके कारण एवं समाधान को प्रस्तुत किया गया है। इन उपन्यासों में नारी समस्या को व्यापक धरातल प्रदान किया गया है तथा व्यवस्था दोष और पुरुष प्रधान समाज के स्त्री शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी गई है। इनमें असमान विनिमय प्रणाली तथा खोखले सामाजिक ढॉचे को गिराने के लिए आन्दोलन के प्रति आग्रह है तथा सामाजिक कार्यों में समानाधिकार औरं आर्थिक स्वतंत्रता के लिए मॉग की गई है। उपन्यासों में सामाजिक विद्रोह का स्वर भी मुखरित हुआ है जिन सामन्तवादी परम्पराओं, आस्थाओं, विश्वासों, मूल्यों एवं आदर्शों के आधार पर युग युग से नारी जाति का उत्पीड़न किया जाता रहा है, उपन्यासों में उन्हीं आदर्शों के विरुद्ध विद्रोह दृष्टिगोचर होता है। इन उपन्यासों में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि नारी की पीड़ा अनन्त है। उसे पुरुष दासता, अनमेल विवाह से उत्पन्न दाम्पत्य जीवन की कुण्ठा, पग-पग पर लगे बन्धक एवं अर्थाभाव की यंत्रणा मनुष्य या मानवी न मान कर जानवर बना देती है। यही कारण है कि इन उपन्यासों की नारी समस्त पारंपरिक मूल्यों एवं वर्जनाओं को तोड़ती हुई समाज के किसी ऐसे बन्धन को स्वीकार नहीं करती जिसमें नारी को पुरुष की दासता स्वीकार करनी पड़े।

आधुनिक युग में उपन्यास साहित्य जिनता विकास पर पहुँचा है, उतना साहित्य का अन्य कोई अंग नहीं । अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता, जीवन दर्शन स्पष्ट करने का पूर्ण अवसर संभवत: उपन्यास में ही मिलता है। आज विश्व की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में द्रुत गति से परिवर्तन आ रहा है और यह परिवर्तन की प्रक्रिया वैज्ञानिक युग में भौतिकतावादी जीवन दृष्टि के कारण विशिष्ट है। इसके कारण समाज के मूल्य एवं प्रतिमानों में व्यापक उतार चढ़ाव आया है। कल का समाज आज नहीं रहा और कहा नहीं जा सकता कि आने वाले कल का समाज कैसा होगा? महिला कथाकारों ने

उपन्यासों के माध्यम से इस परिवर्तन की प्रक्रिया को नारी जीवन के संदर्भ में समझने एवं विश्लेषित करने का सराहनीय प्रयास किया है। विगत एवं वर्तमान समाज में स्त्री की स्थिति का संश्लिष्ट चित्रण इन उपन्यासों में हुआ है।

महिला कथाकारों की उपन्यासों में नारी-चेतना एवं नारी-जागृति का निरूपण विभिन्न रूपों में हुआ है। इन उपन्यासकारों ने एक तरफ नारी जीवन से सम्बन्धित प्रमुख समस्याओं जैसे दहेज प्रथा, अन्तर्जातीय-विवाह, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, अनमेल-विवाह, वेश्यावृत्ति, पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक स्थिति आदि का निरूपण किया है तो दूसरी ओर नारी के स्वाभिमान, प्रतिशोधात्मक भाव, चरम सहन-शीलता, मातृत्व, ममत्व, पतिव्रत्य, शील-सदाचार, मर्यादा एवं महत्ता का भी सशक्त चित्रण किया है। इस सम्बन्ध में श्रीमती बसन्ती पन्त का मत है कि — "इन उपन्यासों में नारी चेतना के स्वर एक उद्घोष के रूप में ध्वनित हुए हैं। अधिकांश उपन्यासकारों ने नारी जीवन और उससे सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं का न केवल सामान्य निरूपण किया है, अपितु उनके सम्वन्ध में जीवन्त निष्कर्ष और युग सापेक्ष निदान भी प्रस्तुत किए हैं। उपन्यास वह सशक्त माध्यम है जिसमें नारी जीवन की चेतना के समग्र आयाम, परिवेश की जटिलताओं को आत्मसात किए हुए सार्थक रूप से प्रतिफलित हुए हैं।"[1]

महिला कथाकारों के उपन्यासों में परिवर्तित होते हुए प्रतिमानों की अभिव्यक्ति बड़े ही कुशल ढंग से हुई है। अतः बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का अध्ययन इन उपन्यासों के माध्यम से भली भाँति किया जा सकता है तथा समाज में नारी की बदलती हुई स्थिति को देखकर , स्थिति की प्रक्रिया को समझ कर, आने वाले समय में नारी की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की कल्पना आसानी से की जा सकती है और इस कल्पना के माध्यम से अतीत का विश्लेषण और वर्तमान का अध्ययन कर के उसके भविष्य को अपेक्षाकृत सुखद

---

1. हिन्दी उपन्यास : रचना विधान एवं युगबोध, श्रीमती बसन्ती पन्त, पृ0, 95

बनाया जा सकता है। आधुनिक युग में सदियों से चली आ रही सामाजिक, आर्थिक विडम्बनाओं और विषमताओं का अन्त हुआ है और वैचारिक जगत में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है उस वैचारिक परिवर्तन में इन उपन्यासों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

महिला कथाकारों की उपलब्धियों को देखते हुए "अब तक के औपन्यासिक विकासक्रम के परिप्रेक्ष्य में उभरती हुई कतिपय संभावनाओं को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। यह निश्चित है कि दीर्घ कलेवर वाले उपन्यासों का युग समाप्त हो रहा है। कल का उपन्यास केवल समस्याओं को उभारने का ही उत्तरदायित्व निभायेगा क्योंकि आदर्शवादी समाधानों के खोल अब जेहन से उतरते जा रहे हैं भावी हिन्दी उपन्यासों में घटनाएं गैर महत्वपूर्ण होती जायेंगी और यथातथ्य वर्णनों का बाहुल्य होगा।"[1]

बीसवीं शताब्दी का सातवाँ एवं आठवां दशक उपन्यास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण रहा है। विशेष रूप से महिला कथाकारों के उपन्यासों के संदर्भ में यह युग उपन्यासों की मात्रा एवं गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इन उपन्यासों में आश्वस्ति उत्पन्न करने का सामर्थ तो है ही साथ ही कथ्य को नवीन भंगिमा के साथ प्रस्तुत करने की चेष्टा भी परिलक्षित होती है। इनमें परंपरा के सृजनशील उपयोग पर बल दिया गया है तथा विरोधी वातावरण में जीवन की विसंगतियों से संघर्ष करती हुई स्त्री की साहसिकता का प्रभावपूर्ण ढंग से अंकन हुआ है। नारी जीवन की संघर्ष शीलता, मानसिकता एवं अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन करने में महिला कथाकारों ने विशेष सफलता अर्जित की है।

इन दशकों की महिला कथाकारों के उपन्यासों में व्यक्ति के अन्तर्जगत का कौशलपूर्ण विश्लेषण दृष्टिगोचर होता है। इनमें पुरुष और स्त्री की वैयक्तिकताओं की टकराहट से एक नवीन भाव बोध का फलक बनता है। यहाँ नारी के समक्ष अपनी पहचान का संकट भी है और अपने जीवन में उपस्थित अवरोधों को भेदने की चेतना भी। इन

---

1. समकालीन हिन्दी साहित्य - वेद प्रकाश वर्मा अमिताभ - जवाहर पुस्तकालय, मथुरा - 1973

उपन्यासकारों के द्वारा स्त्री जीवन की अनेक समस्याओं को उठाया गया है और उसे देखने की कोशिश भी की गयी है।

महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में स्त्री के आत्मपरायेपन को पकड़ने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। इस स्तर पर इन लेखिकाओं द्वारा स्त्री की नियति, उसके संघर्ष तथा उनकी तेजी से बदलती हुई सामाजिक भूमिकाओं में स्त्री को रखकर देखने की तत्परता दिखाई देती है। इन लेखिकाओं ने स्त्री की सम्पूर्ण यातना को उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत किया है तथा नारी देह में उपस्थित संवेदनशील मन के आह्लाद और उसमें जन्म लेने वाली ऐसी वेदना का भी प्रस्तुतीकरण किया है जो उसके अनेक अनुद्घाटित पक्षों को खोलता है और एक नवीन दृष्टि से उसके अन्तर्संसार को प्रस्तुत करता है। इनमें स्त्री के प्रति पुरुष की भोग वादी प्रवृत्ति को भी लक्ष्य किया गया है और स्त्री की त्रादसीय एवं नारकीय स्थिति के लिए पुरुष की कुत्सित मनोवृत्तियों को ही मुख्य रूप से जिम्मेदार ठहराया गया है।

इस प्रकार इन उपन्यासों ने स्त्री विमर्श को नये ढंग से आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। इनमें स्त्रियों का एक नया अनुभव संसार, उनकी चिंताएं - दुख, अभिलाषाएं, स्वप्न, एकान्त, दैहिक प्रश्नों का प्रखर ढंग से नये तेवर के साथ प्रस्तुतीकरण हुआ है। इनमें सामाजिक नैतिक, वर्जनाओं, दोहरे मापदण्डों, अन्तर्विरोधों पर विचार किया गया है। बीसवीं शताब्दी के सातवें-आठवें दशक में स्त्री लेखिकाओं की ऐसी प्रखर जागरूक पीढ़ी सामने आई है; जिसने कुरीतियों, परम्पराओं, नैतिक वर्जनाओं एवं दोहरे नैतिक मापदण्डों के विरुद्ध स्त्री विमर्श को नवीन आयाम प्रदान किया है, तथा परम्परागत सामाजिक जीवन मूल्यों को अस्वीकार कर उस पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है और इन मूल्यों को स्त्री विरोधी एवं मानवता विरोधी सिद्ध किया है। 70 एवं 80 के दशक की उपन्यासों में स्त्री विमर्श सम्बन्धी दृष्टिकोण ने नारी के अन्दर अस्मिता, स्वाधीनता एवं अस्तित्व के प्रति एक नवीन दृष्टि उत्पन्न कर दी है। ये हिन्दी में महिला उपन्यासकारों की उपन्यासों की अत्यन्त ही महत्वपूर्ण उपलब्धी रही है।

आधुनिक महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में जड़ता ग्रस्त मूल्यों की निर्मूल्य दशा को प्रत्यक्षीकृत किया गया है। इन लेखिकाओं ने पूर्ववर्ती लेखन के सुधारवादी दृष्टिकोण को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर विद्रूप सत्य को अभिव्यक्त करने में अपना श्रम खर्च किया है। संस्कारहीनता, कुसंस्कार व तद्जनित जड़ता को अनेक दृष्टियों से विवेचित एवं विश्लेषित करने का उपक्रम भी हुआ है। 'पतझड़ की आवाजें' उपन्यास में मध्यवर्गीय शहरी जीवन के माध्यम से समस्त भारतीय परिवेश की अगति को एवं कुसंस्काराश्रित आचरणगतता को कथा के माध्यम से विवेचित करने का सार्थक प्रयास निरूपमा सेवती ने किया है ।

महिला लेखिकाओं की उपन्यासों में कर्म में यथार्थ के प्रति आग्रह का भाव अधिक साकार हुआ है। अनुभूत यथार्थ को ही जीवन की अभिव्यक्ति का आधार स्वीकारा गया है और लेखन कर्म के लिए अनुभव की प्रमाणिकता को ही सम्मानित किया गया है। यथार्थ के प्रति प्रबल आग्रह ने कटुयथार्थ को ही नहीं नग्नयथार्थ चित्रण को भी प्रेरणा प्रदान की। प्रतिस्पर्धा, अनास्था, मूल्यहीनता के युग में कुचली जाती हुई जिजीविषा के प्रमाणिक आलेख प्रस्तुत किये गए हैं। घुटन, कुण्ठा, निराशा, उत्पीड़न एवं संत्रास के वर्चस्व के कारण व्यक्तिवादी मानसिकता को उपन्यासों का विषय बनाया गया है। उपन्यास साहित्य में 1960 से 1980 तक का समय मूल्यों, आदर्शों, परम्पराओं को नकारने के कारण मूलत: व्यक्ति सत्य के उद्घाटन के युग के रूप में सामने आया है।

इस सत्य का उद्घाटन महिला लेखक में जिस सजगता प्रखरता, नवीन तेवर तथा नई भावभंगिमा के साथ हुआ है उसे नकारा नहीं जा सकता है। यही कारण है कि व्यक्तित्व की भव्यता, औदात्य मण्डित छवि, प्रभामण्डल की विवशता से मुक्त हो कर इन लेखिकाओं ने दैनन्दिन क्रियाकलापों में रत आम स्त्री को कथा का केन्द्र बिन्दु बनाया है तथा उसकी जिजीविषा को अविकल भाव से यथार्थ रूप में अंकित किया है। प्राय: निराशा, कुण्ठा, यौनाक्रान्त तल्खीभरा दोहरा आचरण, व्यक्तिवादी, अहंवादी, गतिशील एवं प्रेमातुर नारी को ही केन्द्र में रखकर उपन्यास लिखे गए। स्थितियों एवं घटनाओं का निर्माण इनकी गहरी जीवन पैठ से संदर्भित है, तथापि इस समय की महिला लेखिकाओं की उपन्यासों की स्त्री नितान्त असहाय, पंगु, विकल्पहीन एवं निराश होकर ही रह जाती है।

सातवें और आठवें दशक में महिला उपन्यास लेखन की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह भी रही है कि इस समय के उपन्यास लेखन में पतिपरायणता की भावना की अवहेलना कर तथा परम्पराओं को अस्वीकार कर अपनी निजता के अनुसन्धान में सचेष्ट नारी को अंकित करने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। आजादी के पश्चात परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों में शिक्षा के साथ-साथ स्त्री- पुरुष की ही भाँति समस्त बाह्य सामाजिकता से सम्पूर्णत: जुड़ सकी है। अब सत्य के साक्षात्कार के कारण उसकी सोच तथा सोच की दिशाओं में और उसकी चेष्टाओं में पर्याप्त अन्तर आया है। परिवार की सीमाओं का अतिक्रमण कर वह विस्तीर्ण, संश्लिष्ट, गतिमान, सामाजिकता की सहभागी बनी है। यही कारण है कि महिला कथाकारों ने जटिल सामाजिक आचरणगतता के सूक्ष्मतम अव्यवों को, अन्तर्विरोधी आचरणों को, पुरुष के दम्भ से उत्पन्न चुनौतियों को और प्रतिस्पर्धी जीवन पद्धति के वास्तविक स्वरूप को देखकर तथा इस अनुभव सम्पदा को अपने भीतर संजोकर उसे अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। प्रेम, शील, संकोच, आत्मपीड़नहीनता, आत्मलघुता, विवशता आदि नारी को परिभाषित करने वाले शब्दों के अर्थ अब उसके लिए बदल गए हैं। अब नारी की सार्थकता की खोज एक व्यक्ति के रूप में की जाने लगी है एक पारम्परित नारी आचरण के परिपार्श्व में नहीं । नारी स्थिति के यथा-तथ्य चित्रण ने इन दशकों के महिला कथाकारों के उपन्यासों को एक नवीन दिशा दी है परिणामस्वरूप ये उपन्यास परम्परा मुक्त भाव से सामने आएं हैं।

रजनी परिकर अपने उपन्यासों में नारी समस्या मूलक दृष्टि लेकर चलीं हैं। इन्होंने पीड़ित नारी की जीवन दशाओं को, उसकी संघर्षातुर चेष्टाओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।

चन्द्र किरण रौक्सेना ने भी मूलत: नारी की पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इनके उपन्यासों में सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों से संघर्ष करती नारी का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इन दशकों में पुरुष लेखकों के समकक्ष युगीन जीवन संदर्भों में उपन्यास लेखन का उल्लेखनीय प्रयास उषा प्रियंवदा ने किया । इन्होंने उपन्यास के यथार्थ स्वरूप को

स्वीकार करते हुए अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं । इन्होंने जीवन के यथार्थ में व्यक्ति की सत्ता के अनुरूप नारी का चित्रण किया है अत: इनके उपन्यास अपनी सहजता में ही विश्वसनीय बन गए हैं। इसमें चित्रित नारी और उसकी समस्याएं युग सापेक्षता लिए हुए हैं।

मन्नू भण्डारी का लेखन नारी की विवशता का अंकन करने में सचेष्ट तो है ही, साथ ही उससे बाहर सामाजिक समस्याओं को भी गम्भीरता से प्रस्तुत करता है। सातवें दशक में ही महिला लेखन की एक और दिशा निर्धारित हो चुकी थी जिसका आठवें दशक में विपुल विकास हुआ, वह थी महिला लेखन में बोल्ड लेखन की परम्परा का सूत्रपात। जहाँ पूर्व लेखन में शील की बेड़ियों में जकड़ी नारी की लेखनी यौन सम्बन्धों, कामचेष्टाओं और रतिविषयक नारी दृष्टि को अंकित करने में असमर्थ थी और नारियों के अब तक के प्रयास अपने उग्रतम, रूप में पुरुषों पर प्रत्याक्रमण करने अथवा नारी व्यक्तित्व को पुरुषों के समक्ष खड़ा करने में परिलक्षित होते थे, वहीं कृष्णा सोबती प्रभृति अनेक महिला उपन्यासकारों ने पहली बार अपनी उपन्यासों में उन्मुक्त यौन सम्बन्धों, काम समस्याओं ओर पुरुष की नपुंसकता को अंकित करने का दुस्साहस कर पर्याप्त यशोपार्जन किया। ये उपन्यास नारी की करुण गाथा पर आधारित न होकर उसके व्यक्ति रूप को केन्द्रित करके लिखे गए हैं। इसमें पीड़ा का मुखरित संसार न होकर समाज से बेलौस भाव से संघर्ष करने की भावना को साधिकार प्रस्तुत किया गया है।

सत्तर एवं अस्सी के दशक में कतिपय विशिष्ट औपन्यासिक कृतियों जैसे — 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'रुकोगी नहीं राधिका', 'मित्रो मरजानी', 'आपका बंटी', 'पतझड़ की आवाजें' 'उसके हिस्से की धूप', 'चित्तकोबरा' आदि में स्त्री विमर्श को गरिमापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है हिन्दी उपन्यास की इस अभिनव व अनन्यतम उपलब्धि में कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग आदि लेखिकाओं का योगदान अनन्यतम् महत्व रखता है। इन महिला लेखिकाओं की रचनाओं में जीवन के वृहत्तर क्षेत्रों को समेटा गया है। इसमें स्त्री की निजता को उसके आत्मकेन्द्रित मनोवृत्तियों के परिपार्श्व में अधिक गहराई से अंकित किया गया है और सामाजिकता के चिरपरिचित मूल्यवादी आचरण के स्थान पर स्वयं

मूल्यों को ही परखने के उपक्रम हुए हैं। प्राचीन मूल्य अब अपनी अर्थवत्ता खो चुके हैं। पीढ़ीगत अन्तराल की भावना लेखन का प्रबल हथियार बनी जिसके आधार पर पारम्परित आदर्शों पर प्रबल प्रहार किए गए। महिला लेखन द्वारा उस सारी जीवन पद्धति, उसके सारे सोच को और उस समूची मूल्य वादी दृष्टि को अस्वीकार किया गया, जिसका आधार प्राचीन भारतीय आस्थावादी रुख था।

आठवें दशक में सर्वप्रथम विदेशी जीवन को उपन्यास का विषय बनाया गया। विदेशी पात्र, परिवेश और उनकी सांस्कृतिक धारा हिन्दी उपन्यास का विषय बनी।

मूल्यवादी दृष्टिकोण में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। मूल्यों के विरोध एवं उसके प्रति अविश्वास के साथ मूल्य हीनता का अंकन भी उपन्यासों में किया जाने लगा। परिवर्तित जीवन शैली में भौतिक सत्यों को यथार्थ स्वीकृत मिली और परम्परा को प्रश्नों के घेरे में लिया जाने लगा। आधुनिकता और परम्परा का द्वन्द्व इसका मुख्य विषय बना । जब आधुनिकता की स्वीकारोक्ति प्रबल हुई तो मूल्यों के प्रति अविश्वास के कारण परम्पराओं को नकारने का भाव सामने आया। इस समय की उपन्यासों में स्त्री एवं पुरुष सांस्कृतिक जड़ता से ग्रस्त न होकर आधुनिकता का अनुसरण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। अनास्था इनमें मूल्यविरोधी भाव भरती हुई दिखाई देती है। इस समय के लेखन में नारी औदात्य युक्त व्यक्तित्व से टूटकर एक साधारण एवं सामान्य स्त्री के रूप में अंकित की गई है।

आठवें दशक में महिला लेखन पूर्ववर्ती दशकों की अपेक्षा अधिक गम्भीरता को प्राप्त हुआ। उनका यथार्थ विश्वसनीय हुआ उनकी दृष्टि संस्कारित होकर पुरुषों की तरह के आधुनिक बोध को पकड़ सकी और सक्षम रूप से उसे अभिव्यक्ति देने में समर्थ हो सकी। इन महिला कथाकारों के उपन्यासों में नारी का जो व्यक्तित्व निरूपित किया गया है उसमें दृढ़ता, आत्मविश्वास, पुरुष के प्रति प्रतिस्पर्धी भाव, सामाजिक चुनौतियों से संघर्ष करने की ललक, मूल्यों के प्रति अविश्वासमयी दृष्टि और नारी की पारम्परित वर्जनाओं, निषेधों, मर्यादाओं, संकोचशीलजन्य जड़ताओं से बाहर आकर तीव्र गति से भागती हुई दुनिया के

साथ नवबोध को धारण करने की अदम्य अभिलाषा दिखाई देती है। इस समय महिला कथाकारों द्वारा विपुल साहित्य सृजन किया गया। संख्या की प्रचुरता के साथ-साथ महिलाओं द्वारा लिखे गए नवीन उपन्यासों का, दशक की समस्त रचनाओं में उल्लेखनीय महत्व है। इन उपन्यासों में भारतीय जीवन प्रसंग अधिक सक्षम ढंग से सकार हुए हैं।

: उपसंहार :

उपन्यास समग्र जीवन की विधा है। यथा धर्मिता इसका प्राणतत्व है। यह अपने समय की नैतिकता से दूर नहीं हो सकता, उपन्यासकार अगर नैतिक समस्याओं से आँख चुराता है तो मानना चाहिए कि वह अपने दायित्व से मुँह मोड़ रहा है। नैतिक समस्या उपन्यासकार को विचलित करती है। अत: उसे अपने ढंग से उसका मुकाबला करना चाहिए उसे अपने समय की विद्रूपताओं और विरूपताओं के प्रति सचेत होना चाहिए। आधुनिक उपन्यासों की भूमिका इस दृष्टि से कुछ अपवादों को छोड़कर महत्वपूर्ण रही है।

उपन्यास की उत्कृष्टता का मापदण्ड यह है कि वह स्वयं को तात्कालिकता के प्रभाव से कितना मुक्त रखता है। वास्तव में उपन्यास एक सपने अथवा कल्पना की अभिव्यक्ति है, आकांक्षा का संघर्ष है, भविष्य का चेहरा है और कुल मिला कर यदि देखा जाए तो यह अपने समय के प्रश्नों की प्रक्रिया के मध्य संघर्षरत व्यक्ति का जीवन है। यही कारण है कि उपन्यास रचे-गढ़े उत्तरों का संसार नहीं हो सकता। आधुनिक हिन्दी महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में स्त्री जीवन की विडम्बना का बोध मुखरित हुआ है। इनमें स्त्री पात्र विरोधी वातावरण में भी अपने व्यक्तित्व के लिए संघर्ष रत है।

स्वातन्त्र्योत्तर महिला उपन्यास लेखन पर परिवर्तित सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। स्वतंत्रता के पश्चात देश की बदलती हुई स्थिति के फलस्वरूप विभिन्न मानव मूल्यों एवं संदर्भों में व्यापक परिवर्तन आया है। आज के युग में प्राचीन नैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्य परिवर्तित हो चुके हैं। मूल्यों का विघटन, भ्रष्टाचार, राजनीतिक पतन, जाति-पाँति, आर्थिक विषमता तथा अव्यवस्था से पीड़ित लोग जहाँ उपन्यास के प्रमुख केन्द्रीय पात्र के रूप में आए हैं, वहीं वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले उपन्यासों का भी व्यापक मात्रा में सृजन हुआ है। इस दृष्टि से कृष्ण सोबती का उपन्यास 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अँधेरे के' उषा प्रियंवदा का 'पचपन खंभे लाल

दीवारें', 'रुकोगी नहीं राधिका', मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप', 'चित्त कोबरा' तथा राजी सेठ का 'तत्-सम्' उपन्यास प्रमुख है। इन उपन्यासों में वैयक्तिक जीवन दर्शन से प्रभावित प्रेम सम्बंधों के परिवर्तित रूप एवं यौन वर्जनाओं के प्रतिरोध को मुखरित किया गया है। वैयक्तिक जीवन दर्शन से प्रभावित इन उपन्यासों का प्रमुख स्वर स्वातन्त्र्य की भावना से संबंधित है तथा इसी परिप्रेक्ष्य में नवीन मूल्यों की स्थापना भी हुई है। अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों को उदघाटित करते हुए इस कोटि के उपन्यास व्यक्ति के नितान्त निजी धरातल पर परंपरागत दृष्टि को हेय मानते हुए नवीन चेतना का समर्थन करते हैं। इस धरातल पर स्त्री-पुरुष संबंधों में अस्तित्व चेतना, यौन-स्वच्छन्दता, विद्रोह, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, सम्पूर्णता, चयन, जिजीविषा निर्भीकता आदि मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। इनमें आधुनिक दृष्टि का प्रसार करते हुए नारी की नवीन चेतना को विशेष अभिव्यक्ति दी गई है।

विवेच्य कालावधि के उपन्यास लेखन में परम्परागत रूढ़ियों का तिरस्कार तथा मूल्यहीनता की प्रवृत्ति का विरोध भी प्रदर्शित किया गया है। इस संदर्भ में जिन उपन्यासों की मीमांसा हुई है वे अपने व्यापक धरातल पर नवीन मान्यताओं से आवृत्त होकर नवीन मूल्यों का सृजन करते हैं तथा सामाजिक धरातल पर स्वस्थ क्रान्ति का आह्वान कर अपनी नवीन चेतना संपन्न दृष्टि का परिचय देते हैं।

छठे दशक के बाद से हिन्दी उपन्यास लेखन पूर्व की अपेक्षा अधिक वृहत्तर सामाजिक यथार्थ से जुड़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसमें मध्यम वर्गीय एवं उच्च मध्यमवर्गीय जीवन की गहन पड़ताल दृष्टिगोचर होती है। इन उपन्यासों में जीवन के संत्रास, घुटन, अकेलेपन, ऊब, पीड़ा, अजनबीपन एवं निराशा की त्रासद स्थितियों को गहनता से उद्घाटित किया गया है साथ ही समाज में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों, विडम्बनाओं, शोषण, अत्याचार, अनाचार, रजनीतिक पतन एवं भ्रष्टाचार आदि का यथातथ्य चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से व्याख्यायित करने का सार्थक प्रयास भी हुआ है।

विवेच्य कालावधि का उपन्यास लेखन स्त्री विमर्श के विकास एवं उसकी नवीन संभावनाओं के लिए स्मरणीय रहेगा। इस कालावधि के उपन्यासों में विशेष रूप से महिला लेखिकाओं के द्वारा उपन्यास साहित्य को परंपरागत नारी चिंताओं और प्रश्नों से मुक्त कर नयी भूमि प्रदान की गई है। यह भूमि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्री नियति और शोषण जैसे अनेक प्रश्नों से निर्मित हुई है। इस दौर की अनेक उपन्यास लेखिकाओं में स्त्री जीवनके जटिल प्रश्नों से मुठभेड़ की प्रवृत्ति दिखाई देती है ।ये उपन्यास प्रमुख रूप से समस्या केन्द्रित होते चले गए हैं। इनमें निरूपमा सेवती का 'दहकन के पार' एवं 'पतझड़ की आवाजें', शशिप्रभा शास्त्री का 'नावें' एवं 'सीढ़ियाँ,' कृष्णा सोबती का 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रोमरजानी', 'सूरजमुखी अँधेरे के' मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप' आदि प्रमुख हैं।

'दहकन के पार' निम्न मध्यम वर्गीय मुस्लिम परिवार की समस्त यातनाओं, विसंगतियों एवं टूटन को व्यक्त करता है। इसमें लेखिका ने मुस्लिम परिवार के अभाव, व्यथा, कुरीतियों आदि में घुलती नारी की नियति का सजीव चित्रांकन किया है। कृष्णा सोबती अपने उपन्यास 'मित्रो मरजानी' में पुरुष सत्तात्मक समाज में उनके रूढ़ नैतिक मानदण्डों पर प्रहार करती हैं। मेहरुन्निसा परवेज ने अपने उपन्यास 'आँखों की दहलीज' एवं ' कोरजा' उपन्यास में स्त्री एवं उसकी नियति को अनेक स्तरों तक ले जाकर देखा है। इनमें नारी जीवन की त्रासद स्थिति की मार्मिक व्यंजना हुई है। इनमें कहीं शिक्षा पर कहीं शासन व्यवस्था पर और कहीं पुरुष की संकीर्ण मानसिकता पर चुभते व्यंग भी हैं । इनमें परंपरा से भिन्न मूल्यों के प्रति आग्रह भी दृष्टिगोचर होता हैं, क्योंकि नर-नारी की समकालीन समस्याओं को उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत न कर पाने की विवशता इनमें दृष्टिगोचर होती है। 'पतझड़ की आवाजें' ऐसा ही उपन्यास है, इसमें आर्थिक विसंगतियों के कारण उत्पन्न समसस्याओं का सघनता से उद्घाटन किया गया है। इन उपन्यासों में न केवल स्त्री जीवन के अनेक जटिल प्रश्नों के विश्लेषण की कोशिश की गई है, अपितु भारतीय

सामाजिक जीवन के अनेक पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया है। इन उपन्यासों में महिला लेखन के पारंपरिक लीक से मुक्ति की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है।

आधुनिक महिला उपन्यासकारों की समस्या संष्लिष्ट नारी व्यक्तित्व के निर्माण की समस्या है। उन्होंने नारी पात्रों को उनके जीवन, परिवेश और मानसिकता में रेखांकित करने की सफल चेष्टा की है।

साठ के बाद के महिला लेखन में जिन महिला उपन्यास लेखिकाओं का प्रमुख स्थान रहा है, उनमें कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, शशिप्रभा शास्त्री, निरूपमा सेवती, मृदुला गर्ग, मेहरुन्निसा परवेज, राजी सेठ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं का व्यापक विश्लेषण एवं विवेचन करके स्त्री विमर्श को नवीन आयाम प्रदान किया है। आधुनिक उपन्यास साहित्य में स्त्रीविमर्श का मुख्य केन्द्र बिन्दु यह है कि स्त्री को उसकी परम्परागत छवि से ऊपर भी कुछ समझा जाए - एक बराबर इंसान 'मानवी' माना जाए, उसे मात्र उपयोग की वस्तु न माना जाए और उसे विकास के समान अवसर प्राप्त हो तथा उसे एक पुरुष को छोड़ने के लिए दूसरे पुरुष का सहारा लेने की आवश्यकता न पड़े।

स्त्री विमर्श की दृष्टि से उपन्यास साहित्य में छठे एवं सातवें दशक के उपन्यास लेखन का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस काल के उपन्यास स्त्री-स्वातन्त्र्य की चेतना से युक्त है। इस समय की उपन्यासलेखिकाओं ने अपने उपन्यासों के माध्यम से यह विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है कि स्त्री स्वातन्त्र्य में विश्वास रखना ठीक है यह पुरुषों के खिलाफ नहीं अपितु पितृसत्ता के खिलाफ है। तात्पर्य यह है कि यह उन मूल्यों के खिलाफ है जो शोषण धर्मिता पर टिके हैं । स्त्री विमर्श के अन्तर्गत इन लेखिकाओं ने स्त्रीवाद के सबसे बड़े अवदान के रूप में 'पर्सनल इज पॉलिटिकल' यानी वैयक्तिक यातनाओं का सामाजिक संदर्भीकरण एवं 'यूनीवर्सल सिस्टर हुड' अर्थात सार्वभामिक भगिनीवाद का

नारा दिया। स्पष्ट है कि इन मान्यताओं के अनुसार स्त्रियाँ जो अभी तक शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक यातनाएं वैयक्तिक विफलता के नाम पर एकान्त में प्रताड़ित होती हुई झेलती थी उनका आज सामाजिक संदर्भीकरण हो चुका है। जीव वैज्ञानिक, भाषावैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक हर तरह से यह प्रमाणित कर चुके हैं कि स्त्रियाँ शारीरिक एवं मानसिक बनावट में पुरुषों से भिन्न अवश्य हैं, हीनतर नहीं और उनकी समस्याओं का निदान पुरुष से प्रतिद्वन्दिता करने एवं पुरुष जैसा होने में नहीं है अपितु सामाजिक आर्थिक विकास के समान अवसरों की कोशिश है। अधिकांश उपन्यासों की मूल चेतना स्त्री की सामाजिक समस्याओं से संबंधित है। ये समस्याएं स्त्री–पुरुष के संबंधों को लेकर, नारी की गिरती अवस्था को लेकर, विभिन्न स्तरों पर हो रहे उसके शोषण को लेकर, उसकी अस्मिता एवं अस्तित्व की रक्षा से जुड़े सवालों को ले कर उत्पन्न हुई हैं।

इन उपन्यासों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें स्त्री–पुरुष के चिरंतन संबंधों की मधुरता का उतना चित्रण नहीं है, जितना उनके पारस्परिक संबंधों में टूटन, दरार और तनाव से उत्पन्न स्थितियों का वर्णन है। साथ ही इनमें इस तथ्य को भी विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है कि नारी दिन भर थक कर, परिश्रम एवं संघर्ष कर, गर्भ धारण कर एवं पुरुष को मानसिक एवं शारीरिक सुख देकर भी उपेक्षित क्यों है? आज स्त्रियाँ जागरूक हो रही हैं, शिक्षित हो रही हैं वे अपने 'स्व' एवं 'अस्मिता' की तलाश में हैं पर उनके जीवन में समानता कहाँ आई है? वे अन्या क्यों हैं? उनकी स्थिति दोयम दर्जे की क्यों है? इन प्रश्नों को उठाते हुए आधुनिक उपन्यास लेखिकाओं ने न नारी से समर्पण कराया है और न उनका करुण राग ही अलापा है, अपितु इन उपन्यास लेखिकाओं ने नारी के आत्मसंघर्ष, आंतरिक संसार एवं दैनिक क्रियाकलापों का सूक्ष्म अध्ययन विश्लेषण करते हुए उसके जुझारू व्यक्तित्व, आक्रामक तेवर और अनंत जिजीविषा को रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है। इन उपन्यासों में स्त्री के व्यक्तित्व को नवीन परिप्रेक्ष्य में उभारने का प्रयत्न भी परिलक्षित होता है। यही प्रयत्न स्त्री विमर्श को

नवीन दृष्टि एवं प्रोत्साहन देता है, साथ ही स्त्री विमर्श के विकास की नवीन संभावनाओं एवं भविष्य का भी संकेत करता है। इन उपन्यासों में व्यक्त स्त्री विमर्श का क्रमशः विकास तो हो ही रहा है साथ ही यह अनेक चुनौतियों का सामना कर के नवीन चुनौतियों को भी उत्पन्न कर रहा है।

आधुनिक उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श की समीक्षा करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह स्त्री के व्यक्तित्व, अस्मिता एवं अस्तित्व से संबंधित अनेक आयाम एवं दृष्टिकोण भी प्रस्तुत कर रहा है जो स्त्री विमर्श के सुदृढ़ एवं उन्नतिशील भविष्य के लिए आवश्यक है। इन उपन्यासों में जहाँ स्त्री विमर्श पर अतीत का प्रभाव है वहीं भविष्य की संभावनाएं भी सन्निहित हैं। उपन्यासों में इन संभावनाओं की गहन तलाश हुई है। स्त्री विमर्श के अन्तर्गत स्त्री का जीवन, समाज और परिवेश की परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष करता रहता है और यह संघर्ष तब तक अनवरत चलता रहता है जब तक कि अतीत की ध्वनि के साथ भविष्य का दिशा-निर्देश न हो तथा साथ ही भव्य भविष्य की नींव न रख दी गई हो।

आज साहस हीनता, दुविधा, परिवर्तन की अकुलाहट तथा परम्परागत मूल्यों का अवमूल्यन संक्रमणकालीन समाज में स्त्री मुक्ति का पर्याय बनता जा रहा है। सिद्धान्तः तो नारी को काफी स्वतंत्रता मिली है, लेकिन सामाजिक संस्थाओं का रूप आज भी पारंपरिक है। सिद्धान्त तथा व्यवहार गत अन्तर स्त्री के भीतर अंतर्द्वन्द्व उत्पन्न करता है और वह इस अन्तर को समाप्त कर देना चाहती है। मुक्ति उसे अच्छी लगती है, मगर इसका अर्थ भली-भाँति न जानने के कारण वह कुछ भटक गई है। वास्तव में मुक्ति का अर्थ पारिवारिक दायित्वों, पुरुष के संरक्षण-स्वामित्व-सहयोग, सामाजिक संबंधों अथवा नैतिक मूल्यों से मुक्ति नहीं है। मुक्ति के सन्दर्भ में गंभीरता से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री हो या पुरुष मुक्ति कोई नहीं चाहता। जीवन में श्वासों के साथ अनेकानेक बंधन जुड़े रहते हैं; चाहे वो पारिवारिक हों, सामाजिक हों, धार्मिक हो, नैतिक हों या कानूनी हों। वास्तव में मुक्ति का सही अर्थ व्यक्तित्व हीनता एवं जड़ता से मुक्ति होना

चाहिए और इसी अर्थ में मुक्ति को स्वीकार कर के स्त्री समाज में अपनी अलग मानवीय पहचान बना सकती है। वह अपनी अस्मिता, अस्तित्व एवं 'स्व' की तलाश व रक्षा कर के समाज में अपना वह स्थान बना सकती है, जो पुरुप के विरुद्ध न होकर पुरुष से भिन्न होगा। हिन्दी उपन्यासलेखन में स्त्री विमर्श को इसी संदर्भ में विवेचित एवं विश्लेषित करने का सार्थक प्रयत्न हुआ है।

विवेच्य कालावधि की उपन्यासों में नारी के द्वारा परम्परा व आधुनिकता के नकार -स्वीकार को विवेक की कसौटी पर परखने का प्रयास भी दृष्टिगोचर होता है। इन उपन्यासों में इस समस्या की ओर भी ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास है कि आधुनिकता उच्छृंखलता का पर्याय नहीं जिसकी परिधि में दायित्वों के नकार एवं आत्मकेन्द्रित जीवन को लिया जाए , और न ही परम्परा का अर्थ वे जीवन मूल्य है, जिनमें 'आदर्शत्व' की समस्त संभावनाओं को समेट कर नारी के अस्तित्व की सार्थकता घर, पति व बच्चों में विलीन कर दी जाए। दोनों ही धारणाएं भ्रम उत्पन्न करतीं हैं। प्रतीक रूप में 'परम्परा' को बुरा और 'आधुनिकता' को भला मानना भ्रम मात्र है। अत: इस संदर्भ में मर्यादित स्वतंत्रता तथा अमर्यादित उच्छृंखलता के मध्य अन्तर को समझना आवश्यक है। आज जो चुनौतियाँ स्त्री के समक्ष हैं उसका उसे स्वयं सामना करना होगा । वर्तमान समाज में नारी संबंधी चिंतन में क्रमश: उत्तरोत्तर सुधारात्मक परिवर्तन आ रहा है और उसके परिणाम स्वरूप सफलतापूर्वक स्त्री जिस प्रकार विभिन्न चुनौतियों का सामना कर सकती है उसकी अभिव्यक्ति सातवें एवं आठवें दशक के महिला उपन्यास लेखन में स्त्रीपात्रों के माध्यम से सफलतापूर्वक हुई है।

हिन्दी उपन्यासों में अधिकांशत: 'स्त्री' को उसके भोग्या रूप में चित्रित किया गया है। इसका मुख्य कारण अपने युग में पनपने वाली समस्या या विकृति का वर्णन तथा इस प्रवृत्ति की बढ़ती समस्या को रेखांकित करना है। यह अत्यन्त ही गहन एवं चिन्तनीय समस्या है इसे मनुष्य की धनाशक्ति ने सर्जा, पोषा एवं बढ़ाया है । परिणाम स्वरूप यह

समस्त मूल्यों,आचार -विचारों एवं नैतिकताओं को आच्छादित कर व्यक्ति को मानमाने ढंग से संचालित कर रही है। यह समस्या नारी के भ्रष्ट, बेईमान एवं व्यावसायिक हो जाने की नहीं है, अपितु नारी एवं पुरुष दोनों अर्थात समाज के भ्रष्ट एवं पतित हो जाने की है। जिस प्रकार से स्त्री स्वयं को भोग्या रूप में प्रस्तुत कर रही है, वह चिन्तनीय है, इसके दुष्परिणाम स्वरूप उसकी कोई स्पष्ट एवं सार्थक पहचान न बन सकी और समाज में नैतिकता संबंधी अनेक समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। यह प्रवृत्ति स्त्री मुक्ति, जागृति एवं आधुनिकता की नहीं, अपितु उसके मानसिक पतन की सूचक है। नारी का भोग्या रूप स्वतंत्रता नहीं है। वह यदि वास्तव में स्वतंत्र होगी तो वासना से मुक्ति पाने के बाद ही और यदि आधुनिक नारी यह त्याग यह साधना नहीं कर सकती तो मुक्ति या स्वतंत्रता की बात कहना व्यर्थ है और ऐसे में नारी मुक्ति अथवा नारी जागरण आन्दोलन, समाज सुधारकों के संघर्ष एवं अनेक उदारवादी एवं कानूनी अधिकार व्यर्थ हैं और इनका परिणाम यही होगा कि नारी जग कर, प्रबुद्ध होकर स्वयं को पुनः उसी दलदल में ढकेल लेगी जहाँ से वह निरन्तर संघर्ष परिश्रम एवं प्रयासों के फलस्वरूप निकल सकी है।

उपर्युक्त संदर्भ में यह प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या स्त्री स्वयं को वस्तु बनाकर आत्मिक संतोष व सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित कर पाई है? और क्या उसका ऐसा उच्छृंखल आचरण कहीं भी, किसी भी कोण से स्वस्थ कहा जा सकता है? वास्तविक जगत के सामानान्तर उपन्यासों में यह स्थिति समस्या के रूप में विश्वसनीय एवं स्वाभाविक रूप से उभरी है। इस संबंध में उपन्यास लेखिकाओं द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि चारित्रिक पतन द्वारा भौतिक और व्यावसायिक उन्नति प्राप्त कर लेना समस्या का समाधान नहीं है। समस्या के समाधान के लिए स्त्री को स्वयं उत्तरदायी बनना होगा साथ ही उसे अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी। इसके लिए स्त्री को अपने अन्दर आत्मबल, चारित्रिक दृढ़ता एवं सांसारिक प्रलोभनों को तुच्छ मानने की प्रवृत्ति का विकास करना आवश्यक है।

इस प्रकार बींसवीं शताब्दी का आठवां दशक स्त्री विमर्श की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है क्योंकि इस काल में हिन्दी के महिला उपन्यास लेखन ने अपनी 'संपूर्ण दृष्टि' पा ली है। इस समय की उपन्यास लेखिकाओं ने, जिनमें कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, निरूपमा सेवती, मेहरुन्निसा परवेज, दीप्ति खण्डेलवाल, राजी सेठ, मृणाल पाण्डेय आदि का उल्लेखनीय स्थान है इनकी उपन्यासों में स्त्री विमर्श का नवीन रूप अधिक आश्वस्त कारी और महत्वपूर्ण बन गया है। इन उपन्यास लेखिकाओं ने अपनी उपन्यासों में स्त्री के अन्तर्जगत का पूर्ण कौशल से विश्लेषण एवं विवेचन किया है, जिसमें पुरुष एवं स्त्री की वैयक्तिताओं की टकराहट से एक नवीन एवं विस्तृत भावबोध का फलक निर्मित हुआ है। इनमें जहाँ एक ओर स्त्री अस्मिता एवं स्त्री अस्तित्व का संकट है तो वहीं दूसरी ओर अपने जीवन में उपस्थित अवरोधों को भेदने का प्रयास भी है। अपनी नई दृष्टि के कारण ये उपन्यास अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। जिसमें अपने समय तथा समाज की अनेक स्त्री संबंधी समस्याओं एवं विकृतियों को उठाया गया है तथा उसकी विभीषिका एवं समाधान को उद्घाटित करने की कोशिश की गई है।

स्त्री विमर्श की दृष्टि से इन उपन्यासों में मुख्यत: दो तरह की प्रवृत्तियों दृष्टिगोचर होती हैं । पहली प्रवृत्ति राजनीति एवं साम्प्रदायिकता के कुत्सित वातावरण में स्त्री शोषण एवं उत्पीड़न को लक्षित करती है और दूसरी प्रवृत्ति स्त्री के आत्मपरायेपन को पकड़ने की है। इन उपन्यासों में स्त्री को उसकी नियति, उसके संघर्ष तथा तेजी से परिवर्तित होती हुई सामाजिक भूमिकाओं में रखकर देखने का प्रयास किया गया है साथ ही स्त्री की सम्पूर्ण यातना शोषण एवं उत्पीड़न को प्रस्तुत करने का प्रयास भी दृष्टिगोचर होता है। इन उपन्यासों में नारीदेह में उपस्थिति संवेदनशील मन के आनन्द, आह्लाद एवं उससे प्रादुर्भूत वेदना की ऐसी कथा है जो स्त्री के अनेक अनुद्घाटित पक्षों को उद्घाटित करती हैं और एक नवीन दृष्टि से उसके अनतर्संसार को खोलती हे। इन उपन्यासकारों ने ऐसे स्त्री चरित्रों का निर्माण किया है, जो अपनी भूमिका को नवीन सोच देते हैं और बदलते समय एवं

परिस्थितियों में स्त्री की स्थिति और उसकी अपरिहार्यता की सबसे बड़ी जरूरत है। इन उपन्यासों में समय की प्रक्रिया में बदलते समाज, व्यक्ति, आचरण और उसके क्रिया कलापों में निरन्तर परिवर्तित होती हुई स्त्री दृष्टि को विश्लेषित करने की सफल चेष्टा हुई है।

इस प्रकार से यह उपन्यास विकास के पथ पर अनेक मोड़ों को पार करते हुए सामाजिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक आयामों में अपनी महत्ता रेखांकित कर रहा है। यह संदर्भ प्रसंगगर्भित हैं, सामयिक हैं, महत्वपूर्ण हैं और वैविध्य लिए हुए हैं इनमें से कुछ में आंशिक परिवर्तन हुए हैं और कुछ आमूल चूल परिवर्तित हो चुके हैं। कुछ ऐसे भी हैं जिनमें बाह्य परिवर्तन भले ही परिलक्षित हो मगर आन्तरिक रूप में वे परम्परानुकूल ही हैं।

आलोच्यकाल के सतवें दशक के उपन्यासों में जिस नवीन भाव बोध का सूत्रपात हुआ, उत्तरवर्ती उपन्यासों में उस भाव बोध का अपेक्षित विकास दृष्टिगोचर होता है। परिणाम स्वरूप आठवें दशक के उपन्यासों में इस भावबोध की प्रतिध्वनि दिखाई देती है। इनमें उपन्यासकारों ने अपने युग की सत्यता के प्रति सतर्क दृष्टि डाली है और उसे सार्थक अभिव्यक्ति भी प्रदान की है। समकालीन बदलते परिवेश में दहेज, नारी-शोषण आदि का अंकन तो इन उपन्यासों में हुआ ही है, साथ ही आर्थिक विषमता और सामाजिक अनुशासन जैसी विकृतियों के कारण स्त्री की स्थिति एवं नियति का भी अत्यन्त ही सूक्ष्म विश्लेषण इनमें परिलक्षित होता है। इन उपन्यासकारों की सूक्ष्म ग्राही दृष्टि स्त्री की स्थिति को समझने एवं परखने में लगी है और प्रत्येक नया उपन्यास स्त्री की किसी न किसी स्थिति की भीषणता को लेकर ही सामने आया है। अधिकांश उपन्यास स्त्री विमर्श के विवेचन एवं विश्लेषण के संदर्भ में ही लिखे जा रहे हैं और विशेष रूप से स्त्री उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यास के परिदृश्य को ज्यादा संवेदनशील, स्नेहार्द और मानवीय बनाया है।

निष्कर्षत: 60 से 80 के दशक के हिन्दी उपन्यासों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री विमर्श अथवा नारीवाद पुरुष और स्त्री के मध्य नकारात्मक भेदभाव के

स्थान पर स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। स्त्री मुक्ति आन्दोलन प्रतिशोध पीड़ित नहीं है। ये स्त्रियाँ अपनी विशिष्ट दैहिक, मानसिक ओर भाषिक संरचना पर गर्व नहीं करती, जो प्राकृतिक विशिष्टताएं हैं शर्मनाक वे नहीं, शर्मनाक आरोपित सामाजिक मानदण्ड हैं जो दोहरे हैं और जिन पर पुनर्विचार करना आवश्यक है, जिससे स्त्री-पुरुष दोनों को विकास के समान अवसर प्राप्त हो सकें । इस प्रकार स्त्री विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं तथा संभावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है। यह दृष्टि एक ओर संपूर्ण सामाजिक जीवन को देखने और रचने का माध्यम बनती है तो दूसरी ओर साहित्य में स्त्री जीवन की जटिल वास्तविकताओं और अनुभूतियों के अभिव्यक्ति की शक्ति भी है। इसलिए स्त्री को चुनौती अपने समीकरण को छोड़ कर पुरुष के समीकरण को पाना नहीं, अपितु अपने सत्य में से वृहत सत्य की परिधि तक जाना है।

अतएव स्त्री विमर्श चाहे वह कविता के माध्यम से हो या आलोचनाओं, कहानी अथवा उपन्यासों द्वारा, उसका स्वागत किया जाना चाहिए, अभी स्त्री को असंख्य प्रश्नों से संघर्ष करना है । सदियों से चले आ रहे मौन को शब्द और अर्थ देना है तथा स्त्री के पक्ष में विमर्श को सुदृढ़ बनाना है। इसे स्त्री की चेतना को अनुकूलित करने वाले तथाकथित नैतिक सामाजिक मूल्यों तथा वितृक व्यवस्थाओं को तोड़ना है।

समकालीन साहित्य में स्त्री विमर्श एवं दलित विमर्श ये दो पहलू विशेष रूप से उभर कर आए हैं। प्रस्तुत अध्ययन में एक निश्चित सीमा में वर्णित नारी चरित्रों एवं नारी स्थितियों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, क्योंकि महिला उपन्यास कारों ने अपनी रचनाओं में स्त्री विमर्श को गहन संवदेनात्मक दृष्टि तो प्रदान की ही है साथ ही इनके लेखन में नारी विमर्श को नवीन दृष्टि एवं व्यापक आयाम भी प्रदान किए गये हैं। अतः इन की उपन्यासों में स्त्री विमर्श के विश्लेषण एवं मूल्यांकन का महत्वपूर्ण स्थान है। स्त्री विमर्श को रेखांकित करने में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध भले ही विराम ले ले, किन्तु महिला उपन्यास लेखन में स्त्री विमर्श अनवरत एवं अगाध गति से चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा । मेरा यह शोध प्रबन्ध इसी दिशा में नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास है।

: संदर्भिका :

परिशिष्ट – क : आलोच्य उपन्यासों की सूची

1. अकेला पलाश : मेहरुन्निसा परवेज : वाणी प्रकाशन : दिल्ली : (1980)
2. अनारो : मंजुल भगत, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1978
3. अपनी- अपनी यात्रा : कुसुम अंसल, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1981
4. अनित्य : मृदुला गर्ग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1980
5. अमलतास : शशि प्रभा शास्त्री
6. आपका बंटी : मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1971
7. आँखों की दहलीज : मेहरुन्नसा परवेज, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1969
8. उसके हिस्से की धूप : मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1977
9. उसतक : कुसुम अंसल, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1979
10. उसका घर : मेहरुन्निसा परवेज, 1972
11. उसकी पंचवटी : कुसुम अंसल, हिन्दी बुक सेन्टर, दिल्ली, 1976
12. एक इंच मुस्कान : मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1978
13. कठगुलाब : मृदुला गर्ग,
14. क्योंकि : शशि प्रभा शास्त्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1980
15. कोरजा : मेहरुन्निसा परवेज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1977
16. कोहरे : दीप्ति खण्डेलवाल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1977
17. कर्क रेखा : शशि प्रभा शास्त्री, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983
18. चित्तकोबरा : मृदुला गर्ग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1975
19. तत्-सम : राजी सेठ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983
20. दहकन के पार : निरूपमा सेवती, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1982
21. नावें : शशिप्रभा शास्त्री, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1978

22. डार से बिछुड़ी : कृष्णा सोबती, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1958

23. पटरंग पुराण : मृणाल पाण्डेय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1983

24. परछाइयों के पीछे : शशि प्रभा शास्त्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1979

25. पतझड़ की आवाजें : निरूपमा सेवती, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1979

26. पचपन खंभे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1961

27. पाषाण युग : मालती जोशी, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1971

28. प्रतिध्वनियाँ : दीप्ति खण्डेलवाल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1978

29. प्रिया : दीप्ति खण्डेलवाल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली,

30. टुकड़ों में बँटा इन्द्रधनुष : प्रभा सक्सेना, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1980

31. महाभोज : मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1970

32. मैं और मैं : मृदुला गर्ग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1984

33. मित्रो मरजानी : कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967

34. यारों के यार : कृष्णा सोबती , राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982

35. रेत की मछली: कान्ता भारती, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976

36. रुकोगी नहीं राधिका : उषा प्रियंवदा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1967

37. वंशज : मृदुला गर्ग, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1976

38. विरुद्ध : मृणाल पाण्डेय, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1977

39. स्वामी : मन्नू भण्डारी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,1982

40. सीढ़ियाँ : शशि प्रभा शास्त्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1976

41. समर्पण का सुख: मालती जोशी, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1979

42. सूरज मुखी अँधेरे के : कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली. 1972

परिशिष्ट : ख - सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आजादी के बाद का हिन्दी उपन्यास : डा0 पुरूषोत्तम ओसापा
2. आज का हिन्दी उपन्यास : इन्द्र नाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, द्रिल्ली, 1966
3. आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना एवं दृष्टि - डा0 रामदरश मिश्र, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली,
4. आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास : डा0 पारूकान्त देसाई, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, 1994
5. आधुनिक उपन्यास : विविध आयाम: डा0 विवेकी राय, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद
6. आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास: डा0 अतुलवीर अरोड़ा पब्लिकेशन ब्यूरो, चण्डीगढ़, 1974
7. आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास : इन्द्रनाथ मदान, 1981
8. आधुनिक हिंदी उपन्यास एवं मानवीय अर्थवत्ता : नवल किशोर, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1977
9. आधुनिक हिन्दी उपन्यास : नरेन्द्र मोहन, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, 1975
10. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास: डा0 बच्चन, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978
11. आधुनिक हिन्दी उपन्यास: रामजी मिश्र एवं डा0 भदौरिया
12. आधुनिक उपन्यास उद्भव और विकास : डा0 बेचन, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1971
13. उपन्यास एवं लोक जीवन : राल्फ फॉक्स - अनुवाद नरोत्तम नागर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1969
14. उपन्यास का यथार्थ बोध एवं रचनात्मक भाषा : डा0 परमानंद श्रीवास्तव नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1976
15. उपन्यास स्थिति और गति : चन्द्रकान्त वांडिवडेकर, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1977

16. उपन्यास समीक्षा के नए प्रतिमान: डा0 दंगल झाल्टे, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 1987
17. औरत होने की सजा : अरविन्द जैन, विकास पेपर बैक्स, दिल्ली,
18. औरत के हक में : तस्लीमा नसरीन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली,
19. औरत अस्तित्व और अस्मिता : अरविन्द जैन, सारांश प्रकाशन, दिल्ली,
20. कथाकार मन्नू भण्डारी : अनीता कपूर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1987
21. दुर्ग द्वारा पर दस्तक : कात्यायनी, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 1997
22. "नारी : अभिव्यक्ति और विवेक" : डा0 पुष्पावती खेतान, आर्य बुक डिपो, दिल्ली
23. नारी प्रश्न : सरला माहेश्वरी : राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
24. नारी शोषण आइने एवं आयाम : आशारानी व्होरा
25. नारीवादी विमर्श : राकेश कुमार, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, 2001
26. परिधि पर स्त्री: मृणाल पाण्डेय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली,
27. प्रेम चन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि: डा0 सत्यपाल चुघ, इकाई प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968
28. भारतीय सामाजिक समस्याएं: एम0एल0 गुप्ता, साहित्य भवन, आगरा
29. भारतीय महिलाओं का समाज शास्त्र : डा0 एम0 एम0 लवानिया, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली,
30. भारतीय समाज में नारी : नीरा देसाई, मेकमिलन प्रकाशन, दिल्ली.
31. भारतीय नारी : अस्मिता की पहचान, डा0 उमा शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994
32. महिला कथाकारों की रचनाओं में प्रेम का स्वरूप - विकास : सरित कुमार, राधाकृष्णा प्रकाशन, दिल्ली, 1983
33. महिला उपन्यास कारों की रचनाओं में वैचारिकता : डा0 शशि जैकब, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1989
34. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक संदर्भ: डा0 शील प्रभा

वर्मा, विद्या विहार प्रकाशन, कानपुर, 1987

35. व्यक्ति चेतना एवं स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : पुरूषोत्तम दुबे, अनुपमा प्रकाशन, बम्बई, 1973

36. स्त्रीत्व का मानचित्र : अनामिका, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली,

37. स्त्री का समय : क्षमा शर्मा

38. समकालीन भारतीय कविता और स्त्री : के0 सच्चिदानन्द

39. सामाजिक उपन्यास और नारी मनोविज्ञान : शंकर प्रसाद, अनुपम प्रकाशन, पटना 1978

40. समकालीन हिन्दी साहित्य : वेद प्रकाश शर्मा, 'अमिताभ' , जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1973

41. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा0 पारूकान्त देसाई, सूर्य भारती प्रकाशन, दिल्ली,

42. साठोत्तरी उपन्यासों में नारी के विविध रूप : डा0 विमला शर्मा

43. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : डा0 कान्ति वर्मा, रामचन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1966

44. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव मूल्य एवं उपलब्धियाँ : डा0 भगीरथ बडोले, 1953

45. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य : डा0 सीताराम शर्मा, युगबोध प्रकाशन, कलकत्ता, 1964

46. स्वातंत्र्योत्तर कथा लेखिकाएं : उर्मिला गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1967

47. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का विकास : डा0 सूबेदार राय

48. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की समाज शास्त्रीय पृष्ठभूमि : डा0 स्वर्णलता विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1975

49. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास एवं मूल्य संक्रमण : हेमेन्द्र कुमार पानेरी संघी प्रकाशन, जयपुर उदयपुर, 1974

50. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

51. हिन्दी लघु उपन्यास : डा0 घनश्याम मधुप, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1971

52. हिन्दी उपन्यास : सुषमा प्रियदर्शिनी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1972

53. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ : डा0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1973

54. हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास : डा0 धनराज मानधाने, ग्रन्थम प्रकाशन कानपुर 1971

55. हिन्दी उपन्यासों में रूढ़िमुक्त नारी : डा0 राजरानी शर्मा, साहित्य मण्डल, नई दिल्ली.

56. हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नारी : चरित्र : डा0 राम विनोद सिंह, शोध साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद 1973

57. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ : डा0 शशि भूषण सिंहल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 1970

58. हिन्दी उपन्यास एक अर्न्तयात्रा : रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

59. हिन्दी उपन्यास उद्‌भव और विकास: डा0 सुरेश सिन्हा, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1965

60. हिन्दी उपन्यास समकालीन विमर्श : डा0 सत्यदेव त्रिपाठी, अमन प्रकाशन कानपुर, 2000

61. हिन्दी उपन्यास समाज एवं व्यक्ति का द्वन्द्व : डा0 मंजुला गुप्ता, सूर्य प्रकाशन दिल्ली, 1986

62. हिन्दी उपन्यास के पद चिन्ह : डा0 मनमोहन सहगल, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, 1973

63. हिन्दी उपन्यास पहचान एवं परख : इन्द्र नाथ मदान, लिपि प्रकाशन दिल्ली, 1973

64. हिन्दी उपन्यास परंपरा और प्रयोग: डा0 सुभद्रा, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, 1974

65. हिन्दी कथा साहित्य के विकास में महिलाओं का योगदान : डा0 उर्मिला गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1966

66. हिन्दी उपन्यास : सुषमा धवन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1961

67. हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण : डा0 महेन्द्र चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1962

68. हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना : डा0 सुरेश सिन्हा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1964
69. हिन्दी उपन्यास सातवां दशक : डा0 जय श्री बरहाटे, संचयन प्रकाशन, कानपुर, 1988
70. हिन्दी उपन्यास : आधुनिक विचारधाराएं : सुमित्रा त्यागी, 1978
71. हिन्दी उपन्यास का उद्‌भव और विकास : प्रताप नारायण टण्डन, कल्पकार प्रकाशन, लखनऊ , 1974
72. हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक विकास : डा0 कु0 शैलबाला, सत्यसदन प्रकाशन, बाराबंकी, 1973
73. हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग : मंजुलता सिंह, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली,
74. हिन्दी उपन्यास : रचनाविधान और युगबोध : श्रीमती बसंती पन्त, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1973
75. हिन्दी उपन्यास प्रयोग के चरण : राजकमल बोरा, नमिता प्रकाशन, औरंगाबाद (महाराष्ट्र) 1972
76. हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन : डा0 रमेश तिवारी, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद , 1972
77. हिन्दी उपन्यास का इतिहास : गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002
78. हिन्दी की महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना : डा0 उषा यादव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1999
79. हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ : डा0 नलिन विलोचन शर्मा, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1958
80. हिन्दी उपन्यासों में नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण : विमल सहस्त्रबुद्धे, पुस्तक संस्थान, कानपुर, 1974
81. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला : डा0 रोहिणी अग्रवाल, दिनमान प्रकाशन, दिल्ली.
82. हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग : अरविन्द गुर्टू रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, 1966

परिशिष्ट – ग : हिन्दी कोश

1. भारतीय हिन्दी साहित्य कोश : डा0 नरेन्द्र , नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
2. हिन्दी साहित्य कोश : डा0 धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
3. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर : रामचन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
4. उपन्यास समालोचना संदर्भ : डा0 राम शेभित सिंह, जानकी प्रकाशन पटना, 1979
5. हिन्दी साहित्याब्द कोश : देवेन्द्र नाथ शर्मा/गोपाल राय , 1968
6. हिन्दी साहित्याब्द कोश : देवेन्द्र नाथ शर्मा / गोपाल राय, 1969
7. हिन्दी साहित्याब्द कोश : देवेन्द्र नाथ शर्मा/ गोपालराय, 1970
8. हिन्दी उपन्यास कोश : सूर्यकान्त गुप्ता, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, 1975

परिशिष्ट - घ : पत्र - पत्रिकाएँ

1. आलोचना : राजकमल प्रकाशन लिमिटेड , दिल्ली
1. आजकल : दिल्ली
2. सारिका : दिल्ली
3. धर्मयुग : टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन, बम्बई
4. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : दिल्ली
5. माध्यम : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
6. कसौटी : रेनबोपब्लिशर्स लिमिटेड
7. अकार : अकार प्रकाशन, सिविल लाइन्स, कानपुर
8. हंस : अक्षर प्रकाशन प्रा0 लि0 नई दिल्ली
9. दस्तावेज : जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस, बाई का बाग, इलाहाबाद
10. संचेतना : दिल्ली
11. मध्यान्तर
12. मनोरमा : मुटठीगंज, इलाहाबाद
13. संधान : इलाहाबाद
14. समीक्षा : सम्पादक गोपाल राय, पटना
15. समकालीन भारतीय साहित्य : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
16. राष्ट्रीय सहारा, समाचार पत्र : लखनऊ
17. कथादेश : सहायता प्रकाशन प्रा0 लि0 नई दिल्ली, अगस्त 2000
18. कथासमवेत : सिविल लाइन्स, सुल्तानपुर
19. उद्भावना : राजनगर, गाजियाबाद